प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,
काशी।

卐

मुद्रक—द० मा० सप्रे
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबर, बनारस।

समर्पण

हिन्दी भाषा-भाषियों के गौरव, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्राण

श्री बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

मैं प्रोफेसर लालजीराम शुक्ल की "बाल शिक्षण" नामक पुस्तक को पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ। हिन्दी-साहित्य का भंडार बड़ी तेजी से भरा जा रहा है और प्रोफेसर शुक्ल बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में काम करनेवाले अग्रगण्य विद्वानों में से एक हैं। पुस्तक में बालकों की अनेक प्रकार की समस्याओं पर विचार किया गया है। पुस्तक की शैली रोचक और उसकी भाषा सुबोध है। पुस्तक में माता-पिता के प्रतिदिन के अनुभव में आनेवाले अनेक उदाहरण दिये गये हैं। मेरा विश्वास है कि इन सब गुणों के कारण यह पुस्तक वर्तमान हिन्दी-साहित्य की कीमती निधि सिद्ध होगी।

बालकों को समझना और उनकी समस्याओं को हल करना एक ऐसी कला है जिसके सीखने के लिये पर्याप्त समय और ध्यान की आवश्यकता है। पर हम भारतवर्ष में इन समस्याओं को समझने के लिये उतना समय और ध्यान नहीं दे रहे हैं जितना कि आवश्यक है। आज अनुशासन के पुराने ढंग में, जो बालक के मानसिक विकास को सहायता न देकर उसे रोकता है, परिवर्तन करने की आवश्यकता है। बालक के व्यक्तित्व को समझना, उसके विकास के नियमों को जानना उसकी उचित शिक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक है। बालक की शिक्षा का ध्येय उसका मानसिक विकास करना है, न कि उसकी उन्नति में बाधा डालना।

अब आधुनिक विज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। भारतवर्ष ने पुराने समय में मनोविज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की थी। पर तिसपर भी आधुनिक मनोविज्ञान की जान-

कारी बढ़ाना लाभदायक ही होगा। मेरा विश्वास है कि जो सेवा आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य की उन्नति करने में कर रहा है उसकी मौलिकता भारतवर्ष के विद्वान अवश्य मानेंगे। प्रत्येक दिन आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में नये प्रयोग हो रहे हैं। इनकी जानकारी बढ़ाना हमारे देश को उन्नतिशील बनाने के लिये नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञान उन्नतिशील है। प्रति-दिन नई खोजें होती जा रही हैं। विज्ञान द्वारा जानी गई कोई भी बात अन्तिम सत्य नहीं मानी जा सकती, पर अब तक जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसे भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जो प्रयोग मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे हैं उन्हें जानना आवश्यक है। विद्वान लोग जो वर्षों के प्रयोग तथा अभ्यास से पाते हैं वह आदर के योग्य है। योग्य माता-पिता को चाहिये कि वे आधुनिक मनोविज्ञान के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके अपने निजी अनुभव से तुलना करते रहें।

मैं बाल मनोविज्ञान का विशेषज्ञ नहीं हूँ, किन्तु बालकों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं में रुचि अवश्य रखता हूँ। मैं श्री लालजीराम शुक्ल के बालकों की समस्याओं पर नया प्रकाश डालने के इस प्रयास का अभिवादन करता हूँ और आशा करता हूँ कि शिक्षित माता-पिता इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

काशी विश्वविद्यालय,
१६-५-४७

यू० ए० असरानी
एम० एस० सी०

दो शब्द

बालकों की समस्याओं के विषय में अब हमारे देश की शिक्षित जनता की रुचि बढ़ रही है। यह हमारे सौभाग्य की बात है। हमारे देश की भाषाओं में बाल-मनोविज्ञान की पुस्तकों का कितना अभाव है इसका अनुभव प्रत्येक शिक्षित माता-पिता को अब होने लगा है। जहाँ अँग्रेजी में हजारों ग्रन्थ बालकों की सामान्य समस्याओं पर लिखे जा चुके हैं वहाँ हमारे देश में दो-चार पुस्तकों की भी प्राप्ति नहीं होती। यह पुस्तक मेरे परम मित्र प्रोफेसर श्री यू० ए० असरानी महाशय के निर्देशानुसार लिखी गई है। उन्होंने मुझसे किशोर बालकों की कामवासना सम्बन्धी बातों पर प्रश्न किया और एक उपयुक्त पुस्तक माँगी। मैंने ऐसी पुस्तक तैयार करने का निश्चय भी किया। पर समयाभाव के कारण यह नहीं कर सका। किन्तु बालकों की अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तक लिखने में मुझे उतनी अड़चन न हुई। मैंने इस पुस्तक में दो प्रकरण किशोर बालकों की कामवासना-सम्बन्धी बातों के विषय में भी रखे हैं। संभव है कि इससे कुछ अन्य पाठकों का लाभ हो।

नवीन मनोविज्ञान की खोजें बालक के कामवासना-सम्बन्धी समस्याओं तथा अन्य प्रकार की समस्याओं के विषय में बड़ी महत्व की सिद्ध हुई हैं। अतएव इन्हें ध्यान में रखकर ही यह पुस्तक लिखी गई

है। इस पुस्तक में कई जगह पर डाक्टर होमरलेन के प्रयोग का उल्लेख किया गया है। यह बड़े ही महत्त्व का प्रयोग है। उनके अनुयायी ए० एस० नील महाशय जटिल बालकों के सुधार के सम्बन्ध में भी उसी तरह प्रयोग कर रहे हैं। हमारे देशवासियों को इन महाशय के विचारों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जिस प्रकार मेरे अन्य मनोविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों को शिक्षित समुदाय ने अपनाया है उसी प्रकार मैं आशा करता हूँ कि वे महानुभाव इस तुच्छ प्रयास को भी अपनावेंगे।

अपने गुरु, रायबहादुर पं० लज्जाशंकर झा और पं० रामनारायण मिश्र के प्रति, जिन्होंने मुझे बाल-मनोविज्ञान पर पुस्तकें लिखने का प्रोत्साहन दिया, मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह प्रयास भी उन्हें प्रसन्न करेगा।

मैं श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करता हूँ जिन्होंने मातृ-भाषा हिन्दी के लिये अपना जीवन दे दिया है और हम लोगों के समक्ष मातृभूमि और मातृ-भाषा की सेवा का एक सर्वोत्तम आदर्श रख दिया।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
१४-१-१९४७

लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

पहला प्रकरण

बालक के प्रति नई दृष्टि

नई दृष्टि की आवश्यकता

आधुनिक काल के सभी विद्वान् इस निष्कर्ष पर आ गये हैं कि जब तक बालक के लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा में मौलिक परिवर्तन नहीं होता, तब तक संसार में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। जिन बालकों की शिक्षा ठीक से नहीं होती, उनके भीतरी और बाहरी मन में संघर्ष रहता है। इस संघर्ष के कारण उनका मन दुःखी रहता है। ऐसा बालक आगे चलकर दुःखी समाज का निर्माण करता है। समाज व्यक्तियों का बना हुआ है। जैसा समाज का साधारण व्यक्ति होता है, वैसा ही सम्पूर्ण समाज होता है। यदि समाज के साधारण व्यक्ति का मन दुःखी हो तो समाज भी दुःखी होता है। यह दुःख बाह्य परिस्थितियों का निर्माण कर लेता है। मनुष्य के मन का आन्तरिक संघर्ष बाह्य संघर्ष में प्रकाशित हो जाता है। अतएव यदि मानव समाज को बार-बार होनेवाले संहारव्यापी युद्धों से बचाना है तो यह आवश्यक है कि हम बालक के मन को संघर्ष, भय और दुखी होने से बचायें।

प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपनी संतान को सुखी और योग्य बनाना चाहता है। परन्तु उसके इस प्रकार के प्रयत्न होते हुए भी बालक प्रायः दुःखी और अयोग्य हो जाते हैं। यदि अशिक्षित माता-पिता की संतान निकम्मी हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, पर बहुत से पढ़े-लिखे माता-पिताओं की संतान भी निकम्मी हो जाती है।

इसका कारण क्या है ? जब हम इसका कारण खोजते हैं तो उसे बालक के प्रति अभिभावक की दूषित दृष्टि पाते हैं। जब व्यक्ति की दृष्टि में दोष होता है तो वह संसार के पदार्थों के रूप को नहीं पहचान पाता है। वह कुछ का कुछ देखता है। बालक के प्रति दृष्टिकोण दूषित रहने के कारण ही हम उन्हें शिक्षा से योग्य, सदाचारी और बुद्धिमान न बनाकर निकम्मे, दुराचारी और मूर्ख बना डालते हैं। जो माता-पिता अपने आपको ... शिक्षित बनाने के योग्य समझते हैं, प्रायः उन्हीं में बालकों को ... बनाने की योग्यता नहीं रहती है। जो पिता बालकों को सुधारने में जितने उतावले रहते हैं, वे उतने ही उन्हें भला बनाने और जीवन सफल बनाने के अयोग्य रहते हैं। बालकों की ... शिक्षा-दीक्षा के विषय में उतनी भूल माताएँ नहीं करतीं, जितनी पिता करते हैं। माताओं को बालकों के सुधारने की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी पिता को रहती है। यदि यह चिन्ता समुचित ... इससे बालक का कल्याण होता है, परन्तु यदि यह चिन्ता ... के बाहर हो गई तो इससे बालक का कल्याण न होकर उसे ... हानि ही होती है।

अभिभावक की दूषित दृष्टि

बालक के विषय में अधिक चिन्ता करनेवाले पिता की बालक के प्रति दूषित दृष्टि होती है। बालक के विषय में अधिक ... करनेवाला पिता और उनको बात-बात में डाँट-डपट ... पिता स्वयं अपने आन्तरिक मन में दुःखी रहता है। ऐसे ... अहंकारी होते हैं। उनमें वह चित्त की सरलता नहीं पाई ... ...रण ग्राम्य-भाव के व्यक्ति में पाई जाती है। जिस पिता को ... ...पना मान का अधिक अभिमान है वह अपने ... ...हानि नहीं कर सकता। अभिमानी व्यक्ति ...

क प्रकार की जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। इन ग्रन्थियों में
व ग्रन्थि आत्म-हीनता की ग्रन्थि होती है। इस ग्रन्थि का कारण
पन में माता-पिता अथवा अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा त्रास प्राप्त
होता है। जो बालक जितना ही मारा पीटा जाता है अथवा
ना जीवन अनादर और त्रास में व्यतीत करता है, वह आगे
कर उतना ही अभिमानी और दूसरों के प्रति कठोर होता है। वह
ने बच्चों को भी उसी प्रकार त्रास देता है, जिस प्रकार उसने त्रास
। इसे ही वह अपना कर्तव्य समझने लगता है। इस प्रकार वंश-
रागत पिता से पुत्र में आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि चली आती
जो किसी एक बालक के मन में प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ जाने से
त्न हो जाती है। बालक के प्रति अपनी मानसिक ग्रन्थियों के रहते
उचित व्यवहार करना संभव नहीं। जब तक कोई व्यक्ति अपनी
नसिक ग्रन्थियों से मुक्त नहीं होता, तब तक उसकी दृष्टि सभी बातों
दूषित रहती है।

कितने ही माता-पिता अथवा शिक्षक अपनी असफलता को अपने
लकों के ऊपर आरोपित कर देते हैं। जो पिता अथवा शिक्षक जितने
अधिक अपने आपमें अपनी असफलता के कारण आत्म-भर्त्सना की
नुभूति करते रहते हैं, वे उतने ही अधिक अपने बालकों में असफलता
लक्षण देखते हैं। वे पहले से ही धारणा बना लेते हैं कि उनका
लक किसी विशेष प्रकार की कमजोरी लेकर आया है और उसे इस
मजोरी से मुक्त करना उनका कर्तव्य है। वास्तव में इस प्रकार बालक
कमजोरी देखना अपनी ही कमजोरी का आरोपण मात्र है। इस
ंग में लेखक की जानकारी व अनुभव में आनेवाली दो एक बालकों
जीवन गाथाएँ उल्लेखनीय हैं—

लेखक के पास एक उद्दण्ड बालक के सुधार के विषय में सलाह
के लिये एक व्यक्ति ने लिखा। यह बालक १५ वर्ष का था; परन्तु

यह एफ. ए. के प्रथम वर्ष में पढ़ रहा था। इस बालक ने इंट्रें की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। इसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। पिता की शिकायत थी कि बालक कुछ दिनों से आवारा हो रहा है और यह डाँटने-डपटने से भी नहीं सुधरता। पिता इस बालक को पूर्ण करना भी सिखाना चाहता था, पर वह इन के प्रति उदासीन था। ने बालक की उन सभी हरकतों को जानने की चेष्टा की जिनसे असंतुष्ट था, पर कोई भी बात बालक के आचरण में ऐसी न मिल पिता को बालक के प्रति विशेष असंतोष का उचित कारण समझी सके। लेखक को सन्देह हुआ कि दोष बालक में न होकर कहीं की दृष्टि में ही तो न हो। इस विचार को लेकर लेखक ने पिता जीवनचर्या जानने की चेष्टा की।

इस खोज के परिणामस्वरूप पता चला कि बालक के पिता एक बड़े अभिमानी व्यक्ति हैं। उनकी किसी व्यक्ति से देर तक नहीं पटती। विशेषकर वे अपने आफिसरों से लड़-भिड़ जाते हैं। इसी कारण उन्हें कई नौकरियाँ छोड़नी पड़ीं। हाल ही में उन्होंने एक अच्छी नौकरी आफिसर से न पटने के कारण छोड़ दी है। इस बेकारी की अवस्था में अपना सारा समय बालक की देखरेख और शिक्षा में ही देने लगे हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक दिन प्रति दिन सुधरने के बदले हठी और निकम्मा होता जा रहा है। उसकी परेशानी अब दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

इस स्थिति का पता चलने पर लेखक ने पिता को यही सलाह कि उस बालक को सुधारने का एकमात्र उपाय उसे बोर्डिंग में रख बालकों के आचरण का जितना भला प्रभाव ... है, उतना भला प्रभाव पिता के उपदे... के प्रति उतावले पिता का प्रभाव तो उलटा ... के सुधार के प्रति उतावला पिता भला ...

प्रकार की सोच को मानने को कब तैयार होगा। जो पिता बालक के सुधारने के लिये वास्तव में जितना ही अयोग्य होता है, वह उसे सुधारने के लिये अपने आपको उतना ही योग्य समझता है। ऐसे पिता अथवा शिक्षक कहा करते हैं कि माता के लाड़ के कारण बालक बिगड़ गया है, उसे ठीक से पीट कर ही सुधारा जा सकता है। अतएव वे अपने निश्चित सिद्धान्त के अनुसार बालक को ठोक पीट कर ठीक करने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक प्रायः बुद्धू, उत्साहहीन और निकम्मा हो जाता है, अथवा वह घर से ही भाग जाता है। जो बालक जितना ही अधिक प्रतिभावान होता है, वह पिता के डाँटने-डपटने को उतना ही बुरा मानता है और अपने घर को छोड़कर भागने की चेष्टा करने लगता है। हाल ही में लेखक के एक मित्र का प्रतिभाशाली बालक इसी कारण घर से भाग कर बम्बई पहुँचा और उसने वहाँ एक नौकरी कर ली। पिता उसे उच्च से उच्च शिक्षा देना चाहते थे। पर उनके सभी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी वह बालक पढ़-लिख न सका। जितना ही अधिक पिता ने बालक से पढ़ाई-लिखाई का आग्रह किया, बालक उतना ही अधिक पढ़ाई-लिखाई के प्रति उदासीन हो गया। अंत में वह घर से भाग ही निकला।

एक दूसरे पिता ने अपने पुत्र को किस प्रकार गणित में निकम्मा बना दिया, यह उल्लेखनीय है। ये व्यक्ति स्वयं अध्यापन का कार्य करते हैं। उनकी अपने पुत्र के प्रति बचपन से ही धारणा हो गई थी कि उनका पुत्र बुद्धि में सामान्य बालकों से कम है। अतएव उसे शिक्षित बनाने की उन्हें बड़ी चिन्ता हो गई थी। इस बच्चे को लेखक, उसकी माँ और उसके पिता—तीन व्यक्ति विभिन्न विषय पढ़ाते थे। बालक की माँ उसे मातृभाषा, चित्रकारी आदि पढ़ाती थी, लेखक उसे अँग्रेजी, भूगोल, इतिहास आदि विषय पढ़ाता था और उसके पिता उसे गणित पढ़ाते थे। वे लड़के से गणित के प्रश्न प्रति दिन डेढ़-दो घण्टे तक

वह एफ. ए. के प्रथम वर्ष में पढ़ रहा था। इस बालक ने हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। इसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। पिता की शिकायत थी कि बालक कुछ दिनों से आवारा हो रहा है और वह डाँटने-डपटने से भी नहीं सुधरता। पिता इस बालक को गृहकार्य करना भी सिखाना चाहता था, पर वह इनके प्रति उदासीन था। लेखक ने बालक की उन सभी हरकतों को जानने की चेष्टा की जिनसे पिता असंतुष्ट था, पर कोई भी बात बालक के आचरण में ऐसी न मिली जो पिता को बालक के प्रति विशेष असंतोष का उचित कारण समझी जा सके। लेखक को सन्देह हुआ कि दोष बालक में न होकर कहीं पिता की दृष्टि में ही तो न हो। इस विचार को लेकर लेखक ने पिता की जीवनचर्या जानने की चेष्टा की।

इस खोज के परिणामस्वरूप पता चला कि बालक के पिता स्वयं एक बड़े अभिमानी व्यक्ति हैं। उनकी किसी व्यक्ति से देर तक नहीं पटती। विशेषकर वे अपने अफिसरों से लड़-भिड़ जाते हैं। इसके कारण उन्हें कई नौकरियाँ छोड़नी पड़ीं। हाल ही में उन्होंने एक अच्छी नौकरी आफिसर से न पटने के कारण छोड़ दी है। अब वे इस वेकारी की अवस्था में अपना सारा समय बालक की देखरेख और शिक्षा में ही देने लगे हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक दिन-प्रति-दिन सुधरने के बदले हठी और निकम्मा होता जा रहा है। उसकी परेशानी अब दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

इस स्थिति का पता चलने पर लेखक ने पिता को यही सलाह दी कि उक्त बालक को सुधारने का एकमात्र उपाय उसे बोर्डिंग में रखना है। अपने समकक्ष बालकों के आचरण का जितना भला प्रभाव किसी बालक के जीवन पर पड़ता है, उतना भला प्रभाव पिता के उपदेश का नहीं पड़ता। सुधार के प्रति उतावले पिता का प्रभाव तो उलटा ही है। पर बालक के सुधार के प्रति उतावला पिता भला इस

प्रकार की खेल को मानने को कब तैयार होगा। जो पिता बालक को सुधारने के लिये वास्तव में जितना ही अयोग्य होता है, वह उसे सुधारने के लिये अपने आपको उतना ही योग्य समझता है। ऐसे पिता अथवा शिक्षक कहा करते हैं कि माता के लाड़ के कारण बालक बिगड़ गया है, उसे ठीक से पीट कर ही सुधारा जा सकता है। अतएव वे अपने निश्चित सिद्धान्त के अनुसार बालक को ठोक पीट कर ठीक करने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक प्रायः बुद्ध, उत्साहहीन और निकम्मा हो जाता है, अथवा वह घर से ही भाग जाता है। जो बालक जितना ही अधिक प्रतिभावान होता है, वह पिता के डाँटने-डपटने को उतना ही बुरा मानता है और अपने घर को छोड़कर भागने की चेष्टा करने लगता है। हाल ही में लेखक के एक मित्र का प्रतिभाशाली बालक इसी कारण घर से भाग कर बम्बई पहुँचा और उसने वहाँ एक नौकरी कर ली। पिता उसे उच्च से उच्च शिक्षा देना चाहते थे। पर उनके सभी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी वह बालक पढ़-लिख न सका। जितना ही अधिक पिता ने बालक से पढ़ाई-लिखाई का आग्रह किया, बालक उतना ही अधिक पढ़ाई-लिखाई के प्रति उदासीन हो गया। अंत में वह घर से भाग ही निकला।

एक दूसरे पिता ने अपने पुत्र को किस प्रकार गणित में निकम्मा बना दिया, यह उल्लेखनीय है। वे व्यक्ति स्वयं अध्यापन का कार्य करते हैं। उनकी अपने पुत्र के प्रति बचपन से ही धारणा हो गई थी कि उनका पुत्र बुद्धि में सामान्य बालकों से कम है। अतएव उसे शिक्षित बनाने की उन्हें बड़ी चिन्ता हो गई थी। इस बच्चे को लेखक, उसकी माँ और उसके पिता—तीन व्यक्ति विभिन्न विषय पढ़ाते थे। बालक की माँ उसे मातृभाषा, चित्रकारी आदि पढ़ाती थी, लेखक उसे अँग्रेजी, भूगोल, इतिहास आदि विषय पढ़ाता था और उसके पिता उसे गणित पढ़ाते थे। वे लड़के से गणित के प्रश्न प्रति दिन डेढ़-दो घण्टे तक

हल करवाते थे। बालक जब कभी गणित के प्रश्न हल करने में भू
करता तो वे उसे पीटना प्रारम्भ कर देते थे। बालक के गणित में बा
बार भूल करने से उनकी धारणा हो गई कि यह बालक वास्तव में मन्द
बुद्धि का है। लेखक ने उसे अपने विषयों में मन्द-बुद्धि का नहीं पाया
लेखक ने और उसकी माँ ने जिन विषयों को उस बालक को पढ़ाय
वे उसे रुचिकर बन गए और गणित का विषय घृणित विषय ब
गया। वह गणित के कारण ही कई बार सालाना परीक्षाओं में फे
हुआ। हाईस्कूल पास करने पर वह इसे छोड़ देना चाहता था।
पिता ने उसे गणित लेने के लिए ही बाध्य किया। इसके परिणा
स्वरूप वह इन्टर से आगे न बढ़ सका। उसे इन्टर में फेल होने
पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। फिर उसने चित्रकारी, हाथ के काम आदि सी
और आज यही बालक अपनी चित्रकारी, हाथ के काम और भाषा
प्रवीणता के कारण एक कुशल शिक्षक बन गया है। इसका जीव
पिता के जीवन से भी अधिक सफल रहा।

यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त बालक के पिता को अपनी यु
वस्था में बड़े बड़े मनसूबे थे। पर वे कई बार एम० ए० और ए
एल० बी० की परीक्षाओं में फेल हुए। अतएव उनकी आकांक्षाएँ मन
मन ही में रह गईं। यहाँ यह स्पष्ट है कि पिता अपनी असफलता
ही अपने पुत्र पर आरोपित कर रहा था। असफल पिता अथवा अ
फल शिक्षक का आन्तरिक मन पुत्र अथवा शिक्षक की सफलता
ईर्ष्यालु होता है। अतएव वह बालक को सहायता देने के बद
वास्तव में उसकी सफलता में विघ्न डालता है। आधुनिक मनोविज्ञ
की खोजों से पता चला है कि व्यक्ति के बाहरी और भीतरी मन
कभी-कभी बड़ी विषमता रहती है। व्यक्ति अपने आन्तरिक मन
ही नहीं जानता। ऊपर से जब कोई व्यक्ति किसी बात के लिए
...रहे, तो हमें समझना चाहिए कि उसका आन्तरिक मन ठ

प्रतिकूल भावना रखता है और वह आनेवाले चेतन मन की इच्छा की विफलता के लिये कारण-मात्र खोज रहा है। यही कारण है कि अपने बालक की सफलता के विषय में अति चिन्ता करनेवाला व्यक्ति उसे असफल बना देता है।

जो बात पिता के विषय में सत्य है, वही बात शिक्षक के विषय में भी सत्य है। अपने जीवन में असफल रहनेवाला शिक्षक कभी भी योग्य शिष्य नहीं बना सकता। निराशावादी शिक्षक बालकों की खूबियों को नहीं देखता। वह उनके दोषों को ही देखता है। वह बालकों को सफलता के निर्देश न देकर अपने जाने-अनजाने असफलता के निर्देश ही देता रहता है। ऐसे शिक्षक के बालक चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करें, अपनी योग्यता को पर्याप्त-रूप से विकसित नहीं कर पाते। उनके मानसिक-विकास में उनके शिक्षक के आदेश ही अड़चन डालने लगते हैं। शिक्षा-संस्था के अधिकारियों को इस बात को विशेष-रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि वे जिस शिक्षक के हाथ में अपने बालकों को दे रहे हैं, वह जीवन में सफल व्यक्ति रहा है अथवा नहीं, वह निराशावादी तो नहीं है। यदि वह स्वयं जीवन में असफल रहा है तो वह अपने हाथ में आये बालकों में दोष ही देखेगा और वह उन्हें असफल बनाने में ही सहायक होगा।

इस प्रसंग में अन्ना फ्रायड का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है। एक परिवार में तीन बालक थे। इनमें से मँझला बालक शिक्षा में पिछड़ने लगा। इसे पिता की डाँट-फटकार भी पड़ती थी, पर उसमें कोई सुधार न होता था। वह घर में अपना सम्मान खो बैठा था। इसी बीच एक महिला इन तीनों बालकों की अध्यापिका नियुक्त की गई। इस अध्यापिका के हाथ में आते ही मँझले बालक में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। जो बालक सभी बालकों में पिछला था, वह अपने भाइयों से आगे बढ़ गया। वह साल में दोहरी कक्षाएँ पास

करने लगा। अब इस बालक की गमी लोगों में प्रशंसा होने लगी। यह घर का सम्मानित बालक बन गया। इसके कारण उक्त अध्यापिका की इज्जत भी परिवार में और आसपास के लोगों में बढ़ गई। पर इसी समय उक्त महिला और उस सफल बालक में अनेक प्रकार का झगड़ा उत्पन्न हो गया। यह महिला इस बालक के व्यवहार की शिकायत करने लगी और इसी बालक के कारण उसे उस घर की नौकरी छोड़ देनी पड़ी।

उक्त घटना का मनोवैज्ञानिक-अध्ययन करने से पता चला कि उस अध्यापिका का बचपन का जीवन उसी प्रकार व्यतीत हुआ था, जिस प्रकार उक्त मन्द-बुद्धि समझे जानेवाले बालक का हुआ था। वह भी अपने माता-पिता द्वारा निकम्मी समझी जाती थी। अतएव जब उसने अपनी जैसी ही स्थिति का बालक पाया तो उसका उक्त बालक के साथ आत्मसात् हो गया। वह उक्त बालक को सफल बना कर अपने आपको ही सफल बना रही थी। पर जब उस बालक की सफलता इतनी अधिक हो गई, जितनी स्वयं उसे प्राप्त नहीं हुई थी, तो उसका आन्तरिक मन उस बालक की सफलता का ईर्ष्यालु हो गया। पहिले वह महिला उक्त बालक को आत्मोन्नति के लिए सदिच्छा देती थी, पीछे वह उसकी बात-बात में आलोचना करने लगी। इससे बालक और महिला में वैमनस्य उत्पन्न हो गया और इसके कारण उक्त महिला को बालक के अध्यापन का कार्य छोड़ देना पड़ा।

इस घटना से यह स्पष्ट है कि असफल शिक्षक किसी भी सफल बालक की शिक्षा का काम ठीक से नहीं कर सकते हैं। जो व्यक्ति जैसा होता है, वह वैसे ही व्यक्ति से अपना आत्मसात् करता है। असफल व्यक्ति असफल से आत्मसात् करता है और सफल सफल से। आत्मसात् ही प्रेम का आधार होता है। जब दो व्यक्तियों में आत्मसात् न हो तो दोनों में द्वेष-भावना अथवा उदासीनता का भाव हो जाता

है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की सहायता न कर एक दूसरे की उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकाने लगते हैं। अतएव शिक्षक योग्य बालक की योग्यता को देख ही नहीं सकता। उसका आन्तरिक मन ही इसमें बाधा डालता है। यदि वह बालक में इतनी सफलता देखे जितनी उसे प्राप्त नहीं हुई तो इससे उसे हर्ष न होकर आन्तरिक विषाद ही होता है। इसे स्वयं शिक्षक भी नहीं जानता। अतएव ऐसे बालक के हित का चेतन मन में चिन्तन करते हुए भी उक्त प्रकार का शिक्षक बालक की उन्नति में बाधा डालता है। बालक की उन्नति के विषय में शिक्षक का अत्यधिक चिन्तित होना बालक की उन्नति में बाधक होता है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि जब तक हम अपने आपको भली प्रकार से नहीं जान लेते और जब तक हम अपनी जटिल मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक हम बालक के योग्य शिक्षक नहीं बन सकते। यदि हमारा मन अपराध और पाप की भावना से संतप्त है तो हम इन भावनाओं का आरोपण निर्दोष बालक के ऊपर ही करेंगे। प्रत्येक बालक में अनंत शक्तियाँ हैं। पर वही शिक्षक बालक की इन शक्तियों को आविर्भूत कर सकता है, जिसका मन सत्य दर्शन की योग्यता प्राप्त कर चुका है। बालक को प्रायः हम वैसा ही देखते हैं जैसे हम स्वयं हैं, अर्थात् जैसा हमारा आत्मा है। जिस मनुष्य का आत्मा पवित्र है, वह बालकों को भगवान के रूप में देखेगा और जिसका आत्मा अपवित्र है, वह उन्हें शैतान के रूप में देखेगा। जो माता पिता अथवा शिक्षक अपने बालकों को भगवान के रूप में देखने का अभ्यास करते हैं वे अपने जीवन को दैविक बनाते हैं और अपने बालकों में चमत्कारक शक्तियों का विकास होने में सहायता देते हैं। इसके प्रतिकूल जो शिक्षक व माता-पिता बालकों को शैतान के रूप में देखते हैं, वे स्वयं नरक की यातना भोगते रहते हैं और ऐसे लोगों के

हाथ में पड़कर अच्छा से अच्छा बालक भी दुराचारी, विलासी अथवा निकम्मा हो जाता है।

बालक के प्रति हमारी दृष्टि का प्रभाव

बालक के मानसिक विकास में उसके प्रति हमारी दृष्टि का विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस बालक को हम भला और योग्य समझते हैं उसे हम स्वभावतः प्रेम करने लगते हैं। इस प्रेम के परिणामस्वरूप बालक को हम से सदा सन्निर्देश मिलते हैं। ये सन्निर्देश बालक के जीवन में उत्तरोत्तर विकास करते जाते हैं। जिस बालक को हम भला नहीं समझते उसके प्रति हमारे विचार घृणा से भरे रहते हैं। इन विचारों के कारण उसको जो हम से निर्देश मिलते हैं उनसे बालक की मानसिक शक्तियाँ विकसित न होकर असंगठित और अवनत हो जाती हैं। घृणा के वातावरण में रहने से बालक में अनेक चरित्र के दुर्गुण अनायास आ जाते हैं।

हम ऊपरी तरह से चाहे जैसा बालक के साथ बर्ताव करें, हमारे उसके प्रति आन्तरिक विचारों का पता उसे चल ही जाता है। इस सम्बन्ध में छोटे बालकों को धोखा देना प्रौढ़ व्यक्तियों के धोखा देने की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। जो व्यक्ति किसी विशेष बालक को प्रेम की दृष्टि से नहीं देखता, अथवा उसके प्रति सद्भावना नहीं रखता, उसके प्रति बालक के मन में अज्ञात भय हो जाता है। इस भय के कारण वह उसके गुणों से भी लाभ नहीं उठाता।

अभी हाल की बात है। लेखक का एक छात्र उससे कुछ डरता था। जब कभी छात्रों में आपस में लेखक के विषय में बातचीत चलती और जब छात्र उसकी प्रशंसा करते तो उसके मन में इन बातों ... न सुनने की कुछ अज्ञात इच्छा उत्पन्न होती। उसे अपने हृदय में ... होती कि लेखक उससे अप्रसन्न है। वास्तव में बात ऐसी

ी थी। किसी कारणवश लेखक के मन में इस छात्र के विषय में दुर्भावनाएँ उत्पन्न हो गई थीं। इसके कारण न तो लेखक को ही उसके अच्छे काम अच्छे दिखाई देते थे और न उसमें लेखक के प्रति कोई आकर्षण का भाव था। इसके परिणामस्वरूप जो लाभ विद्यार्थी को लेखक के पढ़ाने से होना चाहिये था, नहीं हो रहा था। इस भावना के बदल जाने पर विद्यार्थी की प्रतिभा में विशेष प्रकार का परिवर्तन देखाई दिया।

राल्फ वाल्डो ट्राइन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि यदि हम किसी व्यक्ति से व्यवहार करते समय उसे देव रूप मानें तो वह देवता जैसा व्यवहार करेगा और यदि उसे हम शैतान मानकर व्यवहार करें तो उसमें से शैतान ही बोलेगा और वह हमारा अहित करेगा।

मनुष्य के जीवन का विकास उसकी इच्छाशक्ति पर उतना निर्भर नहीं करता जितना उसकी कल्पना पर निर्भर करता है। यदि किसी बालक की कल्पना कलुषित है अर्थात् वह दूसरों के विषय में शुभ-चिन्तन नहीं करता और अपने मन में उच्च होने के विचार नहीं लाता तो उसकी भले होने की इच्छा होकर भी वह भला नहीं होता। बालक को सदुपदेश देकर हम उसमें अपने आपको सुधारने की इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं, पर इस प्रकार की इच्छा तभी कारगर होती है जब कि उसके साथ बालक के मन में शुभ कल्पनायें भी आवें। बालक के मन में शुभ कल्पनाओं का आना न तो हमारे उपदेश पर निर्भर करता है और न स्वयं बालक की इच्छा पर। देखा गया है कि सभी प्रकार के सदुपदेश के होते हुए भी और बालक की स्वयं अपने आपको सुधारने की इच्छा रहने पर भी बालक के आचरण में सुधार नहीं होता। इतना ही नहीं कभी कभी बालक को दिये गए उपदेश का प्रभाव उसके चरित्र को और कमजोर बनाने में पड़ता है। उसकी अपने आपको भला

हाथ में पड़कर अच्छा से अच्छा बालक भी दुराचारी, विकारी अथवा निकम्मा हो जाता है।

बालक के प्रति हमारी दृष्टि का प्रभाव

बालक के मानसिक विकास में उसके प्रति हमारी दृष्टि का विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस बालक को हम भला और योग्य समझते हैं उसे हम स्वभावतः प्रेम करने लगते हैं। इस प्रेम के परिणामस्वरूप बालक को हम से सदा सन्निर्देश मिलते हैं। ये सन्निर्देश बालक के जीवन में उत्तरोत्तर विकास करते जाते हैं। जिस बालक को हम भला नहीं समझते उसके प्रति हमारे विचार घृणा से भरे रहते हैं। इन विचारों के कारण उसको जो हम से निर्देश मिलते हैं उनसे बालक की मानसिक शक्तियाँ विकसित न होकर असंगठित और अवनत हो जाती हैं। घृणा के वातावरण में रहने से बालक में अनेक चरित्र के दुर्गुण अनायास आ जाते हैं।

हम ऊपरी तरह से चाहे जैसा बालक के साथ बर्ताव करें, हमारे उसके प्रति आन्तरिक विचारों का पता उसे चल ही जाता है। इस सम्बन्ध में छोटे बालकों को धोखा देना प्रौढ़ व्यक्तियों के धोखा देने की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। जो व्यक्ति किसी विशेष बालक को प्रेम की दृष्टि से नहीं देखता, अथवा उसके प्रति सद्भावना नहीं रखता, उसके प्रति बालक के मन में अज्ञात भय हो जाता है। इस भय के कारण वह उसके गुणों से भी लाभ नहीं उठाता।

अभी हाल की बात है। लेखक का एक छात्र उससे कुछ डरता था। जब कभी छात्रों में आपस में लेखक के विषय में बातचीत चलती और जब छात्र उसकी प्रशंसा करते तो उसके मन में इन बातों को न सुनने की कुछ अज्ञात इच्छा उत्पन्न होती। उसे अपने हृदय में यह भावना होती कि लेखक उससे अप्रसन्न है। वास्तव में बात ऐसी

ही थी। किसी कारणवश लेखक के मन में इस छात्र के विषय में दुर्भावनाएँ उत्पन्न हो गई थीं। इसके कारण न तो लेखक को ही उसके अच्छे काम अच्छे दिखाई देते थे और न उसमें लेखक के प्रति कोई आकर्षण का भाव था। इसके परिणामस्वरूप जो लाभ विद्यार्थी को लेखक के पढ़ाने से होना चाहिये था, नहीं हो रहा था। इस भावना के बदल जाने पर विद्यार्थी की प्रतिभा में विशेष प्रकार का परिवर्तन दिखाई दिया।

राल्फ वाल्डो ट्राइन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि यदि हम किसी व्यक्ति से व्यवहार करते समय उसे देव रूप मानें तो वह देवता जैसा व्यवहार करेगा और यदि उसे हम शैतान मानकर व्यवहार करें तो उसमें से शैतान ही बोलेगा और वह हमारा अहित करेगा।

मनुष्य के जीवन का विकास उसकी इच्छाशक्ति पर उतना निर्भर नहीं करता जितना उसकी कल्पना पर निर्भर करता है। यदि किसी बालक की कल्पना कलुषित है अर्थात् वह दूसरों के विषय में शुभ-चिन्तन नहीं करता और अपने मन में उच्च होने के विचार नहीं लाता तो उसकी भले होने की इच्छा होकर भी वह भला नहीं होता। बालक को सदुपदेश देकर हम उसमें अपने आपको सुधारने की इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं, पर इस प्रकार की इच्छा तभी कारगर होती है जब कि उसके साथ बालक के मन में शुभ कल्पनायें भी आयें। बालक के मन में शुभ कल्पनाओं का आना न तो हमारे उपदेश पर निर्भर करता है और न स्वयं बालक की इच्छा पर। देखा गया है कि सभी प्रकार के सदुपदेश के होते हुए भी और बालक की स्वयं अपने आपको सुधारने की इच्छा रहने पर भी बालक के आचरण में सुधार नहीं होता। इतना ही नहीं कभी कभी बालक को दिये गए उपदेश का प्रभाव उसके चरित्र को और कमज़ोर बनाने में पड़ता है। उसकी अपने आपको भला

बनाने की इच्छा उसका लाभ न कर हानि करती है। कभी कभी इसके कारण भयानक मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव बालकों को अपने आपको सुधारने के लिये अधिक उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं अपितु हानिकर होता है।

बालकों के चरित्र में मौलिक सुधार उनके मन में अपने भविष्य के विषय में और अपनी योग्यता के विषय में शुभ कल्पनायें उत्पन्न करने से होता है। मनुष्य की उन्नति उसकी इच्छा नहीं करती उसकी कल्पना करती है। जिस बात को कोई व्यक्ति बार बार सोचा करता है वह उसी बात को एक दिन अपने आपको करते हुए पाता है। जो शिक्षक अपने बालकों को योग्य व्यक्ति बनाना चाहते हैं, उन्हें बालकों को अधिक नैतिक उपदेश देना बंद कर देना चाहिये। इन उपदेशों से नकारात्मक निर्देश बालकों को मिलते हैं। वे अपनी कमजोरियों के विषय में ही सोचने लगते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से चरित्र-गठन में कोई लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही होती है। मनुष्य अपना कुछ भी सुधार अपने आपको कोसने से नहीं करता, उलटे इससे अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ ही उत्पन्न कर लेता है। चरित्र का सुधार आशाजनक कल्पनाओं को मन में लाने से होता है। बालक के मन में आशातीत कल्पनायें वही व्यक्ति ला सकता है जो उसको प्यार करता है और जो उसकी योग्यता के विषय में उच्च भाव रखता है।

जब हम किसी व्यक्ति को प्यार करते हैं तो उसके चरित्र के दोष [illegible] दृष्टि में नहीं आते। उसकी योग्यतायें कम होने पर भी हम उन्हें [illegible] हैं। किसी माता से किसी व्यक्ति ने पूछा कि तुम्हें सबसे बालक कौन दिखाई देता है तो उसने अपने बालक को [illegible] [illegible] खूबसूरत बताया। वास्तव में वह बालक [illegible] [illegible] पर माँ की दृष्टि में उससे अधिक खूबसूरत बालक

दुनिया में था ही नहीं। जिस बालक को हम प्यार करते हैं हम उसकी बुद्धि और उसकी योग्यताओं के बारे में ऊँची धारणायें बना लेते हैं। इसका परिणाम बालक के लिये लाभकर ही होता है। जैसा हम बालक के विषय में सोचा करते हैं बालक भी अपने विषय में वैसा ही सोचने लगता है। इस सोचने के परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि तीव्र होती जाती है और वह अनायास ही भला आचरण करने लगता है।

बालक को जिस प्रकार के निर्देश उसके माता-पिता तथा गुरुजनों से मिलते हैं वह वैसा ही बनता जाता है। जिन बालकों को सुशिक्षित माता-पिता मिले हैं, जो बाल-मनोविकास के नियमों को भली प्रकार से जानते हैं वे सुयोग्य व्यक्ति बन जाते हैं; इसके प्रतिकूल जिन बालकों को दुर्भाग्यवश अशिक्षित हठीले माता-पिता मिले हैं उनका भविष्य ही अंधकारमय हो जाता है।

लेखक के पास एक दस वर्ष का बालक रहता है। यह बालक इस समय सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की छठी कक्षा में पढ़ता है। यह अपने गाँव के दूसरे लड़कों के साथ एक कोठरी में रहता है और प्रायः उन्हीं के साथ भोजन बना लेता है। इसका घर यहाँ से बीस-बाईस मील है। इसके पिता कभी-कभी यहाँ आते रहते हैं। जब वे आते हैं तो बालक घर जाने के लिये आग्रह करता है। हर एक छुट्टी में यह घर चला जाता है। इसके लिये उसके पिता इसे डाँटा करते हैं। यह बालक पिता का इकलौता बेटा है। यह उसके दादा-दादी का प्यारा है। घर में सौतेली माँ है। उसको कोई बच्चा नहीं है।

एक दिन लड़के के पिता इस बच्चे को डाँट-डपट रहे थे। उस समय लेखक ने कहा कि छोटे बालकों को अधिक डाँटने-डपटने से वे और निकम्मे हो जाते हैं। वे कहने लगे कि यह लड़का निकम्मा है। यह चाहता है कि उसका सभी काम दूसरे लोग ही कर दें। यह कुछ

भी काम अपने आप नहीं करना चाहता। यह बड़ा ही मन्द-बुद्धि और भीरु है।

इसी प्रकार एक दूसरे पिता ने अपने पचीस वर्षीय युवक बेटे के विषय में कई लोगों के सामने कहा। उनकी धारणा हो गई है कि यह लड़का बड़ा निकम्मा हो गया है। वास्तव में यह लड़का बड़ा सदाचारी और परिश्रमी है। यह मैट्रिक परीक्षा पास है और इसे इस समय अच्छा वेतन मिलता है। पिता को यही अखरता है कि उसका लड़का इतना कम क्यों कमाता है।

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व लेखक के एक विद्वान् मित्र अपने चौदह वर्षीय लड़के के बारे में इसी प्रकार के विचार प्रकाशित करते थे। वे मित्र स्वयं मनोविज्ञान के विद्वान् माने जाते हैं। उनका बड़ा लड़का वास्तव में एक एक कक्षा में दो दो अथवा तीन तीन बार फेल होता था। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट था और वह अन्य प्रकार से सदाचारी भी था, पर उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता था। यही लड़का चार वर्ष पूर्व बड़ा ही पढ़नेवाला बालक था। चार वर्ष में उसमें इतना अधिक परिवर्तन हो गया था कि जो बालक कक्षा में सर्वप्रथम रहना चाहिये था वह बार-बार फेल होता था। यह बालक कितने ही दिनों के फेल होने के बाद ग्रेजुएट होकर व्यायाम का शिक्षक हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि यदि माता-पिता का अपने बालकों के प्रति रूख ठीक न हो, यदि वे किसी कारण यह धारणा कर बैठे हों कि उनका बालक सुयोग्य नहीं होगा तो उसका सुयोग्य हो जाना असंभव है। बालकों के मन पर माता-पिता की कल्पना का बड़ा ही स्थायी प्रभाव पड़ता है। माता-पिता की कल्पना बालक के अदृश्य मन में बैठ जाती है और वह बालक को उसकी इच्छा के उसी ओर ले जाती है जिस ओर उसका निर्देश होता है।

पिता ने [illegible]

विद्वान् व्यक्ति नहीं होता तो उसका भला अथवा विद्वान् होना असंभव है।

इस बात में अपने आपको योग्य समझनेवाले व्यक्ति के पुत्र अभागे होते हैं। अपने को योग्य समझने वाले पिता के मन में वास्तव में आत्महीनता की भावना रहती है। अपने आपको योग्य समझना इस भावना के प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। अतएव अपनी आन्तरिक हीनता को माता-पिता अपने बालकों पर आरोपित करते हैं। फिर ये बालक उक्त आरोपित गुण को चरितार्थ करते हैं।

कितने ही माता पिता अपने बालकों को एकाएक सुयोग्य बना देने की चिन्ता में लग जाते हैं। वे चाहते हैं कि वे जल्दी-जल्दी सभी कक्षायें पास कर डालें। इसमें पढ़े-लिखे विद्वान् भी उतावलापन दिखाते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक बुद्धू बन जाते हैं। प्रकृति का कोई भी काम जल्दी से नहीं होता। यदि कोई चाहे कि एक ही साल में आम का पेड़ जमीन से उग कर फूलने लग जाय तो यह असंभव है। अधिक प्रयत्न करने से वह नष्ट ही हो जायगा। जो माता-पिता अपने बालकों को जल्दी से योग्य बना देना चाहते हैं वे उन्हें नष्ट कर डालते हैं। लेखक के मित्र की बहिन को दो लड़कियाँ और दो लड़के हैं। इनमें से यह महिला अपने बड़े लड़के के विषय में ही अधिक चिन्तित रहती थी। यह लड़का पहले तो साल-दर-साल पास होता जाता था। पर वह इन्टर में आकर अटक गया। वह दो साल से अब फेल हो रहा है। शेष सभी बच्चे ठीक तरह से परीक्षा में पास हो जाते हैं। यह महिला विधवा है अतएव वह चाहती थी कि उसका बड़ा लड़का किसी रोजगार में जल्दी से लग जाय। जब से यह चिन्ता उसे लगी तभी से बालक का फेल होना भी आरंभ हुआ।

किसी काम की सफलता के विषय में अति चिन्तित होना उसकी

सफलता में बाधा डालना है। वास्तव में चिंता एक नकारात्मक विचार है। यह सन्देह की अवस्था में ही उत्पन्न होता है। माता-पिता की सन्देह की मनोवृत्ति बालकों के मन में चली जाती है और उनकी इच्छाशक्ति को निर्बल बना देती है। जो माता-पिता अपने बालकों के चरित्र के विषय में अति चिन्तित रहते हैं उनके बालक दुश्चरित्र हो जाते हैं। जो उनके पास-फेल हो जाने के विषय में अति चिन्तित होते हैं वे उन्हें फेल होने की ओर ही ले जाते हैं, और जिन्हें अपने बालकों के भविष्य के विषय में भय होता है वे बालकों का भविष्य बिगाड़ देते हैं। सभी बातों में माता-पिता को समुचित प्रयत्न करना चाहिये और सभी कामों के परिणाम के विषय में शुभ भावना को ही मन में लाना चाहिये। इसीसे बालकों का भविष्य सुधरता है।

प्रत्येक विचार में अपने आप कार्यान्वित होने की शक्ति होती है। मनोविज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि यदि किसी क्रिया के विचार को मनुष्य मन में लावे और उसके विरोधी विचार को मन में न आने दे तो वह विचार अपने आप क्रिया में परिणत हो जाता है। विधेयक का अभिदेश बालक के मन में नकारात्मक विचारों का उठना बंद कर देता है। ऐसी स्थिति में भले विचार अपने आप कार्यान्वित हो जाते हैं। हमारी बहुत सी मानसिक शक्ति नकारात्मक विचारों के कारण नष्ट हो जाती है और मनुष्य की प्रतिभा बड़ी-चढ़ी होने पर भी वह किसी काम के करने में समर्थ नहीं होता। कालेज की परीक्षा की तैयारी कराते समय एक विद्यार्थी को यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि वह उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा, अतएव उसे अगले साल परीक्षा में बैठना चाहिये। उसके प्रधान अध्यापक को जब यह बात मालूम हुई तो उसने उसे आश्वासन दिया कि वह अवश्य ही प्रथम श्रेणी में पास हो जावेगा। उसके इस सन्देह के कारण वह परीक्षा की तैयारी में लग गया और थोड़े दिनों में ही उसने सब विषय तैयार कर लिये।

परीक्षा में बिना सन्देह के बैठने का परिणाम यह हुआ कि जिन विषयों में उसने कम ही परिश्रम किया था उनमें हो उसके अधिक नम्बर आये। यदि नकारात्मक विचार मन में स्थान कर लेते तो उसका परीक्षा में उस साल बैठना संभव ही न था और उन विचारों के होते हुए परीक्षा में बैठा जाता तो परीक्षाफल भी अच्छा न होता।

लेखक जब स्कूल का शिक्षक था तब उसकी कक्षा में एक उद्दण्ड बालक था। यह बालक न पढ़ने लिखने में मन लगाता और न शिक्षकों की आज्ञा पालन करता। वह कुछ न कुछ उपद्रव ही किया करता था। वह प्रायः परीक्षा में फेल हो जाया करता था। कक्षा का चार्ज लेते ही लेखक ने इस बालक से कहा—आप यदि ठीक से पढ़ना चाहते हैं तो मेरी कक्षा में रहिये और नहीं पढ़ना चाहते तो दूसरे शिक्षक के पास चले जाइये, पर एक बार कक्षा में आने से काम ठीक से करना ही होगा। उसने आश्वासन दिया कि वह लेखक की आज्ञा का पालन करेगा। लेखक ने उसे सबसे आगे बैठाया और वह हर बात को कक्षा को समझाते समय उससे पूछ लेता था कि वह समझा कि नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि वह उसी साल परीक्षा पास कर गया और उसने किसी प्रकार का क्लास में उपद्रव ही नहीं किया, वरन् दूसरे उपद्रवी बालकों को उपद्रव करने से रोकता रहा। वह सदा के लिये लेखक का मित्र बन गया।

बालकों के पहले किये गए किसी बुरे काम को जानने से शिक्षक को लाभ न होकर हानि हो होती है। इससे शिक्षक का बालक के प्रति दृष्टिकोण दूषित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप हमारी बालक को निर्देश देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। जिस बालक को शिक्षक निर्देश नहीं दे सकता, अर्थात् उसके मन में अपने विषय में शुभ कल्पनायें नहीं उठा सकता, वह उसका कोई भला नहीं कर सकता। हम किसी भी व्यक्ति को निर्देश के अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से

भला नहीं बना सकते हैं। एक व्यक्ति की दूसरे की सबसे अधिक मौलिक सेवा उसके मन में शुभ विचार का उत्पन्न करना है। ये विचार आलोचनात्मक विचार नहीं वरन् रचनात्मक विचार होते हैं। उत्साह के क्रियात्मक विचार ही मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाते हैं।

यदि किसी शिक्षक को अपने बालकों के कोई दुर्गुण ज्ञात हो जावें, तो उसे चाहिये कि वह उन्हें क्षम्य समझकर भूल जावे। किसी बालक को कभी भी यह ज्ञान न होने देवे कि शिक्षक को उसके सभी दुर्गुण ज्ञात हैं। वह उसके दुराचरण के उदाहरणों को न तो स्मरण रक्खे और न उन्हें बालक को किसी प्रकार स्मरण होने दे। इससे बालक को सन्निर्देश न मिलकर दुर्निर्देश ही मिलता है। जो बालक अपने किसी बुरे काम को सोचकर अपने आपको कोसता रहता है वह अपने आपको कदापि भला नहीं बना सकता। वह अपनी इच्छाशक्ति को और भी कमजोर बना लेता है।

डाक्टर होमरलेन और नील महाशय ने दुराचारी बालकों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलने का जो प्रयास किया है उससे संसार का मौलिक लाभ होने की संभावना है। होमरलेन और नील महाशय ने उद्दण्ड बालक के चरित्र में मौलिक सुधार उसके साथ प्रेम-व्यवहार करके किया है। प्रेम के द्वारा बालकों की चोरी, हठीलेपन और काम क्रीड़ाओं की आदतें छुड़ाई जा सकी हैं। नील महाशय बालकों को नैतिक उपदेश देने के विरोधी हैं। इससे बालकों के चरित्र में कोई वास्तविक सुधार नहीं होता, वरन् उनकी मानसिक स्थिति और जटिल हो जाती है। बालकों के चरित्र में मौलिक सुधार उन्हें रचनात्मक कामों में लगाने से अपने आप हो जाता है। नैतिक शिक्षा द्वारा बालकों को सुधारने का विचार बालकों में प्रायः सुधार न कर उनका अकल्याण ही करता है।

होमरलेन और नील महाशय का कहना है कि बालक का

खेलते बालक को गोदी में उठाना

बहुत से माता पिता खेलते हुए बालक को गोदी में उठा लेते हैं। वे उसके साथ किलोल करने लगते हैं और उसे चूमने लगते हैं। यह बालक को सुखी बनाने का उपाय नहीं है वरन् उसके लिये दुःख का जीवन तैयार करना है। यदि हम इस बात को समझ जायें तो हम खेलते बालक को गोदी में उठाना, उसे चूमना-चाटना, ये सब बातें बालक के प्रति अपराध मानेंगे। जब बालक खेलता रहता है तो वह रचनात्मक आनन्द की अनुभूति करता है। यह आनन्द बालक की शक्तियों का विकास करता है। रचनात्मक आनन्द बालक को इन्द्रिय-सुख के स्तर से ऊपर उठाता है। बालक जब खेल में मस्त रहता है तो वह खाने की सुध भूल जाता है। जब हम बालक को उसके खेल से अलग कर गोदी में ले लेते हैं तो पहले तो वह इससे अप्रसन्न होता है पीछे वह हमारे किलोल में सुख का अनुभव करने लगता है। परन्तु यह सुख विषयसुख है। यह आलिंगन का सुख है। यह रचनात्मक आनन्द से निम्न कोटि की वस्तु है। इससे बालक की मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता वरन् उनके विकास में अड़चन पड़ती है। बालक के जीवन में एक समय होता है जब वह दूसरे व्यक्ति का आलिंगन चाहता है। जब तक बालक स्वयं चल-फिर नहीं सकता तब तक उसे माता की गोदी में रहने से बड़े सुख की अनुभूति होती है। उसके मन में माता की छाती से चिपकने की प्रबल इच्छा रहती है। इस इच्छा की पूर्ति होना आवश्यक है परन्तु यदि बालक को उस समय भी गोदी में उठाया जाय और छाती से लगाया जाय जब कि वह स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमता है और खेलता है तो वह उसी स्थिति में बना रहेगा जिस स्थिति में वह एक वर्ष की अवस्था में था। बालक जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसे अधिकाधिक भावात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र कर देना चाहिये।

बालक के साथ किलोल करने से हमारा मनोरञ्जन भले ही हो इससे बालक का लाभ नहीं होता। बालक का जीवन बालक के लिए है, हमारे सुख के लिये नहीं। बालक अपने ही उमर के दूसरे बालकों के साथ खेलना चाहता है। समवयस्क बालकों के साथ खेलने और मिलने-जुलने से बालक स्वावलम्बी बनता है। उसमें आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है और उसमें दूसरों के साथ उचित व्यवहार करने की शक्ति आती है। जब बालक बार-बार बड़ों के सम्पर्क में आता है और जब वे उसे अपने ही व्यवसाय में लगे रहने में बाधा डालते हैं तो उसमें न तो आत्मविश्वास की उत्पत्ति होती है और न उसमें स्वावलम्बन आता है। वह सदा यही आशा करता है कि दूसरे लोग उसके लिए सब कुछ कर देंगे। वह बड़ा होने पर भी अपने आपको बच्चा ही समझता रहता है। जब ऐसा बालक अपनी किशोर अवस्था में दूसरे बालक के सम्पर्क में आता है तो वह उनसे उचित व्यवहार नहीं कर सकता। वह दूसरे बालकों के सामने झेंपता है और हर एक काम करने के पूर्व झिझक का अनुभव करता है।

बालक का चुम्बन करना

किसी बालक को चूमना उसे अपना खिलौना बनाना है। बालक को बार-बार चूमने से वह मानसिक विकास की दृष्टि से उसी अवस्था में बना रहता है जिस अवस्था में वह माता का स्तन पीते समय था। चार-पाँच वर्ष के बालक को चूमना उनके मानसिक विकास को रोकना है। बारह-तेरह वर्ष के बालक को चूमना तो इससे भी बुरा है। मनोविश्लेषण विज्ञान की दृष्टि से यदि देखा जाय तो सभी प्रकार का आलिंगन और चुम्बन कामवासना की तृप्ति के साधनमात्र हैं। चुम्बन काम व्यवहार का प्रतीक है चाहे वह बड़े व्यक्ति के प्रति हो अथवा बालक के प्रति। इससे एक ओर प्रौढ़ व्यक्ति की गुप्त रूप से कामवासना की तृप्ति होती है और कभी-कभी उत्तेजित भी होती है

और दूसरी ओर इससे बालक के मन में कामवासना की उत्तेजना होती है। अतएव बालक को जितना कम चूमा जाए उतना अच्छा है।

जब कई बालक एक दूसरे के साथ खेल रहे हों तो हमें उनके खेल को दूर से देखना चाहिये। उसमें किसी प्रकार का विघ्न न डालना चाहिये। बालक अपने खेल को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना कि हम अपने गम्भीर कामों को देते हैं अतएव जब कोई व्यक्ति उनके खेलों को बिगाड़ देता है तो वे उस व्यक्ति पर उसी प्रकार नाराज होते हैं जिस प्रकार हम लोग अपने काम को बिगाड़नेवाले व्यक्ति से नाराज़ होते हैं। परन्तु जब बालक अपने क्रोध को उसके खेल के बिगाड़नेवाले व्यक्ति के प्रति प्रकाशित नहीं कर पाता तो वह अपने आपको तुच्छ व्यक्ति मानने लगता है। लोग उसे इस प्रकार महत्त्वहीन बना देते हैं। फिर वह अपने खेलों से उतना मानसिक लाभ नहीं उठाता जितना कि वह अन्यथा उठाता है।

बालक का शृंगार करना

जिस प्रकार बालकों को गोदी लेना, उनके साथ किलोल करना बुरा है इसी तरह उन्हें गुड्डों के समान शृङ्गार करना भी बुरा है। बालकों को वैसे ही कपड़े पहनाने चाहियें जैसे वे स्वयं पहनना चाहते हैं। बहुत से धनी घर के बालक इस प्रकार से सजाये जाते हैं मानो उन्हें नुमायश में रखना है। इस प्रकार के शृङ्गार से पहले तो बालक सुखी नहीं होता। वह स्वभावतः अपनी स्वतन्त्रता चाहता है। परन्तु जब बार-बार बालक का शृङ्गार किया जाता है तो उसमें एक कृत्रिमता आ जाती है। वह फिर अपने कपड़ों का गुलाम हो जाता है। जब तक उसे अच्छे कपड़े नहीं मिलते वह घर से बाहर निकलने में शरमाता है। बालक स्वभावतः बिना जूतों के चलना-फिरना, दौड़ना चाहता है। जब बालक जूते नहीं पहने रहते तो वे सरलता से चल-फिर व दौड़ सकते हैं। पैर में जूते पड़ जाने से उनके ऊपर एक बन्धन जैसा लग जाता

है फिर वे न तो मनमाने इधर उधर दौड़ सकते हैं और न उन्हें खुले पैर रखने की सुख की अनुभूति होती है। बालक यदि अपने ऊपर छोड़ दिये जाँय तो वे अपने पैर को जूते के भीतर कभी भी कैद न करना चाहें। पहले पहल बालक या तो बड़ों के द्वारा बाध्य हो कर जूता पहनना सीखता है अथवा उनकी नकल करके। धीरे धीरे वह शीघ्र ही बड़ों जैसा अपने आपको कृत्रिम प्राणी बना लेता है। इस तरह वह हमारे अज्ञान के कारण अपने ऊपर मानसिक गुलामी लाद लेता है।

काल्पनिक झूठ के लिए डाँटना

बहुत से माता पिता बालकों को किसी झूठ के लिये बेहद डाँट-देते हैं। वे उनसे कहते हैं कि तुमने एक भारी पाप किया है। वे यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि बालक जो कुछ कहता है वह अपने विचार से सच ही कहता है। बालक की स्मृति देर तक नहीं ठहरती और उसकी कल्पना प्रबल होती है अतएव जो कुछ उसे सुझाया जाता है उसे वह वास्तव में ही देखने लगता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित उदाहरण जिसे हमवेल महाशय ने अपनी 'फंडामेंटल्स ऑफ साइकोलॉजी' नामक पुस्तक में दिया है उल्लेखनीय है:—

'एक बार एक स्कूल का इन्सपेक्टर एक प्रायमरी पाठशाला में गया। उसने एक कक्षा के बालकों को एक चित्र दिखाया। यह चित्र एक जहाज का था। कुछ देर तक चित्र दिखाने के पश्चात् उसने चित्र को अलग कर दिया और फिर बालकों से पूछा—"क्या नाव उसी दिशा में जा रही थी जिसमें जहाज जा रहा था?" कक्षा के अधिक बालकों ने कहा कि "नाव उसी दिशा में जा रही थी जिसमें जहाज जाता था।" दूसरे बालकों ने उत्तर दिया, "नहीं, वह विरुद्ध दिशा में जा रही थी।" सारी कक्षा में एक ही बालक ऐसा था जो घबड़ाया हुआ-सा

प्रतीत हुआ और जिसने कोई उत्तर न दिया। उससे अलग से पूछने से डरते डरते उसने कहा, "मैंने नाव को नहीं देखा।" वास्तव में चित्र में नाव थी ही नहीं परन्तु इन्स्पेक्टर के प्रश्न ने नाव का विचार बालकों के मन में घुसा दिया था और वे बताये हुए चित्र में उस वस्तु को देखने लगे जो उसमें थी हो नहीं। इससे बालकों के झूठ का रहस्य खुल जाता है। अधिकतर जब बालक झूठ बोलते हैं तो उनमें झूठ बोल कर दूसरों को धोखा देने की इच्छा नहीं रहती और इस इच्छा के अभाव में किसी झूठ को झूठ नहीं कहा जा सकता।

एक बार एक जर्मन लड़के ने प्रातःकाल में जब कुहरा था एक कुत्ते को खेत में देखा। उसने अपनी माँ को बुलाया और कहा, "देखो माँ, अपने खेत में रीछ बैठा है।" माँ ने उस ओर देखा जिस ओर बालक संकेत कर रहा था और वहाँ कुत्ते को बैठा देखा। उसे माँ ने कहा, "अरे बेटा, तुम आज झूठ बोले, तुमने अपने कुत्ते हैरो को रीछ बता दिया। तुम अब भगवान से प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे इस काम को माफ कर दें।" इस पर वह बालक घुटना टेक करके भगवान से प्रार्थना करने लगा। थोड़ी देर बाद वह अपनी माँ के पास फिर आया और उसने कहा, "माँ, मुझे ईश्वर ने माफ कर दिया। ईश्वर कहता था कि तुम अफसोस मत करो। कभी मैं भी हैरो को रीछ समझ लेता हूँ।" इस वाक्य को उसकी माँ बिल्कुल झूठ समझी, पर अब इसकी दवा रह ही क्या गई थी। उसने यह घटना एक मनोवैज्ञानिक को सुनाई। मनोवैज्ञानिक ने उसे समझाया कि छोटे बालक उसी अर्थ में झूठ नहीं बोलते जिस अर्थ में प्रौढ़ लोग झूठ बोला करते हैं। जब उनके मन में कोई कल्पना आ जाती है तो वह इतनी सजीव होती है कि उसका वास्तविक वस्तु से कोई भेद नहीं रह जाता। कल्पना में आये हुए ईश्वर को ही बालक ने वास्तविक पदार्थ के समान देख लिया और उसकी बातें सुन लीं।

मट्टी से खेल करने से रोकना

छोटी उमर के बालक गीली मिट्टी से खेलना पसन्द करते हैं। धनी घर के बालक जब ऐसा करते हैं तो उनके माता-पिता डाँट-डपट कर उन्हें इन कामों से रोकते हैं। बालकों का इस प्रकार गीली मिट्टी से खेलना बन्द किया जाना उनके लिये बड़ा हानिकारक है। इस प्रकार के खेलों से बालकों की दबी हुई गंदी वस्तु को हाथ में लेने की प्रवृत्ति का शोध होता है। बालक जब एक साल का होता है तो उसमें अपना पाखाना छूने की आदत रहती है। माता-पिता जब बालक को पाखाना छूते देखते हैं तो वे उसे झिड़क देते हैं। इस प्रकार उसकी इस प्रवृत्ति का दमन मात्र हो जाता है। बालक में तब से अज्ञात भय किसी नये काम के प्रति हो जाता है। यह भय उसके अचेतन मन में घर कर लेता है और उसके मन में किसी नये काम को करने के पहले हिचकिचाहट पैदा करती है।

कभी कभी बालक माता-पिता के प्रति हठ से काम करने लगता है। जब उसे मल छूने से मना किया जाता है तो वह अपने शरीर से मल को छोड़ता ही नहीं। इस प्रकार बालक को अनेक प्रकार के पेट के रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसे कृत्रिम उपायों से पाखाना फिराया जाता है। बालक का अचेतन मन मल की कीमत करता है क्योंकि वह उसीसे निकली वस्तु है। हम उसे गन्दी वस्तु समझते हैं, बालक उसे गंदी नहीं समझता। जब जबरदस्ती बालक को शैशवावस्था में मल छूने से रोका जाता है और उसे कृत्रिम रूप से पाखाना फिराया जाता है तो आगे चलकर उसके मल छूने की दबी भावना पैसा संचित करने की क्रियाओं में प्रकाशित होती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसा बालक पैसों को संचित करने में मन लगाता है। वह बड़ा कंजूस होता है और अपना पैसा किसी को नहीं देना चाहता। उसे कोष्ठबद्धता का भी रोग होता है। मल जिस प्रकार शरीर का मैल है उसी प्रकार पैसा हाथ का मैल

है। मनुष्य का अचेतन मन दोनों प्रकार के मल को एक समान ही समझता है और जिस व्यक्ति के अचेतन मन में एक प्रकार के मैल के प्रति प्रेम है उसके चेतन मन में दूसरे प्रकार के मैल के प्रति प्रेम हो जाता है। मनुष्य के भीतर की इन मानसिक ग्रन्थियों का प्रतिकार बचपन में ही भली प्रकार से हो सकता है। यदि बच्चे को गीली मिट्टी से खेलने दिया जाय तो उसकी मल छूने की दबी हुई भावना का रूपान्तरण हो कर प्रकाशित हो जाय, अर्थात् उसका शोध एक रचनात्मक कार्य में हो जाय। वह फिर अस्वस्थ रूप न ले जैसा वह अन्यथा ले लेती है। वह फिर ऐसी क्रियाओं का कारण न बने जिससे समाज की हानि होती है।

जननेन्द्रिय सम्बन्धी मज़ाक करना

कितनी ही फूहड़ दाइयाँ अथवा युवक अपने मन के बहलाव के लिये, बालक को शरमाने के लिये अथवा उसके साथ मज़ाक के लिये उसके जननेन्द्रिय के विषय में चर्चा किया करते हैं। इन बातों का बालक के मन पर बड़ा घातक असर पड़ता है। कभी दाई कह बैठती है कि कोई तेरी जननेन्द्रिय छिना ले जायगा। इससे बालक के मन में सब समय के लिये किसी आगन्तुक से भय उत्पन्न हो जाता है। उसे सभी नये लोगों से मिलने में झिझक रहती है। वह इसका कारण नहीं जानता, क्योंकि यह उसके स्मृति-पटल पर नहीं है। शैशवावस्था की भयपूर्ण घटनायें बालक के अचेतन मन पर अपना संस्कार तो छोड़ जाती हैं पर ये पीछे बालक के स्मृतिपटल पर नहीं आतीं। इन घटनाओं के परिणाम पीछे बालक को किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था में भुगतने पड़ते हैं। बहुत से किशोर बालकों में अकारण शरमाने की आदत होती है, उसका यही कारण है। यह शरमाने की आदत कभी कभी युवावस्था में भी बनी रहती है। शैशवावस्था का भय बालक में मानसिक अपूर्णता उत्पन्न करता है।

कितनी ही दाइयाँ बच्चों के जननेन्द्रिय को छुआ करती हैं। इससे बालक की कामभावना उत्तेजित होती है। किशोरावस्था में ऐसा बालक बड़ा कामुक हो जाता है। उसमें अपनी जननेन्द्रिय छूने की आदत पड़ जाती है। वह कभी-कभी हस्तमैथुन की आदत डाल लेता है। उसके भीतर एक अज्ञात प्रेरणा अपने जननेन्द्रिय छूने की हो जाती है। वह चाहता है कि वह अपने आपको इस काम से रोके पर वह रोक नहीं सकता।

बालक के मन में जननेन्द्रिय सम्बन्धी भय भयानक होते हैं। बालक का चेतन मन कुछ भी न समझे उसका अचेतन मन जननेन्द्रिय को बहुत कीमत करता है। इस सम्बन्ध में लेखक के पुराने छात्र के तीन साल के शिशु के मन में उत्पन्न भय उल्लेखनीय है जिसकी चिकित्सा का उपाय उक्त छात्र ने पूछा है। वह व्यक्ति अपने पत्र में लिखता है—

"इस समय मेरा बड़ा लड़का जिसकी उमर तीन साल की है रोगी हो गया है। कुछ पांडु रोग और पेट के बढ़ने की शिकायत है। अभी एक सप्ताह हुए कि उसे पक्षाघात मूर्छा रोग ऐसा भयानक हो गया था कि किसीको उसके बचने की आशा न थी। वह बड़ा डरपोक हो गया है। हर चीज से डरता है। कहता है—"काटी"। बूढ़ी से भी डरता है, देखते ही कहता है—"काटी"। बकरे, गाय आदि से भी डरता है और कहता है "काटी"। उसको तीसरी बार मूर्छा का दौरा हुआ। इस बार लड़का की भाँति बायाँ अंग मुख से पैर तक दुर्बल हो गया।

जिस समय मूर्छा रोग प्रारम्भ हुआ वह एक घंटा रहा। उस समय शिवानन्द नामक एक मूर्ख नवयुवक का भय उसको समा गया था कि वह मेरी सुसी (जननेन्द्रिय) काट रहा है। अब भी उसका उसीका नाम लेता है। उसको मारने को कहने पर "हूँ" कहता है। आवाज भी कमजोर हो गई है। अब बोलने को कहने पर भी कम बोलता है।

हर बात में रोता रहता है। चलना भी कम ही है। अँगुली से इशारा अधिक करता है। अतः आप जो आज्ञा दें, करूँ।"

पत्र में लिखी घटना कितनी दुःखद है। यह हाल में ही घटित हुई। ऐसी घटनायें बालकों के जीवन में हम लोगों की नादानी के कारण कितनी बार घटित होती रहती हैं और इसके कारण राष्ट्र के बालकों की कितनी क्षति होती है और उन्हें कितना दुःख उठाना पड़ता है। इसका कौन अन्दाज लगायेगा। हम स्वतन्त्र भारत के लिये वीर बालक चाहते हैं पर बचपन में ही हम उन्हें दब्बू, निकम्मा और डरपोक बना देते हैं। हमारे लिये जो मनोरञ्जन है वह बालकों के लिये मौत बन जाता है। इस प्रकार के मनोरञ्जन से बालक को बचाने में ही उसका कल्याण है।

है ; पर वह अपने प्रयास में विफल रहा। बालक डाँटा-डपटा गया है और मारा-पीटा भी गया है, परन्तु इससे उसका सुधार न होकर और भी बिगाड़ हुआ है। पुत्र का सुधार तब तक होना संभव नहीं जब तक कि उसके बिगड़ने का वास्तविक कारण न जान लिया जाय। बालक में दो प्रधान अवांछनीय आदतें हैं—एक बीड़ी पीने की और दूसरी चोरी करने की। तीसरी आदत घर से भागने की है। पर यह आदत पिता की यंत्रणा से बचने के लिये आई है। यदि बालक में पहली दो आदतें न होतीं तो तीसरी आदत आने की आवश्यकता ही न होती।

अब प्रश्न यह है कि बालक में चोरी और बीड़ी पीने की आदत कैसे आई और ये आदतें कैसे छुड़ाई जा सकती हैं ? इस समय बालक किशोरावस्था में है, पर ये आदतें उसे ६ वर्ष से ही आ गई हैं। बालक ६ वर्ष की अवस्था से ही चोरी करता था और वह बीड़ी भी छोटी ही अवस्था से पीता था। पत्र में पिता ने माता के स्वभाव और आदतों के विषय में भी चर्चा की है। बालक की माँ धूम्रपान करती थी। अतएव यह आदत तो पुत्र को माता से ही मिली। जिस कार्य को माता करती है उसे सहज में पुत्र भी करने लगता है। माता जिस [illegible] समझती है उसे पुत्र भी उचित समझने लगता है। [illegible] नैहर से ही धूम्रपान करती थी, अतएव बालक ने [illegible] प्रेम माता के दूध के साथ-साथ ही पाया। यदि किसी [illegible] ठीक समझे और पिता अनुचित समझे तो पुत्र पिता का [illegible] माता का ही अनुकरण करता है। जिस नैतिकता की [illegible] ही रहती वह पुत्र में नहीं आती। यदि माता-पिता में [illegible] संघर्ष है तो यह संघर्ष पिता-पुत्र में भी हो जाता है। [illegible] पुत्र लेता है और पिता के पुत्री। उपर्युक्त उदाहरण [illegible] व्यवहार से सन्तुष्ट है। पुत्री न तो चोरी करती है और [illegible] वह पुत्र के व्यवहार से ही असंतुष्ट है। पुत्र में माता के

आचरण करता है। अपने पुत्र के व्यवहार से परेशानी-भरे अनेक पत्र लेखक को मिला करते हैं और कितने ही पिता अपने बच्चे के आचरण के सुधार के विषय में सलाह पूछने आते हैं। इस प्रसंग में अपने किशोर पुत्र के आचरण के विषय में सलाह पूछनेवाले एक विचारवान पिता का निम्नलिखित पत्र उल्लेखनीय है—

"मैं एक सरकारी कर्मचारी हूँ। आयु लगभग ५० वर्ष की है। मँहगाई मिलाकर करीब तीन सौ रुपया मासिक मिलता है। आज से करीब तेरह वर्ष पूर्व स्त्री ने शरीर छोड़ा तथा छोड़ा एक पुत्री और पुत्र को। उनके हेतु मैंने पुनः विवाह करना अनुचित समझा। वे अब क्रमशः १६½ वर्ष और १६ वर्ष के हैं। कन्या सुशील तथा सदाचारी है। किन्तु पुत्र मुझे विकट समस्या साबित हो रहा है। गत वर्ष उसने स्थानीय कालेज से ग्यारहवीं दर्जा पास किया है। उसमें चोरी की आदत आठ ही वर्ष से थी। आयु के साथ वह बढ़ती गई। अब बहुत अधिक बढ़ गई है। पढ़ने की ओर उसकी रुचि बिलकुल नहीं है। वह जब तब घर छोड़कर भाग जाता है। हर समय भागने में किसी मित्र से या सम्बन्धी से उसके यहाँ से बटुये या सन्दूक से रुपये चुरा लाने की शिकायत होती है। घर में भी वह चोरी करते रहता है। मैं सतर्क रहा हूँ फिर भी कभी-कभी रुपये निकाल लेता है। कभी गेहूँ, थोड़ी का चना या अपनी किताब बेंच आता है। वह सिगरेट पीता है। उसकी माँ भी सिगरेट पीती थी।

आप पूरी परिस्थिति सोच-विचार करके मुझे राय दीजिये कि मैं उसके साथ क्या-क्या उपाय करूँ, कैसा व्यवहार करूँ ताकि वह ठीक ढंग पर आ जावे। इसके दुष्कर्मों ने मुझे बहुत ही लज्जित किया है। आर्थिक हानि सह्य थी, मान-हानि असह्य है और उसका भविष्य अंधकारमय देखकर और भी भयभीत हूँ। भगवान ही रक्षा करे।"

उपर्युक्त पत्र पिता की कितनी चिन्ता और परेशानी को दर्शाता है। संभवतः पिता बालक को सुधारने के सभी उपाय काम में ला चुका

; पर वह अपने प्रयास में विफल रहा। बालक डाँटा-डपटा गया है
ौर मारा-पीटा भी गया है, परन्तु इससे उसका सुधार न होकर और
ी बिगाड़ हुआ है। पुत्र का सुधार तब तक होना संभव नहीं जब तक
ि उसके बिगड़ने का वास्तविक कारण न जान लिया जाय। बालक
ें दो प्रधान अवांछनीय आदतें हैं—एक बीड़ी पीने की और दूसरी
ोरी करने की। तीसरी आदत घर से भागने की है। पर यह आदत
ुन की यंत्रणा से बचने के लिये आई है। यदि बालक में पहली दो
ादतें न होतीं तो तीसरी आदत आने की आवश्यकता ही न होती।

अब प्रश्न यह है कि बालक में चोरी और बीड़ी पीने की आदत
ैसे आईं और ये आदतें कैसे छुड़ाई जा सकती हैं? इस समय बालक
िशोरावस्था में है, पर ये आदतें उसे ६ वर्ष से ही आ गई हैं।
ालक ६ वर्ष की अवस्था से ही चोरी करता था और वह बीड़ी भी
सी ही अवस्था से पीता था। पत्र में पिता ने माता के स्वभाव और
ादतों के विषय में भी चर्चा की है। बालक की माँ धूम्रपान करती थी।
तएव यह आदत तो पुत्र को माता से ही मिली। जिस कार्य को
ाता करती है उसे सहज में पुत्र भी करने लगता है। माता जिस
ार्य को उचित समझती है उसे पुत्र भी उचित समझने लगता है।
ब माता अपने नैहर से ही धूम्रपान करती थी, अतएव बालक ने
ूम्रपान के प्रति प्रेम माता के दूध के साथ साथ ही पाया। यदि किसी
ार्य को माता ठीक समझे और पिता अनुचित समझे तो पुत्र पिता का
नुसरण न कर माता का ही अनुसरण करता है। जिस नैतिकता को
माता ने नहीं रखी वह पुत्र में नहीं आती। यदि माता-पिता में
ी पारस्परिक संघर्ष है तो वह संघर्ष पिता-पुत्र में भी हो जाता है।
: माता के गुण पुत्र लेता है और पिता के पुत्री। उपर्युक्त उदाहरण
िक पुत्री के व्यवहार से स्पष्ट है। पुत्री न तो चोरी करती है और
ूम्रपान, पर यह पुत्र के व्यवहार से ही स्पष्ट है। पुत्र में माता के

से गुण आ जावे जो पिता को पसंद नहीं हैं और पुत्रों में स्वयं पि
गुण आ जावे।

पुत्र में जिस प्रकार धूम्रपान की आदत माता से आई उसी प्र
चोरी की भी आदत माता से आई। पिता स्वयं न तो धूम्रपान
हैं और न दूसरों का धूम्रपान करना सह सकते हैं। इससे यह स्प
कि माता को पिता से छुपकर ही धूम्रपान करना पड़ता था। अत
इस परिवार में स्त्री पुरुष का संघर्ष प्रारंभ से ही रहा और पुत्र ने मा
माँ से ही पिता की आज्ञाओं की अवहेलना करना सीखा। जि
परिवार में स्त्री-पुरुष में प्रेम रहता है और जहाँ स्त्री पुरुष की आज्ञा
पालन करती है वहाँ पिता पुत्र संघर्ष होने की संभावना बहुत ही
रहती है। जिस परिवार में स्त्री बात-बात में पति की बातों को
देती है उसमें बालक पिता की इच्छा के प्रतिकूल आचरण कर
बुरा नहीं समझता। अतएव ऐसे घरों के बालकों में अनेक बु
आदतें सहज में लग जाती हैं।

बालक का सहज स्नेह माता के प्रति होता है। फिर माता
भाव जिस व्यक्ति की ओर जिस प्रकार के होते हैं पुत्र के भाव
उसी प्रकार उस व्यक्ति की ओर हो जाते हैं। यदि स्त्री अपने पति
स्नेह और आदर की दृष्टि से देखती है तो पुत्र भी पिता को स्नेह औ
आदर की दृष्टि से देखेगा; यदि स्त्री का मन अपने पति से असंतुष्ट
और वह केवल ऊपरी दृष्टि से उसे आदर करती है अथवा डर के कारण
उसकी बातों को मानती है तो पुत्र भी अपने पिता के प्रति वैसा
व्यवहार करेगा। जिस परिवार में स्त्री पुरुष से सदा झगड़ा होते रहता
है उसके बालक निकम्मे हो जाते हैं। जो घर छोड़कर बाहर चले जाते
हैं उनका जीवन ही सुधर पाता है।

जब पति पत्नी में सहज स्नेह नहीं होता तो पति अपनी स्त्री पर
विश्वास नहीं करता और उसे अपनी पूरी कमाई नहीं सौंपता। ऐसी

ति में भी खर्चीली हो जाती है और अपनी इच्छाओं को पूरी
ने के लिये वह चोरी करने लगती है। माता का खर्चीलापन और
री की आदत पुत्र में भी चली आती है। पहले पहल बालक अपने
ने-पीने की वस्तुओं को खरीदने के लिये चोरी करता है। जिन
लकों में धूम्रपान की आदत लग जाती है वे भी चोरी करने लगते
। पहले तो वे चोरी से धूम्रपान ही करते हैं पीछे बीड़ी, सिगरेट
रीदने के लिये पैसा चुराते हैं। प्रेम के भूखे बालक में धूम्रपान और
ोरी दोनों प्रकार की आदतें सरलता से आ जाती हैं। ऐसे बालकों में
ात्म-नियंत्रण की शक्ति की कमी रहती है। अतएव केवल उपदेश
थवा दण्ड देने से ये आदतें नहीं छूटतीं। उपदेश और दण्ड बालक
ो दुराचरण से रोकने के लिये केवल नकारात्मक रूप में ही काम
रते हैं। इनसे चरित्र का वास्तविक सुधार नहीं होता। बालक के
चरित्र का सुधार तभी होता है जब वह अपने कामों की बुराई को
स्वयं समझे और अपने आपको बुरे कामों से रोकने का यत्न करे।
इसके लिये बालक में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है।
जब तक बालक अपने काम को ठीक समझता है तब तक उसे उस
काम से रोकना संभव नहीं। ऐसा प्रयत्न करने से केवल पिता-पुत्र में
संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

बालक में चोरी की आदत का होना इस बात का प्रतीक है कि
उसकी बचपन की खाने-पीने की इच्छायें भली प्रकार से तृप्त नहीं
हुईं। यह प्रायः पिता के कठोर नियंत्रण के कारण होता है। पिता
अपने नैतिक दृष्टिकोण से बालक के आचरण को मापता है, जिसे
पिता अपने लिये उचित समझता है वही वह बालक से भी चाहता है।
अतएव बालक को बचपन में बच्चे जैसा नहीं रहने देता। शिष्टाचारी
पिता इस दृष्टि से सामान्य ग्रामीण पिताओं की अपेक्षा अधिक कठोर
होते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक की बचपन की इच्छाओं का

दमन मात्र होता है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि बालक का मानसिक विकास उसकी इच्छाओं के बलात् दमन से नहीं होता वरन् उनकी समुचित तृप्ति से होता है। जब बाल्यकाल की इच्छाओं की समुचित तृप्ति नहीं होती तो ये इच्छायें बालक के मन को बचपन की अवस्था में ही बनाये रखती हैं। उसमें उच्च कोटि के विचारों, भावनाओं और आदर्शों का उदय नहीं होता। ऐसा बालक शरीर से बढ़ता है, बुद्धि में भी कुशल हो जाता है पर वह भावात्मक दृष्टि से बच्चा ही बना रहता है। उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं आती। अतएव जिस प्रकार आत्म-नियंत्रण पर जोर देना प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षा के लिये नितांत आवश्यक है, उसी प्रकार बालकों की शिक्षा में उनकी इच्छाओं की समुचित तृप्ति पर जोर देना नितांत आवश्यक है। अवस्था-भेद के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य-भेद होता है। बालक को शरीर-रक्षा और शरीर पुष्ट बनाने की बातें सिखाई जानी चाहिये और प्रौढ़ व्यक्ति को चरित्र-निर्माण की। प्रारंभ से ही चरित्र-निर्माण पर जोर न देने से न बालक की शरीर रचना ठीक से होती है और न उसके चरित्र का ही भले प्रकार निर्माण होता है।

पिता-पुत्र के संघर्ष की अवस्था में बालक का सुधार उसके साथी करते हैं। अतएव ऐसी अवस्था में उसे अपने पास न रखकर किसी छात्रावास में रखना अच्छा है। प्रायः ऐसे ही पिता की संतान बिगड़ जाती है जिसे अपने चरित्र के ऊपर बड़ा गर्व है और जो अपनी संतान को योग्य से योग्य बनाने के लिये चिन्तित रहता है। जो पिता अपने पुत्र को आदर्श चरित्र का बनाने के लिये उसके संगी-साथियों से बचाया करते हैं वे उसे बहुत ही बिगाड़ देते हैं। जिन पिताओं को चिन्ता लगी रहती है कि उनके पुत्रों में कोई बुरी आदत न आ जाय उनमें बुरी आदतें अवश्य आ जाती हैं। जब वे बालक की एक आदत छुड़ाने की चेष्टा करते हैं तो दूसरी अनेक बुरी आदतें उनमें

अथवा उनकी चर्चा दूसरों से करता है। हम किसी बालक का सुधार तभी तक कर सकते हैं जब तक उस बालक के मन में हमारे प्रति सद्भावना रहती है, अर्थात् जब तक यह बालक अपने मन में यह जानता है कि मेरा अभिभावक मुझे अच्छा लड़का मानता है। अतएव पिता को अपने लड़के के विषय में अपना दृष्टिकोण बदलना आवश्यक होता है।

कोई भी बच्चा तब तक चरित्रवान नहीं बनता, जब तक कोई न कोई आदर्शवादिता उसके जीवन में नहीं आती। इस आदर्शवादिता का रूप बदलता जाता है। पहले यह लौकिक विभूतियों, सम्पत्ति और सम्मान प्राप्ति के रूप में आती है, फिर देश-सेवा, आध्यात्मिक उन्नति आदि के रूप में बदल जाती है। पिता ने लिखा था कि पुत्र को वह बड़ा आदमी होने की इच्छा भी नहीं रखता। केवल यही इच्छा है कि उसका चरित्र सुधर जावे और वह साधारण नागरिक की तरह अपने परिश्रम की कमाई से अपना जीवन-निर्वाह कर सके। यहाँ वह भूल जाता है कि प्रत्येक बालक असाधारण व्यक्ति बनना चाहता है। बालक के अपने ही आदर्श होते हैं। जब तक बालक को आशा रहती है कि वह अपने आदर्श को प्राप्त कर सकेगा, वह अपने चरित्र में विकसित होता है। जब उसे विश्वास हो जाता है कि वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा, तो वह अपने चरित्र में गिरने लगता है। मानसिक शक्ति या तो पुरोगामी होती है अथवा प्रतिगामी। वह जहाँ की तहाँ नहीं रहती। फिर हमें अपने बच्चे का भविष्य तथा उसके आदर्शों को निश्चित कर देना अनाधिकार चेष्टा है। बच्चे का जीवन एक बहती हुई सरिता के समान है। उसका लक्ष्य स्वनिर्मित होता है। हम केवल इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक मात्र बन सकते हैं, उसे निर्धारित नहीं कर सकते। हमारा अभिमान कि हम बालक के भविष्य के निर्माता बन सकते हैं और उसके चरित्र को जिधर चाहें मोड़ दे सकते हैं बालकों के जीवन को

बिगाड़ना है। बालक प्रेम से ही किसी विशेष ओर मोड़े जा सकते हैं, भय और चिन्ता से नहीं। हमारी चिन्तायें बालक को उसी ओर ले जाती हैं जिस ओर हम उसके जाने का भय करते हैं।

जब बालक घर में नहीं रहना चाहे तो उसे योग्य छात्रावास में रखना चाहिये। यदि हो सके तो उसे किसी योग्य व्यक्ति की संरक्षता में रखना ठीक होता है। नये वातावरण में बालक नये जीवन का निर्माण करता है। उसके पुराने संस्कारों का अन्त हो जाता है।

उक्त लड़का अभी तक अपनी परीक्षायें पास कर सका, यह इस बात का द्योतक है कि *वह सर्वथा निकम्मा नहीं है। उसमें आत्म-*सुधार की क्षमता है। उसकी शक्ति को उचित मार्ग पर प्रवाहित करने मात्र की आवश्यकता है। जहाँ बालक पढ़ना चाहता है वहाँ उसे जाने की सुविधा दी जानी चाहिये; फिर उसे वे सब सुविधायें दे जिससे पढ़ाई ठीक से चल सके। जो बालक एक ओर ठीक हो जाता है वह सभी ओर ठीक हो जाता है। उसका खोया हुआ आत्मविश्वास फिर से चला आता है। जब बालक में आत्म-सम्मान का भाव आ जाता है और उसे विश्वास हो जाता है कि वह महान् पुरुष होनेवाला है तो उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आ जाती है।

लेखक ने उपर्युक्त विचारों को बालक के पिता को लिखा।

पिता ने अपने एक पत्र में सभी भूलें स्वीकार कीं। उसने लिखा—"आपका मेरे पुत्र की समस्या पर विचारपूर्ण पत्र मिला। उसके लिये हार्दिक धन्यवाद। आपका पत्र पाकर मुझमें आशा का संचार हुआ, साथ ही आश्चर्य भी। अपनी स्थिति पर शोक हुआ, इसलिये कि मैं बचपन में जहाँ का तहाँ रहा। अध्यात्मिक पथ पर अधिक अग्रसर न हो सका।

आपने अपने पत्र में जो कुछ लिखा है, उसका अक्षर-अक्षर मुझे सही जँचता है। हो सकता है कि उस चरित्र बालक के साथ में मेरे

गलत व्यवहार ने उसकी जटिलता को और भी बढ़ा दिया हो। उसकी त्रुटियाँ उसके साथियों को, स्थानीय कालेज के प्रोफ़ेसरों को तथा स्थानीय जनता में भी किसी-किसी को ज्ञात हैं। सहपाठी उसे परेशान करते हैं। उसकी त्रुटियाँ ज्ञात होने पर मैं अपनी कमजोरी में अपने को रोक नहीं पाता। उससे कहता ही नहीं, उस पर समालोचना करता तथा कभी-कभी उसे बुरा-भला भी कह बैठता हूँ। वह भावुक स्वभाव का भी है। मेरी बात नहीं सहेगा। भाग जावेगा। अनेकों बार भाग चुका है। गत तारीख ६ जुलाई को भी वह यह कहने पर कि मैं दूसरी जगह न पढ़ाऊँगा घर से भाग गया। तीन दिन अपने सहपाठी एक मित्र के यहाँ रहकर वहाँ से चला गया। चालीस रुपया घर से निकाल ले गया था और एक पत्र अँग्रेजी में लिख गया था कि परमात्मा ने सहायता की तो वह जल्द न लौटेगा। मैंने उसे तलाश करने का कोई प्रयत्न आज तक नहीं किया। आज से कर रहा हूँ। मैंने केवल हाईस्कूल पास किया था। बाद में रुड़की चला गया। मनोविज्ञान मैंने कहाँ सीखा? मुझे पढ़ने की रुचि है। कल्याण, हरिजन, इत्यादि के अतिरिक्त लगभग सौ पुस्तकें अँग्रेजी में तथा हिन्दी में अपनी लाइब्रेरी में बना ली हैं। अवकाश के समय इन आध्यात्मिक पुस्तकों का अवलोकन करता हूँ, किन्तु अभाग्यवश आज तक मनोविज्ञान की किसी भी पुस्तक का नाम तक न जान सका। तो भी इस प्रयत्न में अवश्य रहा।

मेरी टीका-टिप्पणी से इस बालक के मन में मेरे प्रति रोष तथा घृणा है। मैं उसे किसी कालेज में भर्ती करा देता किन्तु आज-कल कहीं भी उचित निगरानी नहीं होती। चूँकि अब वह यहाँ पढ़ने से इन्कार करता है मैं नहीं देखता, सोचने पर भी नहीं सोच पाता कि उसे दूसरी जगह कहाँ भेजना चाहिए। मुझे उसके लिए आपसे अधिक योग्य तथा हितैषी संरक्षक कहाँ मिल सकता है। मैं उसे बनारस भेजने

को तैयार हूँ। वह प्रसन्नता से जाना पसन्द करेगा। मैं एक सप्ताह के अन्दर उसे बुलाने का प्रयत्न करूँगा।"

उपर्युक्त पत्र में पिता ने पुत्र के प्रति अपने व्यवहार की भूलों को स्वीकार किया है। वह बालक का कल्याण चाहता है अतएव उन भूलों को सुधारने के लिये तैयार है। यदि सभी पिता इसी प्रकार अपनी भूलों का सुधार करते रहें तो बालक का जीवन वैसा दुखी न हो जैसा अन्यथा हो जाता है और न पिता को भी अनावश्यक मानसिक क्लेश उठाना पड़े।

पिता-पुत्र संघर्ष

पिता-पुत्र के संघर्ष का प्रारंभ तो बालक की शैशवावस्था से ही होता है पर वह बालक की किशोरावस्था में उग्ररूप धारण करने लगता है। इसके पूर्व बालक पिता के कठोर व्यवहार को सहते जाता है, वह उसका प्रतिकार करने की चेष्टा नहीं करता। किशोरावस्था में बालक पिता को किसी न किसी प्रकार कष्ट देने की योजना बनाने लगता है। वह घर से भी कभी-कभी इसलिये भाग जाता है जिससे कि पिता को कष्ट हो। जिन बातों से पिता पुत्र को रोकता है उन्हीं को करने की उसमें प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह पिता-पुत्र का संघर्ष बढ़ते ही जाता है। प्रौढ़ावस्था में यह गुप्त शत्रुता का रूप ग्रहण कर लेता है। इसके कारण न तो पुत्र की समुचित उन्नति होती है और न पिता का जीवन सुखी रहता है।

कितने ही पिता अपने लड़के की कमाई खाने के बड़े लालायित होते हैं। फलस्वरूप वे बालक के आगे पढ़ने में अनेक प्रकार की बाधायें डालते हैं। स्वामी रामतीर्थ के पिता स्वामी रामतीर्थ से उनके कॉलेज की पढ़ाई के समय इसलिये रुष्ट थे कि वे पिता की इच्छा के विरुद्ध विद्याध्ययन करते जा रहे थे। लेखक को ऐसे अनेक युवकों के पत्र मिलते हैं जिन्हें पिता की इच्छा के विरुद्ध विद्याध्ययन करना पड़ा

है। पिता के विरोध के कारण उनके मन में अनेक प्रकार की चिन्तायें उत्पन्न हो जाती हैं। ये चिन्तायें उनकी मानसिक शक्ति का व्यर्थ क्षय कर देती हैं। इसके कारण वे एकाग्रचित्त होकर पढ़ाई नहीं कर सकते और परीक्षा में उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पाते जितनी अन्यथा वे कर सकते हैं।

पिता-पुत्र के संघर्ष के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान ने महत्व का प्रकाश डाला है। जो पिता अपने जीवन में असफल होता है वह अपने पुत्र की सफलता का आन्तरिक मन से ईर्ष्यालु होता है। अतएव वह अपने पुत्र से तभी तक प्रेम करता है जब तक कि वह असफल रहता है। जब पुत्र पिता से अधिक सफलता अपने जीवन में पाने लगता है तो पिता उसकी सफलता में बाधा डालने लगता है। जीवन की सबसे बड़ी सफलता प्रेम प्राप्ति की सफलता है। जो पिता अपनी स्त्री का प्रेम प्राप्त करने में पूर्णतः सफल नहीं होता वही अपने पुत्र की उन्नति में बाधक होता है। उसे लड़के की कमाई खाने की चिन्ता लग जाती है। वह बात-बात में अपने ही पुत्र की आलोचना करता है। कभी कभी पिता को अपने पुत्र से आन्तरिक भय होता है कि कहीं उसका युवा पुत्र उससे किसी प्रकार का बदला न ले।

लेखक के पास कुछ दिन पूर्व एक किशोर बालक आया। वह घर से भाग कर ऋषीकेश जा रहा था। वह पहले भी घर से भाग चुका था। उसका पिता एक पटवारी है। यह लड़का स्थानीय इन्टर कालेज के द्वितीय कक्षा में पढ़ता है। वह प्रथम श्रेणी में परीक्षायें पास करता है। जब वह घर जाता है तो पिता आशा करता है कि लड़का उसे अपने काम में, अर्थात् खेतों की देखभाल करने में, सहायता दे। इस को न तो इस काम में रुचि है और न अभ्यास, अतएव वह इससे बचना ही चाहता है। वह पुस्तक लेकर बैठ जाता है। इससे पिता उसकी पढ़ाई से भी नाराज रहता है। कभी-कभी वह उसे भला बुरा

(अर्थात् अपनी स्त्री और बच्चे को लेकर) लड़का दूसरे घर में चला तो लड़के की माँ भी उसके साथ-साथ चली गई। अब तो पिता की स्थिति दयनीय हो गई। एक महीने के भीतर ही उसे यमी को बुलाना पड़ा। इस घटना के थोड़े दिन ही बाद, पिता असाध्य रोग से बीमार पड़ा और फिर उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार पिता का डेर का स्वप्न मृत्यु का सूचक सिद्ध हुआ। वास्तव में वह स्वप्न अपने पुत्र का ही स्वप्न था और पुत्र की उपस्थिति से ही पिता की समय के पूर्व मृत्यु हो गई।

इस परिवार में पिता पुत्र का संघर्ष पहले से ही था। पिता पुत्र को बचपन से ही बुद्धू समझता था। इस लड़के को अंग्रेजी भाषा, इतिहास भूगोल आदि विषय लेखक पढ़ाता था और उसका पिता उसे गणित पढ़ाता था। पिता अपने आपको गणित में बहुत होशियार मानता था। पर उसके पुत्र को गणित पढ़ाने का परिणाम यह हुआ कि उसे गणित बिलकुल न आई। किसी तरह वह इन्टर तक पढ़ सका और गणित में फेल होने के कारण ही उसे अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी। पुत्र परिश्रमी तो था ही। उसने दूसरा रोजगार सीखा और वह अब एक सफल कारीगरी का शिक्षक बन गया है। पिता उसे निकम्मा समझता था, पर उसने अपने पिता के जीते जी उतनी सफलता प्राप्त कर ली जितनी पिता ने न की थी। बालक का पिता न केवल अपनी स्त्री का पूर्ण प्यार प्राप्त करने में असफल रहा था, वरन् वह अन्यथा भी जीवन में असफल रहा। वह न तो उतना धन कमा सका जितना वह चाहता था और न वह समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर सका। पुत्र की सफलता उसे असह्य हो गई। जब उसके पुत्र का मान उससे भी अधिक होने लगा और जब पुत्र पिता की बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा तो पिता जीवित न रह सका। वह संसार से चल बसा।

जटिल बालकों की समस्या पर प्रकाश डालनेवाले बाल-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ श्री ए० एस० नील महाशय का कथन है कि बहुत से जटिल बालकों की समस्याओं का प्रधान कारण उनके प्रति पिता का अनुचित व्यवहार होता है। जटिल बालकों के उपचार के लिये माता-पिता की मानसिक जटिलताओं का उपचार करना आवश्यक है। जटिल माता-पिता की सन्तान जटिल होती है। पिता कभी कभी अपनी ही जटिलता को पुत्र में देखने लगता है। जो दोष पिता के चरित्र में रहते हैं, पर जिनका ज्ञान उसे नहीं रहता उनका आरोपण वह अपने पुत्र में करता है। फिर बार-बार पुत्र के विषय में विशेष प्रकार से सोचने से बालक में वे दोष वास्तव में आ जाते हैं जिनसे ऊपरी दृष्टि से पिता बालक को बचाना चाहता है। इस प्रकार कंजूस माता-पिता की संतान में चोरी की आदत का पड़ जाना स्वाभाविक होता है। कंजूस व्यक्ति सोचता है कि वह बड़ा अच्छा है। वह केवल अपनी खरी कमाई के पैसे को इकट्ठा करता है। पर वास्तव में पैसों को समाजोपयोगी कार्य में खर्च न कर, केवल अपने लिये ही उसे रख छोड़ना एक प्रकार की चोरी है। कंजूस व्यक्ति न केवल अपनी सन्तान की खाने पीने की इच्छाओं का अनुचित दमन करता है वरन् अपनी इच्छाओं का भी अनुचित दमन करता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम बालकों में चोरी की आदत का उत्पन्न हो जाना होता है। कंजूस व्यक्ति अपने आपसे चोरी करता है। बालक अपने पिता से चोरी करता है। इस चोरी की आदत को वह पिता के स्वभाव में रहती है। पिता जब सदा बालक से चोरी के विषय में तर्क करता है तो बालक में चोरी की आदत का बीजारोपण हो जाता है। जैसा बालक के विषय में बार-बार सोचा जाता है वैसा ही बालक बन जाता है। यदि बालक के विषय में भले विचार मन में प्रतिदिन लाये जायँ तो बालक भला व्यक्ति बन जाता है और यदि प्रतिदिन बालक

के विषय में किसी प्रकार के भय के विचार लाये जायँ तो वह उसी ओर चला जाता है। पिता के विचार बालक के लिये दुर्गति का कार्य करते हैं।

जो माता-पिता अपने बचपन में अनेक प्रकार की परतंत्रता सहते हैं वे अपने बच्चों को भी स्वतंत्रता के वातावरण में नहीं रखना चाहते। जिस प्रकार उनकी अपने बाल्यकाल में अनेक प्रकार की आलोचना होती थी, वे उसी प्रकार की आलोचना अपनी संतान की करना चाहते हैं। जब इस तरह की आलोचना उनकी सन्तान नहीं सहती तो वे उनसे रुष्ट हो जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप माता-पिता और सन्तान में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फिर जहाँ बच्चों और उनके अभिभावकों में आन्तरिक विरोध होता है वहाँ उनका किसी प्रकार का सुधार होना असंभव होता है। अभिभावकों की बातों से बालकों में प्रतिनिर्देश की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है और फिर बालक उन्हीं बातों को करने लगते हैं जिनसे पिता-माता अथवा अभिभावक बालकों को बचाना चाहते हैं।

कितने ही पिताओं को अनेक प्रकार की बुरी आदतें बचपन में रहती हैं। जब वे युवा अवस्था में आते हैं तो उन्हें भय रहता है कि कहीं उनकी सन्तान को उसी प्रकार की आदतें न लग जायँ, अतएव वे बालकों के आचरण के प्रति सतर्क रहते हैं। परन्तु कभी-कभी उनकी इस प्रकार की सतर्कता ही बालक में बुरी आदतों के आ जाने का कारण बन जाती है। माता-पिता की अधिक सतर्कता बाल[illegible] मानसिक स्वावलम्बन की योग्यता उत्पन्न न कर परावलम्बन की भ[illegible] उत्पन्न कर देता है। जब कभी ऐसे बालक माता-पिता की दृ[illegible] बचते हैं तो वे उन व्यसनों में लग जाते हैं जिनसे माता-पिता [illegible] बचाना चाहते हैं। जब तक बालक को भूल करने का पर्याप्त अ[illegible] [illegible] और उस पर आत्म-सुधार कर सकने का भरोसा [illegible]

किया जाता उसमें स्वावलम्बन का भाव नहीं आता। जो बालक सदा दूसरों की निगरानी में रहते हैं वे कदापि दृढ़ चरित्र के नहीं होते। दृढ़ चरित्र के बालक वे ही होते हैं जिन्हें स्वतंत्र रहने और भूल करने का पर्याप्त अवसर मिलता है।

प्रत्येक पिता का कर्तव्य है कि जब वह अपने पुत्र में किसी प्रकार की त्रुटि देखे तो वह अपना आत्म-निरीक्षण पहले करे। कभी-कभी पिता की परेशानी अपने पुत्र के कारण नहीं होती वरन् अपने आपके कारण ही होती है। पिता कितने ही कल्पित दोषों को अपने पुत्र के आचरण में देखने लगता है। कभी-कभी पिता सोचता है कि उसके पुत्र का भविष्य बड़ा अंधकारमय है। वास्तव में बात ऐसी नहीं होती, पिता का ही भविष्य अंधकारमय होता है और वह अपने अन्धकारमय भविष्य का आरोपण पुत्र पर करता है। जब कोई पिता उतावला होकर अपने पुत्र का आचरण सुधारने की चेष्टा करता है तो पुत्र का आचरण सुधरने के बदले और भी बिगड़ जाता है। बालक के आचरण का सुधार धीरे-धीरे ही होता है। इसके लिये बालक में स्वावलम्बन का भाव लाना, उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना नितांत आवश्यक है। बालक में ये गुण प्रेम और उत्साह की वृद्धि से आते हैं। जब बालक जानता है कि पिता उसे प्रेम करता है और अपने स्वार्थ के लिये नहीं, वरन् केवल बालक के कल्याण के लिये उससे विशेष प्रकार का आचरण कराना चाहता है तो वह अपने आचरण सुधारने की आन्तरिक प्रेरणा की अनुभूति करता है और इस प्रेरणा के कारण उसका वास्तविक सुधार भी हो जाता है। पिता का प्रेम ही बालक को आत्म-नियंत्रण का बल भी प्रदान करता है। आलोचना से हम बालक को उसकी त्रुटियों का ज्ञानमात्र करा सकते हैं, परन्तु हम उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं कर सकते जो आत्म-नियन्त्रण के लिये आवश्यक है। यह शक्ति माता-पिता तथा समाज के प्रेम से और उनके

के विषय में किसी प्रकार के भय के विचार लाये जायँ तो
उसी ओर चला जाता है। पिता के विचार बालक के लिये इ
का कार्य करते हैं।

जो माता-पिता अपने बचपन में अनेक प्रकार की यंत्रणा स
वे अपने बच्चों को भी स्वतंत्रता के वातावरण में नहीं रखना चाह
जिस प्रकार उनकी अपने बाल्यकाल में अनेक प्रकार की आलोच
होती थी, वे उसी प्रकार की आलोचना अपनी संतान की करना चा
हैं। जब इस तरह की आलोचना उनकी सन्तान नहीं सहती तो
उनसे रुष्ट हो जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप माता-पिता और सन्तान
में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फिर जहाँ बच्चों और उनके
अभिभावकों में आन्तरिक विरोध होता है वहाँ उनका किसी प्रकार का
सुधार होना असंभव होता है। अभिभावकों की बातों से बालकों में
प्रतिनिर्देश की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है और फिर बालक उन्हीं बातों
को करने लगते हैं जिनसे पिता-माता अथवा अभिभावक बालकों को
बचाना चाहते हैं।

कितने ही पिताओं को अनेक प्रकार की बुरी आदतें बचपन में
रहती हैं। जब वे युवा अवस्था में आते हैं तो उन्हें भय रहता है कि
कहीं उनकी सन्तान को उसी प्रकार की आदतें न लग जायँ, अतएव
वे बालकों के आचरण के प्रति सतर्क रहते हैं। परन्तु कभी-कभी
उनकी इस प्रकार की सतर्कता ही बालक में बुरी आदतों के आ जाने
का कारण बन जाती है। माता-पिता की अधिक सतर्कता बालक में
मानसिक स्वावलम्बन की योग्यता उत्पन्न न कर परावलम्बन की भावना
उत्पन्न कर देता है। जब कभी ऐसे बालक माता-पिता की दृष्टि से
बचते हैं तो वे उन व्यसनों में लग जाते हैं जिनसे माता पिता उन्हें
बचाना चाहते हैं। जब तक बालक को भूल करने का पर्याप्त अवसर
नहीं दिया जाता और उस पर आत्म सुधार कर सकने का भरोसा नहीं

किया जाता उसमें स्वावलम्बन का भाव नहीं आता। जो बालक सदा दूसरों की निगरानी में रहते हैं वे कदापि दृढ़ चरित्र के नहीं होते। दृढ़ चरित्र के बालक वे ही होते हैं जिन्हें स्वतंत्र रहने और भूल करने का पर्याप्त अवसर मिलता है।

प्रत्येक पिता का कर्तव्य है कि जब वह अपने पुत्र में किसी प्रकार की त्रुटि देखे तो वह अपना आत्म-निरीक्षण पहले करे। कभी-कभी पिता की परेशानी अपने पुत्र के कारण नहीं होती वरन् अपने आपके कारण ही होती है। पिता कितने ही कल्पित दोषों को अपने पुत्र के आचरण में देखने लगता है। कभी-कभी पिता सोचता है कि उसके पुत्र का भविष्य बड़ा अंधकारमय है। वास्तव में बात ऐसी नहीं होती, पिता का ही भविष्य अंधकारमय होता है और वह अपने अन्धकारमय भविष्य का आरोपण पुत्र पर करता है। जब कोई पिता उतावला होकर अपने पुत्र का आचरण सुधारने की चेष्टा करता है तो पुत्र का आचरण सुधरने के बदले और भी बिगड़ जाता है। बालक के आचरण का सुधार धीरे-धीरे ही होता है। इसके लिये बालक में स्वावलम्बन का भाव लाना, उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना नितांत आवश्यक है। बालक में ये गुण प्रेम और उत्साह की वृद्धि से आते हैं। जब बालक जानता है कि पिता उसे प्रेम करता है और अपने स्वार्थ के लिये नहीं, वरन् केवल बालक के कल्याण के लिये उससे विशेष प्रकार का आचरण कराना चाहता है तो वह अपने आचरण सुधारने की आन्तरिक प्रेरणा की अनुभूति करता है और इस प्रेरणा के कारण उसका वास्तविक सुधार भी हो जाता है। पिता का प्रेम ही बालक को आत्म-नियंत्रण का बल भी प्रदान करता है। आलोचना से हम बालक को उसकी त्रुटियों का ज्ञानमात्र करा सकते हैं, परन्तु हम उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं कर सकते जो आत्म-नियन्त्रण के लिये आवश्यक है। वह शक्ति माता-पिता तथा समाज के प्रेम से और उनके

प्रोत्साहन से बालक में आती है। दोषान्वेषण और
बालक का वास्तविक कल्याण नहीं होता। इससे बालकों के
पिता के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और पिता की शिक्षा व्यर्थ
बालक के गुणों पर विचार करते हुए उसे रचनात्मक काम में
से बालक का वास्तविक सुधार होता है।

बालक का नैतिक स्वत्व

ऊपर जो कुछ पिता पुत्र के सम्बन्ध में कहा गया है उससे
स्पष्ट है कि कोई भी पिता बालक की इच्छाओं की अवहेलना करके
अथवा उनका कठोरता से दमन करके उसका समुचित मानसिक
विकास करने में समर्थ नहीं होता। परन्तु प्रत्येक पिता का काम है
कि बालक में आत्म-नियंत्रण की क्षमता को उत्पन्न करे और इससे
पुत्र के नैसर्गिक आचरण को सुधारे। बालक को यदि प्रकृति पर ही
छोड़ दिया जाय तो वह पाशविक अवस्था में ही बना रहेगा। जिस
प्रकार पशुओं में आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं रहती उसी प्रकार
प्राकृतिक रूप से पाले गये बालक में भी आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं
रहती। इस प्रकार बालक न अपने जीवन को सुखी बनाता है और न
वह समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। शिक्षा का ध्येय बालक
को सुखी और सुयोग्य नागरिक बनाना है।

प्रकृतिवाद के उपासक कभी-कभी बालक की स्वतंत्रता में किसी
प्रकार की बाधा को सह नहीं सकते। वे बालक को सभी प्रकार से
स्वतंत्र करना चाहते हैं। पर प्रकृतिवाद की इस प्रकार की उपासना
उनकी भूल है। मानव स्वभाव पशु स्वभाव से भिन्न वस्तु है। यदि
मानव प्रकृति को पशु प्रकृति के समान ही मान लिया जाय और बालक
को उसी प्रकार अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करने की स्वतंत्रता दे दी
जाय जिस प्रकार पशु को रहती है तो बालक में उन विशेष गुणों का
प्रादुर्भाव ही न होगा जो उसे संसार के सभी प्राणियों से श्रेष्ठ बनाते हैं।

बुरा समझने लगता है और ऐसे संसार में जीना व्यर्थ मानता है।
जो बालक बचपन में कठोर वातावरण में रहता है वह मंदा डरपोक हो जाता है। प्रेम का वातावरण ही बच्चे को साहसी बना है। ऐसा व्यक्ति बड़ा स्वार्थी और दूसरों से ईर्ष्या करनेवाला होता है। उससे उदारता के विचार कोसों दूर रहते हैं। वह दूसरे लोगों को बढ़ते हुए देख कर प्रसन्न न होकर दुःखी होता है। ऐसा व्यक्ति अपने आश्रितों से कठोरता से काम लेता है। मनुष्य दूसरों को वही देता है जो उसे बचपन में दूसरों से मिलता है। जिस व्यक्ति को अपने बचपन में दूसरों से प्रेम मिलता है वह भी दूसरों से प्रेम करता है और जहाँ वह जाता है वहाँ प्रेम का वातावरण उत्पन्न कर देता है। वह अपने साथियों को एक दूसरे से प्रेम करने की और एक दूसरे की सेवा करने की सलाह देता है। इसके प्रतिकूल जिस व्यक्ति को अपने बचपन में मार-पीट और तिरस्कार ही अधिक मिले हैं वह प्रौढ़ होने पर दूसरों को यही बातें देता है। वह दूसरों के सद्गुणों को न देखकर दुर्गुणों को ही देखता है। उसमें दूसरों को सुधारने की, उन्हें दण्ड देने की और अपनी प्रभुता जताने की इच्छा कूट-कूट कर भरी रहती है।

कुछ दिन पूर्व लेखक से एक शिक्षक ने एक चौदह वर्षीय बालक का आचरण सुधारने के विषय में मनोवैज्ञानिक सलाह पूछी। पत्र में बालक का परिचय इस प्रकार कराया गया था।

लड़का एक करोड़पति का है। परिवार निहायत सामान्य है। लड़का चौथी कक्षा में पढ़ता है। लड़के की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) लड़के की माता का स्वर्गवास हुए पाँच वर्ष हुए। अब विमाता । किन्तु उसके व्यवहार से लड़के को कोई शिकायत नहीं है। [illegible] में लड़का निहायत तेज है किन्तु वह पढ़ना नहीं, [illegible] का बहुत शौक है। (२) इसके चचा-जात [illegible] हैं। वह इनसे बहुत जलता है। वह चाहता है

बालक को इसी प्रभाव का ही मानना चाहिये जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। ऐसे बालक के मन में एक ओर प्रभुता के विचार आते हैं और दूसरी ओर निराशावादी विचार आते हैं। उसमें चित्त एकाग्र करने की शक्ति नहीं रहती और वह स्वभावतः उद्दण्ड बन जाता है। यदि ऐसे बालक को अपने घर से अलग रखा जाय तभी अच्छा होता है। कभी-कभी ऐसे बालकों का सुधार स्कूल के बोर्डिंग से हो जाता है।

उपर्युक्त पत्र लेखक को अपने कालेज में उस समय मिला जब वह मनोविज्ञान में विशेष रुचि रखनेवाले शिक्षकों को पढ़ा रहा था। कक्षा में पन्द्रह, बीस के करीब शिक्षक थे। लेखक ने इस पत्र को इन शिक्षकों के समक्ष पढ़ कर सुनाया और उनसे बालक का आचरण सुधारने के लिये सलाह माँगी। इस पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न सलाह दी। इनमें से एक शिक्षक ने जिसकी उमर कोई पचीस वर्ष की थी सलाह दी कि उस बालक को उसका भाग देकर अलग कर दिया जाय तभी वह सुखी रह सकता है। जब तक वह घर में रहेगा तब तक कभी सुखी न रहेगा और उसके आचरण का कभी सुधार न होगा। कक्षा समाप्त होने पर लेखक ने उक्त शिक्षक को रोक लिया और उसे अकेले में अपने विचारों को भली प्रकार से समझाने को कहा। उसकी उचित राय का कारण पूछा। उसने कहा कि जिस बालक के विषय में पत्र लिखा है वह विमाता के भाव को सह रहा है। ऐसे बालक को चाहे जितना ही भली प्रकार से रखा जाय वह कभी सुखी नहीं रह सकता। उसे हर समय यह ज्ञान रहता है कि मुझे कोई प्यार नहीं करता, सभी लोग मुझे धोखा देने की चेष्टा करते हैं। इस शिक्षक ने बताया कि मेरे भी विमाता है। जब मैं छोटा बालक था उस समय मन से बहुत दुःखी मेरे मन में बार-बार आता था कि घर के सभी लोग मर अच्छा होता। मैं कभी-कभी स्वयं ही अपने सम्बन्धियों

को मार डालने की कल्पना किया करता था। मैं घर में रहना कभी नहीं पसंद करता था। मेरा जन्म बनारस में हुआ और मेरे माता-पिता बनारस में रहते हैं परन्तु मैंने शिक्षा कानपुर में पायी और वहाँ के बोर्डिंग हाउस में रहा। जब मैं घर में रहता था तो मुझे बहुत ही बुरे-बुरे विचार मन में आते थे। ये विचार कभी-कभी कानपुर में भी आ जाते थे और इनके कारण मेरा बहुत सा समय बर्बाद हो जाता था। इस प्रकार की प्रतिभा होते हुए भी मैं परीक्षा में अच्छी तरह से योग्यता नहीं दिखा पाता था। मेरे दुःखदायी विचार चित्त की एकाग्रता होने में बाधक होते थे।

इस शिक्षक के आत्म-अनुभव के वर्णन से लेखक को निश्चय हुआ कि जिस बालक को विमाता के आश्रय में रहने का अवसर मिलता है उसको सदाचारी और स्वस्थ बनाना बड़ा कठिन है। विमाता के द्वारा पाला गया बालक प्रेम का भूखा होता है। प्रेम का भूखा बालक दुःखी रहता है। जो बालक आन्तरिक मन से दुःखी होता है वह न तो मानसिक स्वास्थ्य और न शारीरिक स्वास्थ्य उपभोग कर सकता है। मनुष्य तभी तक स्वस्थ रहता है जब तक उसके मन में आनन्द की स्थिति रहती है। यह स्थिति मानसिक साम्य की स्थिति है। विषमता ही मानसिक रोग है जो शारीरिक रोगों में भी कभी-कभी प्रकाशित होता है।

प्रेम की भूख और दुराचरण

प्रेम के भूखे बालक का सदाचारी होना बड़ा कठिन है। प्रेम का भूखा बालक अपनी आन्तरिक कमी की अनुभूति करता है। आन्तरिक कमी मनुष्य को सदा बेचैन बनाये रखती है। इस बेचैनी और कमी को भुलाने के लिये ही मनुष्य ऐसे व्यसनों में पड़ता है जो समाज से निन्दनीय समझे जाते हैं। ऐसे बालकों में चोरी, नशाखोरी, जुआ खेलना, हस्तमैथुन, और अनेक प्रकार के दूसरे व्यभिचारों की आदत पड़ जाती है। वे आदतें बालक को मारने पीटने से और भी कठिन हो

जाती हैं। बालक को इन आदतों के कारण मारने-पीटने से वह आदतों का अनौचित्य नहीं समझता। वह अपने अभिभावकों शिक्षकों के प्रति द्वेष-भाव मन में लाता है। ऐसा बालक आगे चल समाज का शत्रु बन जाता है। वह दूसरों को कष्ट देने में ही आनन्द की अनुभूति करता है। उसकी मनोवृत्ति ध्वंसात्मक हो जाती है। [illegible] दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने की चेष्टा करता है। उसमें [illegible] ढोंग और दूसरों को ठगने की मनोवृत्ति का प्राबल्य हो जाता है। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे इस बात को समझें कि कोई भी स्वस्थ और सुखी बालक दुराचारी नहीं होता और मानसिक स्वास्थ्य के बने रहने का एकमात्र उपाय बालक को उचित प्रेम देना ही है। जो बालक अपने अभिभावकों और शिक्षकों का उचित प्रेम पाता है वह दुर्व्यसनों में अपने आपको नहीं लगाता। यदि ऐसा बालक किसी बुरी संगति में पड़ भी जाए तो इसके कारण जो बुरी आदतें उसमें पड़ जाती हैं वे आन्तरिक [illegible] के अभाव में शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि किसी भी बुरी आदत की जड़ बालक के वातावरण में नहीं [illegible] वह उसके मन में रहती है। पुराने मनोवैज्ञानिकों का कथन था कि आदत किसी विशेष प्रकार के अभ्यास के कारण पड़ती है, और उसका आधार व्यक्ति का अभ्यास मात्र है। नवीन मनोविज्ञान इस सिद्धान्त से भिन्न सिद्धान्त स्थिर करता है। नवीन मनोविज्ञान के कथनानुसार किसी भी आदत की जड़ व्यक्ति के अभ्यास में नहीं है वरन् उसके संवेगात्मक मनोभावों में है। प्रत्येक बुरी आदत की जड़ व्यक्ति के मन में रहने वाली किसी मानसिक ग्रन्थि में रहती है। ये ग्रन्थियाँ व्यक्ति के बाल्य-काल में ही पड़ जाती हैं और जब तक इन ग्रन्थियों का निराकरण नहीं होता बुरी आदतों का जड़ से जाना असम्भव है।

[illegible] मनुष्य के मन में मानसिक ग्रन्थि बनी रहती है और दमन के [illegible] कहूँ भी बुरी आदत को हटाने की चेष्टा की जाती है तो वह [illegible]

आदत जड़ से न जाकर दूसरे किसी बुरी आदत के रूप में प्रकाशित हो जाती है। मान लीजिये किसी बालक में हस्त मैथुन की आदत है। यदि बालक की ग्रन्थि को नष्ट किये बिना इस आदत को हटाने की चेष्टा की जाय तो वह रूपान्तरित होकर नशाखोरी की आदत अथवा चोरी करने की आदत में प्रकाशित होती है। यदि किसी भी प्रकार से मानसिक ग्रन्थि के विकार को प्रकाशित न होने दिया जाय तो वह अन्तिम मानसिक रोग का रूप धारण कर लेती है। मानसिक विकार स्थायी रूप से तभी हटते हैं जब बालक के आन्तरिक मन से उस कमी को हटा दिया जाता है जिसकी वह अनुभूति करता है और तब उसकी बुरी आदतें अपने आप नष्ट हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसका मन ध्वंसात्मक कार्य में न लग कर रचनात्मक कार्य में लगने लगता है। जब बालक का मन रचनात्मक कार्य में लग जाता है तो उसकी नित्य उत्पादन होनेवाली शक्ति अपने प्रकाशन के लिये विकृत मार्ग ग्रहण न कर वैध मार्ग से प्रकाशित होने लगती है। रचनात्मक कार्यों से बालक को रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। जो बालक रचनात्मक आनन्द को एक बार अनुभूत कर लेता है वह विषय सुख का कौतुक नहीं रह जाता है। ऐसा बालक जो कुछ भी करता है उससे अपना और दूसरों का लाभ होता है।

इससे स्पष्ट जनाता है कि शिक्षक द्वारा कभी कभी बालक का जीवन दुःखी होता है। ऐसे बालक को न [illegible] का [illegible] मिलता है और न [illegible]। [illegible] अपना द्वेष शिक्षक को दे देता है। [illegible] शिक्षक बालक को हर तरह अपने वश में [illegible] किया करते हैं, जिससे बालक [illegible] का द्वेष बालक से हट जाता है। इसी के परिणामस्वरूप बालक [illegible] [illegible] और दुराचार के शिकार बनते हैं। यदि [illegible] के [illegible] [illegible] बालक का [illegible] [illegible] [illegible] वह बालक के लिये बड़ा कल्याणकारी हो। अतः यदि

पिता अपने पुत्र को उतना ही प्रेम दे सके जितना कि उसे माता से मिल सकता है तो बालक स्वस्थ और सदाचारी हो जाता है। परन्तु ऐसा होना बड़ा कठिन होता है। शिशु का अच्छा लालन-पालन उसकी माता ही कर सकती है। पिता का काम अधिकतर घर के बाहर रहता है। अतएव अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी पिता को अपने बच्चे को किसी दूसरे व्यक्ति के सुपुर्द कर देना पड़ता है। इसके कारण बालक का मानसिक विकास वैसा नहीं होता जैसा कि सुखी जीवन के लिये आवश्यक है।

प्रेम की भूख और निराशावादिता

प्रेम की भूख के कारण बालक के मन में अनेक प्रकार के निराशावादी विचार आते ही रहते हैं और यदि इन विचारों का दोहन हुआ तो ये विचार उसे आत्महत्या की ओर ले जाते हैं। इससे व्यक्ति को मेलनकोलिया की बीमारी उत्पन्न हो जाती है।

भगवान बुद्ध की माँ उनके जन्म के सातवें दिन मर गई थीं। उनका लालन-पालन उनकी मौसी ने किया। उन्हें अपनी माँ का दूध तक पीने को न मिला। जिस बालक को अपनी माँ का दूध पीने को नहीं मिलता वह अपने आन्तरिक मन से संसार से निराश हो जाता है। भगवान बुद्ध बचपन से ही संसार के प्रति विरक्त थे। उनके इस भाव को उनके पिता पहचान गये थे। अतएव पिता ने उन्हें अनेक प्रकार की मनोरञ्जन की सामग्री देकर उनके विरक्त भाव को भुलाने की चेष्टा की। उन्हें सभी प्रकार के विषय सुख दिये जाते थे। परन्तु उनका मन इनमें नहीं लगता था। वे संसार को दुःखरूप ही देखते थे। मनुष्य की जैसी आन्तरिक भावना होती है वह अपने वातावरण में भी अपने विचारों को पुष्ट करनेवाली उसी प्रकार की सामग्री को पाता है। आन्तरिक मन से दुःखी व्यक्ति संसार को दुःखरूप देखता है और जिस व्यक्ति का आन्तरिक मन आनन्द-मय है वह संसार को आनन्दमय

जाता है। आन्तरिक मन से दुःखी व्यक्ति का मन स्वभावतः उसी ओर आकर्षित होता है जिस ओर दुःख अपना प्रसार दिखा रहा है। वह संसार की साधारण घटनाओं का विशेष प्रकार का अर्थ लगाता है और अपने विचारों को पुष्ट करने के लिये उसे पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। भगवान बुद्ध के जीवन में यही देखा जाता है। उनका सारा जीवन तथा दर्शन संसार को दुःखरूप बताता है। इसलिये ही 'बौद्ध-दर्शन' को निराशावादी दर्शन कहा है। बुद्ध भगवान ने अपने प्रयत्न से अपनी निराशा की भावनाओं का शोध किया और निराशावाद को समाज के सामने इस रूप से रखा जिससे समाज का कल्याण हो। उनका जीवन यह दर्शाता है कि प्राकृतिक रूप से संसार दुःखरूप है परन्तु मनुष्य अपने प्रयत्न से प्रकृतिजन्य दुःख से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार का दर्शन यदि हम बुद्ध भगवान के व्यक्तिगत अनुभव का सामान्यीकरण मानें तो अत्युक्ति न होगी। प्रकृति ने बुद्ध भगवान पर कृपा नहीं की। उसने उन्हें माता के प्रेम से वंचित कर दिया। माता ही बालक के लिये कृपा का मूर्तिमान रूप है। अतएव उनका यह निष्कर्ष उनके अनुभव के अनुकूल ही है कि प्रकृति किसी व्यक्ति पर कृपा नहीं करती और संसार की कृपा एक भुलावा मात्र है।

जो बात बुद्ध भगवान के जीवन में देखी जाती है वही हजरत ईसा और कबीर के जीवन में भी देखी जाती है। दोनों ही माता के प्रेम से वंचित रहे और दोनों के विचार मूलतः निराशावादी थे। इस निराशावाद का शोध सत्संग के द्वारा हुआ। जो विचार सत्संग के अभाव में आत्मघात की भावना और मेलेनकोलिया की बीमारी को उत्पन्न करते हैं वे ही विचार सत्संग के प्राप्त होने पर समाज का कल्याण करनेवाले, संसार से निर्लिप्त बनानेवाले दार्शनिक विचारों में प्रकाशित होते हैं। सभी वैराग्यप्रधान दार्शनिकों के बाल्य-जीवन में अपने माता-पिता के प्रेम की कमी पायी जाती है। यह बात जर्मनी के

प्रसिद्ध दार्शनिक आर्थर शोपनहार के जीवन और उनके दार्शनिक विचारों से स्पष्ट होती है। शोपनहार अपनी माता के प्रेम से वंचित रहे, किशोरावस्था में उनकी माता ने उनको घर से बाहर निकाल दिया। फिर वे संसार में न घुसे। न तो उन्होंने शादी विवाह किया और न धन कमाया। वे इन दोनों के बातों विरोधी थे। बुद्ध भगवान् की शिक्षा ही उन्हें सर्वोत्कृष्ट दिखाई दी। बुद्ध भगवान् से उनकी आत्मिक तादात्मीयता हो गई। स्वयं उनके दार्शनिक विचार मनुष्य को संसार से विरक्त करने वाले हैं। सत्संग के कारण उनके निराशावादी विचारों का शोध हुआ और उनके विचार समाज का कल्याण करनेवाले सिद्ध हुए। पर हमें इसके कारण इस सत्य को न भूल जाना चाहिये कि उनकी निराशावादिता व्यक्तिगत अनुभूति थी और उनकी प्रदलशीलता जनसाधारण के लिये उपादेय वस्तु है।

बालक की उपेक्षा का परिणाम

जब किसी घर में कई बालक होते हैं तो प्रायः उनमें से किसी एक की उपेक्षा हो जाती है। ऐसा उपेक्षित बालक दूसरे बालकों के प्रति अनेक प्रकार की अशद्भावना मन में लाता है। वह अपने भाई बहिन का ईर्ष्यालु हो जाता है। उसके अशुभ विचारों के कारण उसके मानसिक विकास में रुकावट होने लगती है। जिस प्रकार मनुष्य के उदार विचार सभी मानसिक शक्तियों का विकास करते हैं, उसी प्रकार उसके अनुदार विचार उनका ह्रास करते हैं। जो बालक मन ही मन अपने भाई-बहनों को कोसा करता है वह अपना मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगा पाता। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा बन जाता है। जब वह किसी बालक की उन्नति की खबर सुनता है तो वह इससे दुखी हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास यदि बहुत दिन तक रहा तो वह उस बालक के स्वभाव का भाग बन जाता है। ऐसा बालक प्रौढ़ावस्था में दुर्भाग्य बड़ा ईर्ष्यालु होता है। वह अपने बराबरीवालों की उन्नति

तो देख ही नहीं सकता, अपने शिष्यों और संतान की उन्नति से भी ईर्ष्या करता है।

माता-पिता की उपेक्षा का भाव बालक के मन में एक मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थिवाला व्यक्ति न केवल अपने बराबरीवालों की उन्नति को नहीं चाहता वरन् अपने शिष्यों की सफलता का भी ईर्ष्यालु हो जाता है।

जब किसी बालक को पहले अधिक प्यार किया जाता है और एक दूसरे बालक के उत्पन्न होने पर उसकी उपेक्षा की जाती है तो वह इस नये बालक के प्रति बहुत सी बुरी भावनाएँ अपने मन में लाता है। वह कभी कभी सोचता है कि यह बालक मर जाता तो अच्छा था। अधिक मानसिक क्लेश की अवस्था में वह अपने सभी परिवार के लोगों का मरना चाहने लगता है। और इस विचार के कारण उसके मानसिक विकास में अनेक प्रकार की रुकावटें उत्पन्न होने लगती हैं। इस प्रसंग में बेंजुमिन डम्वेल महाशय का "दी फंडामेन्टल्स आव् साइकोलोजी" नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।—

एक नौ वर्ष की बालिका को फ्रेंच भाषा पढ़ने में इसलिए कठिनाई होने लगी कि वह शब्दों के बहुवचन बनाने के नियमों को याद नहीं रख सकती थी। इस बालिका के एक चार वर्ष का छोटा भाई था। इस बालक के जन्म होने के पूर्व माता-पिता का सारा प्रेम उस लड़की ही पर था। वह छोटा भाई पहले तो अपनी बहिन को सभी प्रकार से प्रसन्न करता था। जो कुछ बहिन करती थी वह सब करता था। परन्तु कुछ महीने पूर्व उसका अपने बहिन के प्रति यह भाव बदल गया था। तब वह अपनी बहिन का अनुकरण न करके कई एक बातों में ठीक उसके प्रतिकूल काम करता था। जब कभी वह दूकानदारी का खेल खेलता था तो वह घर में आए हुए मेहमानों से पूछता

था कि वे उसकी दूकान से शराब लेंगे अथवा उसकी बहिन की दूकान से। इस तरह वह अपनी बहिन की द्वेष बुद्धि को और बढ़ा देता था। इस समय इस बालिका को कुछ विशेष अर्थ के स्वप्न होते थे। वह बारबार अपने स्वप्नों में देखती थी कि उसके सभी मित्र और सम्बंधी मर गए हैं और वह अकेली ही रह गई है। इस स्वप्न ने उसके आन्तरिक मन के भावों को व्यक्त कर दिया और मनोवैज्ञानिक को उसकी फ्रेंच के बहुवचन याद करने में कठिनाई का कारण स्पष्ट कर दिया। यह बालिका बहुवचन नहीं चाहती थी। दूसरे लोग उसे बुरे लगते थे। उसका आन्तरिक मन उनका मरना चाहता था। इसी कारण उसे एक वचन ही याद रहता था। वह बहुवचन को भूल जाती थी। अर्थात् इस प्रकार वह अपनी महत्ता को बनाये रखती थी।

जब कभी बालक के मानसिक विकास में ऊपर बताई गई कठिनाई के समान कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तो उनको दूर करने का एकमात्र उपाय बालक के प्रति अपना उपेक्षा-भाव बदलना होता है। जब उपेक्षित बालक के प्रति सम्मान का भाव दिखाया जाने लगता है और जब वह बालक परिवार में अपना खोया हुआ स्थान फिर से प्राप्त कर लेता है तो उसकी पढ़ाई की अथवा दूसरे प्रकार के व्यवहार की त्रुटियाँ हट जाती हैं। और वह उसी प्रकार की प्रतिभा अथवा सदाचार दिखाने लगता है जैसा कि वह पहले दिखाता था।

इस प्रसंग में लेखक के एक मित्र का अपने बच्चों के व्यवहार सम्बन्धी निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है। लेखक के मित्र के दो बच्चे हैं। इनमें से बड़ा बच्चा जब ६ वर्ष का था और छोटा बालक तीन वर्ष का था तब वह जब कभी अपने छोटे भाई को अकेले पाता था तो उसे पीट देता था। छोटा भाई इस पर खूब चिल्लाता और रोता था। जब माँ इस छोटे बच्चे की चिल्लाहट को सुनती थी तो वह छोटे ... दौड़ कर आती और उसको गोदी में उठा कर पुचकारने

पुचकारने लगती थी। वह बड़े भाई को खूब डाँटती थी। इस प्रकार के डाँटने डपटने से उसके बड़े भाई का व्यवहार अपने छोटे भाई के प्रति नहीं सुधरा; अपितु और भी बिगड़ गया। एक दिन यह बड़ा भाई अपने छोटे भाई को घर से कुछ दूर ऐसी जगह ले गया जहाँ पर कि सड़क रेल के पार जाती थी। वह छोटे भाई को रेल की पटरी के पास छोड़ कर भाग आया। इस बात का पता गाँव के दूसरे लोगों को लग गया। वे बच्चे को उठा कर घर ले आए। जब इस बात की खबर बच्चे के पिता को लगी तो उसने बालक के इस असाधारण व्यवहार का कारण जानने की चेष्टा की। वह एक मनोवैज्ञानिक है। अतएव उसे शीघ्र ही पता लग गया कि माता का छोटे बालक के प्रति अधिक प्रेम दिखाना और बड़े बालक के प्रति अपेक्षाकृत उपेक्षा का भाव रखना ही बड़े बालक के व्यवहार में असाधारणता का कारण है। उसने अपनी धर्मपत्नी को सलाह दी कि वह कभी भी छोटे बालक को बड़े बालक के सामने अधिक प्यार न दिखावे। यदि घर में कोई चीज आवे तो वह पहले बड़े ही बालक को दे दे और उससे फिर अपने छोटे भाई को देने के लिए अनुरोध करे। घर में आई हुई वस्तुओं का हिस्सा करने का काम सदा बड़े बालक को दिया जाय।

जब अपने पति की सलाह मानकर बच्चों की माँ ने दोनों बालकों के प्रति अपना व्यवहार बदला तो बड़े बच्चे के आचरण में आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा गया। वह अब छोटे भाई को खूब प्यार करने लगा। जब कभी उसे कोई खिलौना दिया जाता तो वह उसे अपने छोटे भाई को दे देता। वह स्वयं छोटे भाई के खेलने के लिए मिट्टी के बर्तन का खेल, घोड़े आदि बना देता था। वह छोटे भाई को उँगली पकड़ कर अपने साथ ले जाता और यदि कोई दूसरा बालक उसे खेल मेल में मारता तो वह उससे लड़ बैठता था। अब वह अपने छोटे भाई के बिना कभी भी अकेला रहना पसन्द नहीं करता

था। इस प्रकार छोटे बालक का दुश्मन ही उसका परम मित्र बन गया और माता को यह आवश्यकता न रही कि वह छोटे बालक को बड़े बालक की मार-पीट से बचावे।

जो बालक अपनी शैशवावस्था में पिता के प्रेम से वंचित रहते हैं उनमें या तो निराशावादिता होती है अथवा अपने आपको दूसरों से पुजाने की प्रबल इच्छा होती है। पिता की बालक के प्रति उपेक्षा का भाव उसके मन में आत्महीनता की भावना उत्पन्न करता है। यह आत्महीनता की भावना जब ग्रन्थि का रूप धारण कर लेती है तो ऐसा व्यक्ति अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयास में लग जाता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के द्वारा की गई प्रशंसा का भूखा रहता है। यह अपने कार्यों से अपने अफसर पर प्रभाव जमाने की चेष्टा करता है। यह तभी तक उनके साथ काम कर सकता है जब तक वे उसकी महत्ता को मानते हैं। जब वे उसकी अवहेलना करने लगते हैं तो यह उनका शत्रु बन जाता है फिर उसकी शक्तियों का ह्रास हो जाता है।

पिता से उपेक्षित बालक या बालिका जब विवाह करती है तो अपने घर में खोये सम्मान को पर घर से अर्थात् अपने ससुर से प्राप्त करने की चेष्टा करती है। युवक का मन अपनी स्त्री में इतना नहीं रहता जितना उसके प्रति ससुर के व्यवहार में रहता है। इसी प्रकार ऐसी युवती का मन अपने पति में न रहकर ससुर के उसके प्रति भाव में अधिक रहता है। जब तक उन्हें ससुर का सम्मान प्राप्त होता रहता है तब तक वे स्वस्थ रहते हैं। जब उनके प्रेम से वे वंचित हो जाते हैं, अर्थात् जब उनकी इच्छा के प्रतिकूल कोई कार्य ससुर करता है तो वे रोग का आवाहन करने लगते हैं। पहले ऐसे व्यक्तियों को अनिद्रा का रोग होता है, फिर उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

लेखक के एक विद्यार्थी को कुछ वर्ष पूर्व भारी अनिद्रा की बीमारी हुई। इसके कारण का पता चलाने से ज्ञात हुआ कि वह अपने ससुर के व्यवहार से अत्यन्त क्रुद्ध है। क्रोध वह प्रकाशित नहीं कर सकता अतएव वह रोगी हो गया है। इससे उसके ससुर को भारी परेशानी थी। जब कोई व्यक्ति अपने सम्बन्धी से प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता तो वह उसे परेशान करने में ही लग जाता है, और जिससे उसकी अन्तरात्मा उसकी भर्त्सना न करे इसलिये वह अपने आप रोगी बन कर अपने सम्बन्धी को, जिसके प्रेम का वह अपने आपको अधिकारी समझता है, परेशान करता है।

इस विद्यार्थी के बाल्यकाल के अनुभवों को जानने से पता चला कि उसके पिता ने उसकी माँ का त्याग उस समय ही कर दिया था जब वह दो वर्ष का था। उसने अपना दूसरा विवाह कर लिया था। माँ ने ही इसका पालन-पोषण किया। पीछे पिता भी उसकी पढ़ाई के लिये खर्चा देने लगा। पिता से जो प्रेम इसे प्राप्त न हुआ उसकी आशा यह ससुर से करता था। पर जब उसे यहाँ भी वह न मिला तो वह निराशावाद और रोग का शिकार बन गया।

इसी प्रकार एक परिचित धनी घर की महिला भी अनिद्रा और मेलेन्कोलिया की शिकार इसलिए हो गई कि वह इस प्रकार अपनी प्रभुता अपने ससुर के ऊपर स्थापित कर सके। यह महिला विधवा हो गई है, पर ससुर ने विधवा होने पर उसकी खूब चिन्ता की। इससे वह अपने आपको ही घर का स्वामी समझने लगी। जब ससुर अपने धन का भाग अपने दूसरे लड़कों की संतान पर उसकी इच्छा के विरुद्ध खर्च करने लगा तो यह बीमारी का आवाहन करने लगी। अब उसके ससुर उसके विषय में चिन्ता करते हैं। उसकी अनेक प्रकार की रक्षा करने और कई दिनों तक सेवा के पश्चात् उसकी कुछ दशा ठीक हो रही है।

इस महिला का बाल्यकाल भी प्रायः उसी प्रकार बीता जिस प्रकार उक्त विद्यार्थी का बाल्यकाल बीता था। यह जन्म के थोड़े दिन के भीतर ही अपनी माँ को खो चुकी थी। पिता ने दूसरा विवाह किया और उसे शैशवावस्था में अपनी विमाता के पास रहना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप ही उसके मन में भी ग्रन्थियाँ पड़ीं। ये उसे अनेक प्रकार की मानसिक असाधारणता में डालती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि बहुत से लोगों की मानसिक असाधारणता का कारण उनका बचपन में अपने बड़ों से उपेक्षित रहना है।

उपेक्षित बालक का सुधार

जिस बालक की बुद्धि प्रेम के अभाव के कारण तथा बार-बार डाँटे-डपटे जाने के कारण कुण्ठित हो जाती है, उसका सुधार उसके प्रति प्रेम दिखाने और उसे प्रोत्साहन देने से होता है। लेखक के एक मित्र श्री सच्चिदानन्द भारतीय का प्रयोग इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

सन् १६३० में टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के एक प्रोफेसर मित्र मुझे एक बार बनारस के एक कुलीन, और प्रतिष्ठासम्पन्न कुल में ले गये और वहाँ एक बालक को दिखाकर बोले 'इसी बालक को आपको पढ़ाना है।' यह बालक वहाँ अधिक न ठहरा कि मैं उससे कुछ परिचय कर सकूँ, किन्तु कुछ डरा हुआ सा भाव दिखलाकर वहाँ से चला गया। मैं उसके पिताजी तथा अपने मित्र से इधर-उधर की बातें करने लगा और कुछ देर के बाद मित्र के साथ जाने के लिये उठ खड़ा हुआ। चलते समय पिताजी ने इतना कहा कि बालक बड़ा ही मूर्ख, हठी और कमजोर है। तीन अध्यापक तो अपने प्रयत्नों में [illegible] इसे छोड़ चुके हैं। मैंने उनकी बातें सुनी और घर पर [illegible]ने लगा कि आरम्भ में ही मैंने ऐसे कठिन काम में [illegible] पर प्रोफेसर मित्र को वचन दे चुका था।

दूसरे दिन प्रातःकाल ७½ बजे जब वहाँ पहुँचा तो देखता क्या हूँ क बालक मेज के पास किताब रखे खड़ा है और पिताजी उसे कुछ डाँट रहे हैं। मेरे पहुँचते ही पिताजी ने कहा "आप आ गये, देखिए री हज़रत हैं, इतने बड़े हो गये अभी आठ का पहाड़ा भी नहीं आता"। यह कहकर वे तो चले गये। मैंने बालक को एक कुर्सी पर उठने का प्रेमपूर्वक आदेश दिया और स्वयं भी दूसरी कुर्सी पर ठ गया।

'तुम तो बड़े होनहार बालक मालूम पड़ते हो' कह कर मैंने बालक से सर्वप्रथम परिचय किया। प्रत्युत्तर में उसने कहा "आज प्रथम बार आप ही के मुँह से मैंने ऐसे शब्द सुने हैं, सब लोग तो मुझे बहुत ही निकम्मा और बुद्धिहीन समझते हैं तथा इतना बड़ा होकर भी अधिक न पढ़ सकने के कारण मैंने भी ऐसा ही समझ रखा है कि वे जो कुछ कहते हैं ठीक ही है। मेरा ऐसा विश्वास है कि मैं संसार में किसी योग्य न बन सकूँगा और विद्या तो मुझे आवेगी ही नहीं।

'तुम्हें कौन सी वस्तु या काम सबसे प्यारा लगता है?' कह कर मैंने उस विषय को बदला।

बालक ने कहा—'खेल'।

'कौन सा खेल?'

'ताश, कैरम, फुटबाल आदि।"

'तुम इन खेलों को किनके साथ खेलते हो?'

'अधिकतर नौकरों के साथ।'

'अपने भाई, बहिनो, चाचा, चाची आदि के साथ क्यों नहीं?'

'वे सब मुझे अपने साथ नहीं खिलाते।'

'क्या तुम मुझे ताश और कैरम खेलना बतला सकते हो?' संकोच से उसकी आँखें नीची हो गईं, फिर मेरी ओर देखकर बोला 'पिताजी देखेंगे तो क्या कहेंगे?'

'तुम उसकी चिन्ता न करो।'

इतने में नौकर ने आकर कहा "बाबूजी आपको और बच्चों को चाय पीने बुला रहे हैं।

मैंने बच्चे से कहा—'तुम अपनी और मेरी चाय यहीं पर ले आओ'।

बालक गया और एक ट्रे में चाय, टोस्ट आदि सब सामान आया और मेरे सामने एक छोटी मेज पर रख कर उस पर सब सामान रख दिया। मैंने कहा 'मात्र रखने से तो काम चलेगा नहीं, मैं तुम्हारा मेहमान हूँ'। वह लज्जित हुआ और मुस्करा कर चाय एक प्याले में डालकर, एक तश्तरी में मक्खन लगा कर टोस्ट और दूसरी में टमाटर आदि का सलाद मेरे सामने रखा और बोला 'लीजिए'।

मैंने कहा, 'अभी तो आधा काम हुआ है, तुम भी तो अपने लिये इसी तौर से सब चीजें लो, वह हँसा और बोला 'जैसी आज्ञा'।

मैंने कहा 'आज्ञा नहीं यही तो ठीक से सम्मान करने का ढंग है'।

चाय के पश्चात् मैंने ताश मँगाया और यद्यपि मैं खेलना जानता था पर अनजान सा बन गया और मुझे उस बालक ने बड़े चाव से समझाकर एक खेल बतलाया। हम दोनों आध घंटे तक खेले और तब मैंने उसे छुट्टी दी।

इस प्रकार कभी ताश, कभी कैरम सात दिन तक होता रहा जिसमें मैंने सदा बालक को ही प्रधानता देने का ध्यान रक्खा। एक दिन बालक के पिता ने आकर मुझसे पूछा 'बच्चा कैसे पढ़ रहा है'। मैंने कहा 'अभी तो मैं उससे पढ़ रहा हूँ'। वह मेरा उत्तर सुनकर और मुझे ताश खेलते देख कर वे चुपचाप वहाँ से चले गये।

आठवें दिन मैंने उससे पूछा 'तुमको सवाल लगाना तो बहुत अच्छी तरह आता होगा।'

उत्तर मिला, 'बिलकुल नहीं, सब लोग कहते हैं कि मेरे भाग्य में विद्या सीखना बदा ही नहीं है'।

दादा, बाबूजी, दीदी, चाची और भाभी सबसे कराऊँगा। देखूँ कि कौन सही करता है कौन गलत।'

दूसरे दिन उसकी मुद्रा बदली हुई थी। आते ही कहना प्रारम्भ किया कि बड़े दादा को छोड़ कर सब ने गलत लगाया। मुझे अब आप चार पाँच इसी तरह के सवाल बतला दें; सबको छकाऊँगा। मैंने छोटे-छोटे चार प्रश्न दिये जिसमें उसने तीन तो स्वयं ही कर लिये और एक मेरी सहायता से। फिर बोला 'आज सब को बतलाऊँगा कि मैं बुद्धिमान हूँ या वे जो कहते हैं कि मेरे भाग्य में विद्या लिखी ही नहीं है।'

मैं मन ही मन बड़ा प्रसन्न था कि बाजी मार ली! एक माह में वह गणित के अच्छे अच्छे प्रश्न अपने आप करने लगा। उसके बाद उसकी प्रगति हिन्दी तथा अँग्रेजी में भी अच्छी रही, यहाँ तक कि एक सप्ताह के भीतर उसने हिन्दी की चार पुस्तकें कहानियों की तथा एक हँसी की कविताओं की समाप्त कर ली और बहुत सी कविताएँ भी कण्ठस्थ कर लीं।

छः माह के उपरान्त किसी को यह कहने का साहस न था कि यह बालक ऐसा है जिसके भाग्य में विद्या लिखी ही नहीं है। आज तो यह इन्जीनियरिंग की परीक्षा पास करके विदेश में घूमकर भारत के बड़े भारी उद्योग में कुछ कर रहा है।*

यहाँ हम देखते हैं कि बालक के प्रति जब तिरस्कार का भाव चला गया और उसे होनहार समझ कर अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया जाने लगा तो उसकी प्रतिभा का चमत्कारक विकास हुआ।

---

*"नन्दी बालक" जुलाई अंक से उद्धृत।

चौथा प्रकरण

बालकों के प्रति लाड़

लाड़ और प्रेम में भेद

इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों में बालक के प्रति प्रेम की महत्ता को उसके चरित्र-गठन और बुद्धि के विकास में दर्शाया है। जिस बालक को बचपन से ही माता-पिता, अभिभावक और शिक्षकों का समुचित प्रेम मिलता है उसका व्यक्तित्व सुगठित होता है। ऐसा व्यक्ति अपने-आप में सुखी रहता है और अपनी सेवा से समाज को सुखी बनाता है। इसके प्रतिकूल जिस बालक का बचपन में तिरस्कार होता है और जिसकी खाने खेलने की इच्छाओं का क्रूरतापूर्वक दमन होता है वह आन्तरिक मन से दुःखी रहता है। ऐसा बालक अपनी कमी की पूर्ति के लिए असामाजिक कार्यों का अनुसरण करता है। वह अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिये अनेक प्रकार के अनुचित कार्य करता है।

पर बालक के प्रति लाड़ उसके प्रति प्रेम दिखाने से भिन्न बात है। जिस प्रकार बालक के प्रति कठोरता रखने से विवेक का अभाव पाया जाता है, इसी प्रकार बालक के प्रति लाड़ दर्शाने में विवेक का अभाव पाया जाता है। बालक के प्रति प्रेम दर्शाना स्वस्थ और वह स्नेह की भावना को प्रदर्शित करना है। जिस बालक के हम लाड़ करते हैं उसकी छोटी-छोटी भूलों से हम खिजते नहीं, वरन् हम उसके बालक को खुश करने के लिये अनुचित कार्यों को भी करते हैं। किसी भूल के लिये बालक को दण्ड देने के उसकी

भूल करने की प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती, उसका केवल सामयिक दमन हो जाता है। भय के कारण जो बालक शिष्टाचारी बन जाता है उसमें इच्छाशक्ति का वास्तविक बल नहीं होता। ऐसा ही बालक आगे चलकर अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है।

कठोर नियंत्रण में रहनेवाले बालक की इच्छाशक्ति निर्बल रहती है, इसी प्रकार लाड़ले बालक की इच्छाशक्ति भी निर्बल होती है। लाड़ में पले बालकों को अपनी इच्छाओं को वश में करने का अभ्यास नहीं कराया जाता है। उनके मन में जो कुछ आता है वे उसीको करने लगते हैं। इस प्रकार उनमें किसी काम के उचितानुचित पर विचार करने की शक्ति नहीं आती। जब पीछे यह शक्ति आ भी जाती है तो जो कार्य उचित है उसके करने-की वे अपने आपमें योग्यता नहीं पाते। लाड़ में पले बालक प्रतिकूल वातावरण में पड़ जानेपर अपने-आपको भारी दुःख में पाते हैं। किसी भी मनुष्य में यह शक्ति नहीं कि वह अपने अनुकूल ही अपने वातावरण को बना ले। वातावरण की परिस्थितियों को सर्वथा बदलना असंभव है। जो व्यक्ति अपना सुख बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है वह कभी भी सुखी नहीं रह सकता। सुखी मनुष्य वही है जो सभी प्रकार की परिस्थितियों में अपने-आपको संतुष्ट करने की चेष्टा करता है। यह संतोष अपने विचारों के ऊपर नियंत्रण से आता है। पर विचारों पर नियंत्रण करने की शक्ति एकाएक नहीं आती। इसके लिये बचपन से ही प्रयत्न करना पड़ता है।

बालक के प्रति लाड़ करना अपनी स्वार्थबुद्धि का प्रदर्शन है। लाड़ करते समय हम यह भूल जाते हैं कि बालक के लिये क्या भला है, उसका वास्तविक सुख किस बात में है। जो व्यक्ति बालक से लाड़ करता है वह बालक को गुड़िया जैसे बनाता है, उसे गोदी में लिए रहता है, वह उसे अनेक बार चूमता है, खाने-पीने की मीठी-मीठी

पदार्थ सदा देता है। बालक को सदा वह फुसलाने की चेष्टा करता रहता है। बालक के रोने से वह बहुत दुःखी हो जाता है। इस तरह वह बालक में आत्म-निर्भरता पैदा न कर, उसे परावलम्बी बना देता है। अब प्रत्येक बात के लिए बालक अपने माँ बाप की ओर देखता है।

वास्तव में जो लोग बालक के प्रति लाड़ का प्रदर्शन करते हैं उनमें दूसरों की सेवा करने की शक्ति की कमी रहती है। वे बालकों के ऊपर संवेगों की दृष्टि से निर्भर रहते हैं, अर्थात् उनका संवेगात्मक जीवन अविकसित रहता है। वे इस प्रकार बालकों के गुलाम रहते हैं। बालकों से वे इसी प्रकार खेलते हैं, जिस प्रकार बालक स्वयं गुड़ियों से खेलते हैं।

लाड़ का परिणाम

बालक अपने माता-पिताओं की मानसिक दासता को पहचान लेते हैं और इसलिए वे उन पर अपना अनेक प्रकार से अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। वे माता-पिता को अपना नौकर जैसा मान बैठते हैं, और उन्हें सदा नये-नये कामों के लिए आज्ञा दिया करते हैं। जो माता-पिता बालकों की सभी इच्छाओं की पूर्ति किया करते हैं, वे उनमें इच्छाओं को रोक सकने की शक्ति के विकसित होने में बाधा डालते हैं।

बालक के प्रति प्रेम-प्रदर्शन करना और अनुचित काम को न करने देने में कोई विरोध नहीं है। बालकों को दण्ड देना भी उनके प्रति प्रेम-प्रदर्शन का परिचायक होता है। बालकों के प्रति लाड़ करने-वाला व्यक्ति उन्हें अनुचित कामों से नहीं रोक सकता। ऐसे कामों के लिए उसे दण्ड देना असंभव हो जाता है। इससे बालक स्वार्थी हो जाता है। उसमें आत्म-नियन्त्रण और दूसरों की सेवा का भाव विक-सित नहीं होता। ऐसे बालक बड़े होने पर अनेक प्रकार के कष्ट झेलते हैं। लाड़ से पाले गये बालक ही अपनी प्रौढ़ावस्था में, माता-पिता को

अनेक प्रकार के कष्ट देने लगते हैं। इन बालकों ने दूसरों की सेवा करने का पाठ सीखा ही नहीं है, अतएव जब उन्हें अपने वृद्ध माता पिताओं की सेवा करनी पड़ती है तो वे उससे छुटकारा पाने के अनेक उपाय रच लेते हैं। लाड़ से पाले गये बालक स्वयं दुःखी रहते हैं, और दूसरों को भी दुःख देते हैं।

अभी हाल ही की बात है। लेखक अपने एक कपड़े के व्यापारी मित्र के पास गया। उसका साथी व्यापारी इस समय एक बड़ी परेशानी में पड़ा हुआ था। उसका लड़का घर से भाग गया था। यह लड़का दूकान के नाम पर उधार माल ले आता था और उसे सस्ते दाम पर दूसरों के हाथ बेच देता था। जिन लोगों से कपड़ा लाया जाता था वे जब रुपया माँगने आते तो बाप उनका रुपया देने में आनाकानी करता था। दूसरे, सस्ते दामों पर कपड़ा लेनेवाले व्यापारियों से भी झगड़ा होता था। पिता ने स्थानीय अखबार में निकलवा दिया था कि इस लड़के को कोई उधार माल न दे। पर सभी लोग अखबार नहीं पढ़ते। अतएव यह माल ले ही आता था और दूकान पर रुपया माँगने लोग आते ही रहते थे। इधर लड़के की दादी अपने नाती के लिए लड़के के बाप से झगड़ा भी करती रहती थी। लड़के को मनमाना पैसा नहीं दिया गया था, इसलिए ही वह घर से भाग गया था। लड़के की आदत रुपया उड़ाने की हो गई थी। अब जब वह बड़ा हो गया उसे अपने आपको रोकना कठिन हो गया था।

लाड़ से पाले बालक बड़े शौकीन और विलासी होते हैं। उनमें विषय-भोग की मनोवृत्ति भी प्रबल होती है। इसलिए वे कठिन परिश्रम से पैदा किये धन को उड़ाने में कुछ भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करते। लाड़ से पले धनी घर के बालक अपना बुढ़ापा गरीबी में व्यतीत करते हैं।

जिन बालकों को लाड़ में रखा जाता है उन्हें कठिन परिस्थितियों में रहने का अभ्यास नहीं होता और न उनमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती है। ऐसे व्यक्तियों की इच्छा शक्ति बड़ी निर्बल होती है। किसी प्रकार की कठिनाई सामने आते ही वे उससे भागने की चेष्टा करते हैं और वे फिर या तो मनोराज्य में विचरण करने लगते हैं अथवा किसी मानसिक अथवा शारीरिक रोग के दास बन जाते हैं। कभी-कभी ऐसे लोगों को बाध्य विचार आ जाते हैं। वे प्रयत्न करनेपर भी मन से नहीं निकलते। जो व्यक्ति कल्पना के जगत् में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने का अभ्यास कर लेते हैं उन्हें जब वास्तविकता का सामना करना पड़ता है तो उनकी कल्पनाओं पर वास्तविक नियंत्रण हो जाता है। परन्तु पुराने विचार अपना संस्कार मन पर जमाये ही रहते हैं। पीछे ये अनेक प्रकार की प्रबल अप्रिय कल्पनाओं अथवा मानसिक रोगों के रूप में प्रकाशित होते हैं।

मनुष्य का सुख और दुःख अपने विचारों के नियंत्रण के ऊपर निर्भर करता है। यह विचारों पर नियन्त्रण एकाएक नहीं होता, यह कई दिनों के अभ्यास का परिणाम है। जब बचपन से ही बालक को अपने विचारों को वश में रखने का अभ्यास कराया जाता है तो वह आगे चलकर भी अभद्र कल्पनाओं को मन में आने से रोकने में समर्थ होता है। परन्तु जब उसे इस प्रकार का अभ्यास नहीं रहता तो वह युवावस्था में अपने विचारों को वश में नहीं रख पाता। लाड़ले बालक के मन में जितने कल्पना और इच्छा के संघर्ष होते हैं उतने साधारण व्यक्तियों के मन में नहीं होते। लाड़ की अवस्था में जो अनुभव बालक को होते हैं वे अपने संस्कार बालक के मन पर छोड़ जाते हैं। वे संस्कार दुःख के कारण होते हैं। जब पीछे बालक में नैतिक बुद्धि जाग्रत् होती है तो बालक अपनी स्वाभाविक वृत्तियों को रोकने की चेष्टा करता है परन्तु इस समय तक वे बहुत ही प्रबल हो जाती हैं। अन्ततः जब ऐसी अवस्था में इन

प्रवृत्तियों को रोकने की चेष्टा की जाती है तो वे केवल अन्तर्धान मात्र हो जाती हैं। इनके इस प्रकार से अन्तर्धान होने पर मनुष्य के भीतरी मन में एक प्रकार का विशेष संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। एक ओर पुरानी प्रवृत्तियाँ चेतना के समक्ष प्रकाशित होने की चेष्टा करती हैं और दूसरी ओर मनुष्य की नैतिक बुद्धि उन प्रवृत्तियों को प्रकाशित होने से रोकती है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य को मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार लाड़ में पले बालक में अच्छा आत्म-नियन्त्रण का उत्पन्न होना बड़ा कठिन होता है।

आधुनिक काल में हिस्टीरिया रोग के कारणों का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया है। वर्तमान काल के कुछ प्रमुख पण्डितों का कहना है कि हिस्टीरिया का रोग बहुधा अनेक उन्हीं व्यक्तियों को होता जिन्हें बचपन में बड़े लाड़-प्यार से पाला गया है और जिन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिये पूरी स्वतन्त्रता मिलती रही। श्री एडमण्ड कौनक्लिन महाशय अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ एबनारमल साइकोलाजी' नामक पुस्तक में हिस्टीरिया का कारण बताते हुए लिखते हैं "उचित अनुशासन का अभाव मनुष्य में आत्म-नियन्त्रण की कमी उत्पन्न करता है। इससे व्यक्ति के मस्तिष्क में उचित संगठन नहीं होता। दुर्भाग्यवश यह सत्य है कि बहुत से बालक ऐसे घरों में पलते हैं और उनका ऐसे स्कूलों में शिक्षण होता है जहाँ कि उनमें आत्म-संयम की योग्यता आना कठिन होता है। ऐसे ही बालक आगे चलकर अपने बचपन के दूषित अनुशासन के दुष्परिणामों को भोगते हैं। जो बालक किसी विशेष प्रकार के नये विचारों को लेकर चलनेवाले शिक्षकों द्वारा शिक्षित होते हैं, जिनमें किसी प्रकार के अनुशासन में रहने की [illegible] नहीं डाली जाती, जिन्हें अपनी इच्छाओं को किसी प्रकार से [illegible] नहीं कराया जाता वे संघटित मस्तिष्क के नहीं हो [illegible] ही बालकों में हिस्टीरिया की ओर प्रवृत्ति होती है। जिन

च्चों को अपने गुस्से को प्रकाशित करने की छुट्टी दे दी जाती है, वे आगे चल कर किसी न किसी प्रकार की शिथिलता के शिकार बनते हैं। ऐसे बालकों को वास्तव में विक्षिप्तता के लिये ही शिक्षा दी जाती है। जिन बच्चों की सब प्रकार से रक्षा की जाती है जिनकी सभी इच्छाओं की पूर्ति की जाती है, जो दूषित अनुशासन में रहते हैं उनमें उस आत्म नियन्त्रण का अभाव पाया जाता है जो हिस्टीरिया रोग के उत्पन्न होने में बाधक होता है।"* कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिन बालकों को बचपन में बड़े लाड़ से पाला जाता है उनमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति नहीं आती, उनकी इच्छाशक्ति निर्बल होती है। ऐसे ही बालक आगे चलकर हिस्टीरिया रोग के शिकार बनते हैं।

---

* Lack of good discipline might easily contribute to the development of habits of isolated functioning, to a minimum of control and of gradation of response in the higher levels of functioning, at least a decidedly weak synthesis. It is unfortunately true that many individuals grow up in home and school environment which seem best designel for the development of poor control. Such individuals must suffer the consequences of a defective training in discipline. The child brought up by educational faddist who completely spare not only the rod itself but also all other forms of discipline, permitting the child to grow up without the establishment of inhibitions is almost certainly destined to a loose organization and to hysterical behaviour. *Children permitted to have uncontrolled fits of temper are being educated for abnormality.* Children who are

लाड़ का कारण

बच्चों को लाड़ करनेवाले माता-पिता की इच्छाशक्ति निर्बल होती है। उनका मोह ही बच्चों को अनुचित काम करने पर उन्हें दण्ड देने में बाधक होता है। देखा गया है कि जो माता-पिता अपने बच्चों को बहुत ही लाड़ प्यार दिखाते हैं, वे दूसरे लोगों के बच्चों के प्रति कभी-कभी बड़ी कठोरता का व्यवहार करते हैं। जिन गलतियों के लिये वे अपने बालकों को कुछ भी दण्ड नहीं देते, उन्हीं गलतियों के लिये वे दूसरे लोगों के बालकों को मारने-पीटने को उद्यत रहते हैं। उनके बच्चों के दोष मानो उन्हें दिखाई ही नहीं देते। कभी-कभी ऐसे माँ-बाप अपने बच्चों के दोषों को समझते हैं परन्तु वे उनका सुधार करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, बच्चा उनकी कमजोरी को खूब समझता है, वह जानता है कि उनके अभिभावक का उन पर इतना अधिक प्रेम है कि वह उन्हें कोई वास्तविक दण्ड नहीं दे सकता। देखा गया है कि कभी-कभी सुशिक्षित मातायें भी अपने बच्चों को अधिक प्रेम दिखा कर उन्हें बिगाड़ देती हैं। जब उनकी आदतें खराब हो जाती हैं तो वे फिर अपने बालकों से परेशान होती हैं। परन्तु उनकी परेशानी से बालक का कोई सुधार नहीं होता। जब बालक की आदतें एक बार बिगड़ जाती हैं तो उसकी आदतों को सुधारने में बड़ी कठिनाई होती है। इस प्रसंग में लेखक से अपने बच्चे की चोरी की आदत के विषय में परामर्श करनेवाली एक अध्यापिका के निम्नलिखित परेशानी के विचार जो उसने अभी हाल ही के पत्र में लिखे हैं उल्लेखनीय हैं—

over protected whose every want is supplied may suffer a defective disciplinary training and thus lack the control which militates against the appearance of hysterical development"—Edmound. S. Conkin—*Principles of Abnormal Psychology*, P. 118.

"मेरा छोटा लड़का मेरे साथ है। वह देखने में, शक्ल में तथा स्वभाव में बड़े से अच्छा है। कुछ दिनों से उसमें चोरी की आदत पड़ गई है। घर में बहन के अन्य बच्चे पक्के चोर हैं। इस बच्चे पर सब का बहुत विश्वास था। अब तक घर में रुपये-पैसे बहुधा ऐसे ही पड़े रहते थे। एक दिन उसने सेवन द्वारा लेने के लिये १०) बटुए में से, जो उस दिन की आमदनी थी, निकाल लिये और २) खर्च भी कर डाले। बाकी एक खाली सन्दूक में डाल दिये। यह काम बहन के लड़के को बता कर किया। उस दिन से पता चला कि यह भी चोर है। मैं जब कमरे में दो चार आने टेबुल में रख देती हूँ, तभी वह गायब कर देता है। देखने में बहुत सीधा है। इसके लिये मैंने उसे दो चार बार मारा भी, प्यार से रोकर समझाया भी; वह कुछ-न-कुछ बहाना बना देता है किन्तु आदत नहीं छोड़ता। अब उसके लिये क्या करना चाहिये। घर बाहर स्कूल आदि में वह ईमानदार और सभ्य माना जाता है। इससे अपने इस नाम का अनुचित लाभ उठाता है। मुझे दुःख है कि मैं निराश्रय सी हो रही।"

यही महिला इस बालक की चोरी की आदत के बारे में एक अगले पत्र में लिखती है कि "यह आदत उसमें एकाएक नहीं पड़ी, बल्कि कई दिनों के अभ्यास का परिणाम है।" माँ को उसकी चोरी की आदत का पता था, परन्तु अपने लाड़ के कारण वह उसे इस आदत से रोक न सकी। जो बालक चोरी करता है उसे चोरी छिपाने के लिये झूठ भी बोलना पड़ता है। उस बालक में झूठ बोलने की आदत पहले ही पड़ गई थी। पहले तो इस आदत के अंश को कोई बुराई नहीं देखी परन्तु जब बालक और चोरी करने लगा तो वह इसकी मानसिक बुराई का अनुमान कर सकी। अब इस आदत ने स्पष्टतः मानसिक कठिनाई का रूप धारण कर लिया है। बालक की इस आदत को छोड़ने की इच्छा करने पर भी वह छूटे

छोड़ नहीं सकता। वह उसके वश में हो गया है। संभवतः बालक की इच्छाशक्ति निर्बल हो गई, अतएव यह आदत उसके चरित्र के विकास में वास्तव में बाधक सिद्ध हो सकती है परन्तु यदि अब भी बालक की माता सचेत हो जाय तो बालक अपने ऊपर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है और वह अपने खोये हुए आत्म विश्वास को फिर से पा सकता है। महिला इस आदत के विषय में नीचे लिखी बातें लिखती है—

"नरेन्द्र जब छोटा था—तीन साल का, तब भी वह खाने की खूब चोरी करता था। जितना खा सकता था खाता था, बाकी कुत्ते को खिला दिया करता था।

"मैं जयपुर में इन्हीं दो बच्चों को लेकर रहती थी, वहाँ यह केवल ढाई साल का था। जो खाना बना कर मैं रख आती थी वह उसे खाकर बाकी पिल्लों को दे देता था। पूछने पर कहता था—मैंने नहीं सुरेन्द्र ने खा लिया है। फलतः अक्सर मुझे भूखा रहना पड़ता था।

"जब मैं दूसरी जगह गई, तब वह चार वर्ष का था। वहाँ भी खाने की चीजें चुराने में यह पटु था। पूछने पर कह देता था, रोनी सूरत बना कर बनावटी सिसकियाँ लेकर, "बाई मैंने नहीं खाया, बन्दर खा गया होगा।" "भला बन्दर खाकर ढक्कन कैसे लगा जायेगा?" "तो बाई, बोर्डिंग की लड़कियाँ खा गई होंगी।"

"सोचिये इतना सुन कर भी किसको हँसी न आ जायेगी। ये नित नई ऐसी बातें किया करता था कि सभी इसको नाराज होने के विपरीत अधिक चाहते थे।

छोटेपन में तो यह बहुत भोला लगता था। मैं १६४३ में दिल्ली गई थी। वहाँ भी सब इसको प्यार करते थे।

किन्तु पैसों की चोरी इसने इससे पहले ऐसी कभी नहीं की थी। अस्तु मैंने चोरों में इसकी गिनती कभी नहीं की। अब तो यह काफी रुपयों पर हाथ मारने लगा है। बहिन के तीन बच्चे इसके साथ के ही

प्रथम (२) वाली घटना से ही किया था और इस थोड़े समय के अन्दर इतनी बार चोरी कर ली।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि बालक में चोरी की आदत की वृद्धि उसकी माता की मानसिक कमजोरी से हुई। जब बालक पहले चोरी करता था तो माँ उसकी परवाह नहीं करती थी, परन्तु अब इसने मानसिक ग्रंथिता का रूप धारण कर लिया है। अतएव माँ बच्चे की इस आदत से परेशान है, परन्तु अभी भी बालक की आदत का उचित उपचार नहीं हो रहा है। हमारे देश की बहुत सी मातायें बालक को किसी प्रकार की भूल के लिये अथवा अशिष्टता के लिये डाँटती डपटती हैं परन्तु जब बालक रोने लगता है तो उसको दुःखी होते हुए नहीं देख सकतीं। वे बालक को तुरन्त ही पुचकारने लगती हैं और कभी-कभी बालक को रोते हुए देखकर अपने आप रोने लगती हैं। बालक माँ की इस प्रकार की कमजोरी को पहचान कर उससे लाभ उठाने की चेष्टा करता है। वह जानता है कि माँ उसे इतना कष्ट नहीं दे सकती जितना कि स्वयं माँ के लिये असह्य हो। इस कारण बालक को माता की मार से कोई भय नहीं होता। जब एक बार माता की अप्रसन्नता का भय बच्चे के मन से निकल जाता है तो माँ के कहने-सुनने से उसके आचरण में कोई सुधार नहीं होता। जिस प्रकार कमजोर मन का शिक्षक कक्षा के बालकों पर अनुशासन नहीं रख सकता, इसी प्रकार कमजोर इच्छाशक्ति का अभिभावक अपने रक्षितों पर अनुशासन नहीं रख पाता। इससे वह अपने रक्षितों का मन निर्बल बना देता है।

लाड़ का सामाजिक परिणाम

लाड़ से पले हुए बालक न केवल अपने आपको आगे चल कर दुःखी बनाते हैं वरन् दूसरे लोगों को भी दुःखी बनाते हैं। स्वयं माता-पिता के प्रति उनका व्यवहार बड़ा बुरा होता है। कितने ही बालक

लगता है। यदि किसी परिवार में सबसे छोटा बच्चा लड़का न होकर लड़की हो तो बहुत अच्छा हो। इससे छोटे लड़के को उतना लाड़ नहीं किया जाता जितना अन्यथा किया जाता है। लड़कियों को तो साधारणतः परिवार में भार रूप माना जाता है, अतएव लाड़ के कारण उनके बिगड़ जाने की इतनी अधिक संभावना नहीं रहती। कहा जाता है कि माँ के लाड़ से लड़का बिगड़ता है और पिता के लाड़ से लड़की। अतएव जिस बालक का पिता बचपन में मर जाता है उसके माँ के लाड़ द्वारा बिगड़ने की अधिक संभावना होती है और जिस लड़की की माँ बचपन में मर जाती है उसके पिता के लाड़ द्वारा बिगड़ने की संभावना रहती है।

बालकों के प्रति उचित व्यवहार

बच्चों की इच्छाओं को हमें कहाँ तक तृप्त करना चाहिये और उन्हें कहाँ तक आचरण में स्वतन्त्रता देनी चाहिये यह एक गंभीर प्रश्न है। इस प्रश्न के हल करने में ही प्रेम और लाड़ की सीमा निर्धारित होती है। हमें बालक के प्रति ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये जिससे बालक का भविष्य सुधरे और उसका चरित्र सुगठित हो। यदि हम अपने किसी प्रकार के आचरण से बालक में मानसिक कमजोरी उत्पन्न करते हैं तो हम थोड़े समय के लिये अपना आत्मसंतोष भले ही कर लें, परन्तु हम अपना और बालक का भावी जीवन दुःखी बनाते हैं। हमें अपने बच्चे के प्रति उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये जिस प्रकार का व्यवहार हम दूसरे व्यक्ति के बच्चे के प्रति करते हैं। प्रेम विवेकयुक्त आचरण के द्वारा प्रकाशित होता है और लाड़ अविवेकपूर्ण आचरण में प्रकाशित होता है। प्रेम के कारण बालक को अपनी भूल के लिये दण्ड दिया जाता है परन्तु लाड़ में इस प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता। यदि बालक को अपनी भूल के लिये दण्ड न दिया जाय तो वह किसी अनुचित कार्य के दुष्परिणाम में भिज्ञ न

होगा और उसमें न तो विवेक की वृद्धि होगी और न आत्मनियन्त्रण की। बिगड़े बालक के प्रति सच्चा प्रेम दिखानेवाले व्यक्ति का उसी प्रकार दृष्टिकोण होता है जिस प्रकार का दृष्टिकोण चिकित्सक का रोगी के प्रति होता है। जब कोई चिकित्सक किसी रोगी की चिकित्सा करने का काम लेता है तो वह रोगी को मनमानी चीजें खाने नहीं देता और मनमाने काम नहीं करने देता, उसे चिकित्सक की सलाह के अनुसार ही भोजन और आचरण करना पड़ता है। रोगी को रोग से मुक्त करने के लिये कभी-कभी कड़वी दवाई भी देनी पड़ती है। इसी प्रकार जब कोई बालक किसी प्रकार की बुरी आदत में पड़ जाता है तो उसके बिगड़े हुए मानसिक साम्य को लाने के लिये अभिभावक को उसके साथ कठोरता से काम लेना पड़ता है। ऐसा न करने से बालक के प्रति अन्याय होता है। बालक की किसी बुरी आदत को छुड़ाने की चेष्टा न करना उसे भावी जीवन के लिये नरक तैयार करना है। फिर जो अभिभावक अपने कर्तव्यों से मुख मोड़ते हैं और अपने बच्चे को दुलरवा बना लेते हैं वे अपने किये का फल बालक द्वारा निरस्कृत और अपमानित होने में पाते हैं। लाड़ से न केवल बालक का भावी जीवन बिगड़ता है, वरन् अपने आपको भी दुःख होता है।

पाँचवाँ प्रकरण

बालक के मानसिक विकास की अवस्थायें

मानसिक विकास का स्वरूप

बालक के मानसिक विकास की भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्थायें बताई गई हैं। यदि हमें विकास के मापदण्ड का निश्चय हो जाय तो मानसिक विकास की अवस्थाओं को निश्चित करना कठिन नहीं। शिक्षा का एक मुख्य कार्य बालकों के मानसिक विकास में सहायता पहुँचाना है। यह सहायता तभी पहुँचाई जा सकती है जब हम विकास के स्वरूप को भली भाँति समझें। विकास के स्वरूप को न समझने पर हम बालक के मानसिक विकास को सहायता न पहुँचाकर उसमें रुकावट डाल सकते हैं।

मानसिक विकास का एक लक्षण चेतना के प्रकाश का प्रसार है। जितना अधिक चेतना का प्रसार बढ़ता है व्यक्ति का पदार्थज्ञान भी उतना ही अधिक बढ़ता है। पदार्थज्ञान की वृद्धि से पदार्थों के ऊपर अधिकार प्राप्त होता है। पदार्थों का ज्ञान होना उनपर अधिकार प्राप्त करने की पहली सीढ़ी है। जिस व्यक्ति का जितना ही अधिक अपने वातावरण के पदार्थों पर अधिकार है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली माना जाता है और उसका जीवन उतना ही अधिक विकसित कहा जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने वातावरण पर निर्भर करता है वह उतना ही अधिक मानसिक बंधन में रहता है और जो वातावरण पर

जितना ही अधिक अधिकार रखता है वह उतना ही अधिक प्रसन्नचित्त रहता है।

मनुष्य का वातावरण दो प्रकार का होता है—एक भौतिक और दूसरा मानसिक। स्थायी प्रसन्नता के लिये न केवल भौतिक वातावरण पर अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता है वरन् मानसिक वातावरण पर भी अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता है। कितने ही व्यक्ति बाहरी सभी प्रकार की सुख की सामग्रियों से सम्पन्न होते हुए भी सदा मानसिक कष्ट सहते रहते हैं। इसका कारण उनमें अपने विचारों को सुव्यवस्थित न बना सकना ही है। जब मनुष्य के विचारों में पारस्परिक विरोध रहता है, जब उसकी भावनायें और आदर्श जुदे रहते हैं और उसकी कार्यक्षमता दुबली ही रहती है तो वह सुखी न रहकर सदा दुखी रहता है। मनुष्य को वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि वह संसार में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारों को जाने, इन विचारों में आपस में समता और विषमता की खोज करे और फिर किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचकर जिस विचार को वह अपनावे उसकी पुष्टि करे और उसके अनुसार अपना जीवन बनावे। कभी कभी व्यक्ति किसी भी प्रचलित मत अथवा विचार को ठीक नहीं समझता। ऐसी अवस्था में वह सब विचारों का खंडन करके कोई नया मत ही खोज देता है।

जैसे ही बालक संसार में आता है वह एक ओर संसार के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने लग जाता है और दूसरी ओर वह इन पदार्थों पर अपनी शक्ति को बढ़ाता है अर्थात् वह उन्हें अपने वश में करने की चेष्टा करता है। जो बालक अपने इस कार्य में जितना सफल होता है वह उतना ही अधिक विकसित समझा जाता है। इस लिये ही चंचल बालक का जीवन सुस्त ढीलेढाले बालक की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। जिस प्रकार छोटा बालक अपने

भौतिक वातावरण की वस्तुओं को जानने और उनपर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार किशोर बालक विभिन्न प्रकार के विचारों को जानने और उनमें अपनी इच्छा के अनुसार सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। जो किशोर बालक इस कार्य में जितनी रुचि और दक्षता दिखाता है वह उतना ही अधिक विकसित समझा जाता है।

यहाँ हम विकास के एक नए लक्षण को समझ सकते हैं। विकास न सिर्फ पदार्थों अथवा विचारों के ज्ञान करने में है वरन् उनको नए ढंग से सजाने में है। भौतिक पदार्थों अथवा विचारों को नए ढंग से सजाने में चेतना को रचनात्मक कार्य करना पड़ता है। चेतना की इस रचनात्मक क्रिया से बालक को आत्म-स्वतंत्रता और आत्म-बल की अनुभूति होती है। आत्मा की स्वतंत्रता की अनुभूति कराना ही मानसिक विकास का लक्ष्य है। पहले व्यक्ति को आत्मा की स्वतंत्रता और आत्म-बल की अनुभूति बाह्य वातावरण पर विजय प्राप्त करने में होती है, पीछे उसे अपने मन में आनेवाले अनेक प्रकार के विचारों पर विजय प्राप्त करना पड़ता है। वह उन्हें नए ढंग से सजाने की चेष्टा करता है और इस प्रकार वह आत्मा की स्वतंत्रता और बल का अनुभव करता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि, चाहे भौतिक वस्तुओं का ज्ञान हो अथवा नए विचारों का ज्ञान, स्वयं लक्ष्य नहीं है। वस्तु-ज्ञान अथवा विचार-ज्ञान आत्मज्ञान उत्पादन की एक सीढ़ी-मात्र है। आत्म-ज्ञान मन की रचनात्मक क्रिया से ही उत्पन्न होता है। अतएव उपस्थित पदार्थ अथवा विचारों के ज्ञान की वृद्धि को मानसिक विकास का एकमात्र लक्षण मानना भूल होगा। मानसिक विकास का मुख्य लक्षण मनुष्य में रचनात्मक कार्य करने की योग्यता तथा रचनात्मक क्रिया की उपस्थिति ही है। जो व्यक्ति जितना अधिक रचनात्मक

जो ज्ञान प्राप्त करता है उसमें बालक का प्रसुप्त मन अथवा अर्ध चेतन मन ही अधिक काम करता है। बालक के इस समय के मानसिक भावों को जानना अत्यन्त कठिन है। सामान्यतः प्रौढ़ व्यक्तियों की पहुँच के बाहर उसका मन रहता है। अतएव तीन वर्ष तक के बालक की देखरेख करना अत्यन्त कठिन है।

तीन वर्ष तक के बालक की अधिक शिक्षा स्वयं प्रकृति करती है। इस काल में बालक की जितनी प्राकृतिक शिक्षा होती है उतनी और कभी नहीं होती। बालक का मन इस काल में उसकी इन्द्रियों को जाग्रत करनेवाली अनेक संवेदनाओं को ग्रहण करता है और इनके द्वारा संसार का ज्ञान करता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये बालक अनेक पदार्थों को छूता और उनके गुणों को जानने की चेष्टा करता है।

शैशवावस्था का दूसरा भाग तीन साल से छः साल तक का है। इस अवस्था में बालक संसार के विभिन्न पदार्थों के गुणों को जानने की चेष्टा करता है। भाषा ज्ञान की वृद्धि इसी काल में होती है। अपने आप ही बालक इस काल में भाषा सीखता है। जितना बौद्धिक विकास बालक की शैशवावस्था के इस काल में होता है उतना और कभी नहीं होता। बालक इस काल में अपनी अचेतन अवस्था से मुक्त होकर चेतनावस्था में आता है। इस काल में बालक की रचनात्मकप्रवृत्ति प्रबल होती है। वह अपने आप ही अनेक प्रकार के खेल खेलते रहता है। इन खेलों के द्वारा बालक अपने वातावरण से परिचय प्राप्त करता है और अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का ज्ञान करता है।

शैशवावस्था में बालक में विचार करने की शक्ति नहीं होती। अतएव उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति बाहरी पदार्थ में कुछ परिवर्तन करने मात्र में [illegible] होती है। इस काल के बालक के खेल बाहरी पदार्थों का

परिचय मात्र बढ़ाते हैं। इस प्रकार के परिचय बढ़ाने में बालक के मन में किसी प्रकार की योजना नहीं रहती। इसके लिये सोचने की शक्ति का अविर्भाव होना आवश्यक है। इस काल में बालक का ध्यान बहुत ही चंचल रहता है। वह किसी भी एक पदार्थ को देर तक अपने ध्यान में नहीं रख सकता। उसकी स्मरणशक्ति भी सीमित रहती है। इसके कारण एक ओर उसके मानसिक दुःखों की कमी रहती है और दूसरी ओर वह आन्तरिक जगत में व्यस्त न रहकर बाह्य जगत में ही रमण करता है।

शैशवावस्था में बालक के खेलने के लिए उसे पर्याप्त वस्तुयें देनी चाहिये। शिशु में कल्पनाशक्ति का अभाव रहता है, अतएव इस काल में ऐसे खेल उपयोगी होते हैं जिनमें शिशु किसी बाहरी वस्तु को काम में लाता है। इन खेलों का लक्ष्य बालक के इन्द्रियज्ञान की ही हो सकती है। इस दृष्टि से मैडम मौन्टीसौरी द्वारा अविष्कृत डाडेक्टिक अपरेट्स उपयोगी है। पर हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि बालक सब समय डाडेक्टिक अपरेट् के साथ ही नहीं खेलना चाहेगा। बालक को उसकी रुचि के विरुद्ध किसी काम में लगाना बड़ा ही हानि में कारक है। मैडम मान्टसोरी की शिक्षा प्रणाली में बालक के लिए खेल का कोई प्रबंध नहीं है। इसके बदले बालक से काम कराया जाता है। काम और खेल में भेद इतना ही है कि काम में बालक वही काम करता है जो उसे दिया जाता है और खेल में अपने काम का चुनाव स्वयं बालक ही करता है। जिस बालक को समय के पूर्व काम करने का अभ्यास कराया जाता है उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है।

मैडम मान्टसौरी की शिक्षा-प्रणाली में एक और भी दूसरा दोष है। उसमें कल्पना के विकास को रोका जाता है। मान्टसौरी महाशया बालकों को इस प्रकार की कहानियाँ सुनाने के विरुद्ध हैं जिनमें कल्पना का कार्य अधिक होता है। वे बालकों के खेलों में भी कल्पना को

स्थान नहीं देती है। इसके परिणाम स्वरूप बालक में अपने आप सोचने की शक्ति का विकास नहीं हो पाता। बालक की शिक्षा का उद्देश्य बालक को स्वतंत्र सोच सकने की शक्ति प्रदान करना होना चाहिये। इसके लिये बालक की कल्पनाशक्ति का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है।

मान्टसौरी महाशया ने एक इन्द्रियज्ञान की शिक्षा एक बार देने का प्रयत्न किया है। यह भी एक उनका नया वैज्ञानिक प्रयास है। इससे बालक के मानसिक विकास में सहायता न मिलकर, उसमें रुकावट ही होती है। बालक के खेल सदा स्वाभाविक होने चाहिये। बालक के खेलों में अथवा कामों में वैज्ञानिक शिक्षा के नाम पर जितनी जटिलता लाई जाती है उसके मानसिक विकास को वे खेल अथवा काम उतने ही हानिकर होते हैं। बालकों को जितनी इन्द्रियज्ञान की शिक्षा अपने साधारण मट्टी, कागज और लकड़ी के खेलों से होती है उतनी शिक्षा मेडम मान्टसौरी के शैक्षिक पदार्थों से नहीं होती। मेडम मान्टसौरी की शिक्षा से बालक की सामाजिक भावनाओं के विकास में भी रुकावट पड़ती है। जिस बालक को सदा अपने आप ही काम करने का अभ्यास हो जाता है उसका स्वार्थी व्यक्ति बन जाना स्वाभावि[illegible] है। खेल के द्वारा ही बालकों में स्वार्थ भाव की कमी और दूसरे [illegible] प्रेम करने की मनोवृत्ति की वृद्धि की जा सकती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि बालकों को मान्टसौरी पाठशाला[illegible] में तीन वर्ष की अवस्था से भेज देना न तो उनके बौद्धिक और [illegible] भावात्मक जीवन के विकास के लिये लाभकर है। इसके बदले बालक को घर पर ही दूसरे बालकों के साथ अनेक प्रकार के पदार्थों से खेलने देना उनके व्यक्तित्व और बुद्धि के विकास के लिये अधिक उपयोगी होगा। पर इस कथन का अर्थ यह न मान लिया जाय कि इस काल में बालकों की किसी प्रकार की देख रेख ही न की जाय। किसी भी

नहीं होती। इस समय बालक के मन में अनेक प्रकार की नई चीज़ें रचने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस रचना के इस कार्य में बालक दूसरे बालकों से सहायता लेता है और उनका अनुकरण करता है। बालक के इस काल के खेल सामाजिक खेल होते हैं।

६ वर्ष की अवस्था में बालक का स्कूल में जाना उचित है। कुछ प्रतिभाशाली बालक इसके पूर्व भी स्कूल में भेजे जा सकते हैं। बालक का इस समय तक इतना बौद्धिक विकास हो चुकता है कि उससे जो कुछ कहा जाय वह उसे समझे। वह स्कूल में अपने-आपको सम्हाल भी सकता है। बालक को इस समय लिखना-पढ़ना सिखाया जाना उचित है। बालक से ऐसे हाथ के काम कराना चाहिये जिनसे उसकी आविष्कारात्मक बुद्धि की वृद्धि हो। चित्रकारी, कागज के काम तथा गीली मिट्टी के काम इस समय कराये जा सकते हैं। इन कामों का उद्देश्य बालकों की आत्मस्फूर्ति की वृद्धि करना होता है। बालक को कोई भी ऐसे कामों में लगाना जिसमें उसे अपनी स्फूर्ति का उपयोग न करना पड़े उसके मानसिक विकास के लिये हानिकारक है। एक ही प्रकार के काम को प्रतिदिन बालक से कराना उनके ऊपर अत्याचार करना है। इस दृष्टि से ६ से १२ वर्ष के बालकों से प्रतिदिन एक घंटे चर्खा कतवाना हानिकारक है।

बालकों की शैशवावस्था और बाल्यावस्था के सीखने की विधि में एक मौलिक भेद यह है कि जहाँ पहली अवस्था में बालक प्रयत्न और भूल की विधि से सीखता है, दूसरी अवस्था में वह दूसरों का अनुकरण करके सीखता है। बालक नौ वर्ष की अवस्था के बाद गिरोह में रहना पसंद करता है और वह अपने नेता की बात मानता है। दस-बारह वर्ष के बालकों के अनेक गिरोह रहते हैं और गिरोह के नियम के अनुसार बालक चलने की कोशिश करता है। इस काल में किसी भी बालक को दूसरे बालकों की सहायता से बहुत कुछ सिखाया जा

करता है। जितना बालक इस काल में अपनी ही अवस्था के दूसरे बालकों से सीखता है उतना न वह अपने माता-पिता से सीखता और शिक्षक से।

बालक में इस काल में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति नहीं रहती। वह दूसरों के अनुकरण के रूप में ही सोचता है। जो वह अपने से बड़े अथवा अपनी अवस्था के बालकों को करते देखता है वह स्वयं भी करने लगता है। उसकी रुचियाँ बाहरी पदार्थों और क्रियाओं में ही रहती हैं। अतएव इस काल में बालक की शिक्षा में हाथ से काम करने तथा दृश्य पदार्थों के गुण जानने की ही प्रधानता होनी चाहिए। बालक को बारह वर्ष के पूर्व किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा देना उनके मानसिक विकास के प्रतिकूल है। इस काल में बालक में भली आदतें ही डाली जा सकती हैं। बालक इन आदतों का स्वयं मूल्य नहीं जानता। पर वे आदतें उनके पीछे काम में आ सकती हैं।

किशोरावस्था

बारह वर्ष से १८ वर्ष तक की बालक की अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। इस अवस्था के भी दो भाग हैं—पहली बारह से पन्द्रह तक और दूसरी पन्द्रह से अठारह तक। किशोरावस्था में बालक की रुचि बाहरी पदार्थों से हटकर काल्पनिक और बौद्धिक जगत में जाती है। इस काल में बालक बाहरी वातावरण से स्वतंत्र होने की चेष्टा करता है। उसकी अनुकरण की प्रवृत्ति अब उतनी प्रबल नहीं होती, वह अब अपनी आविष्कारात्मक बुद्धि से काम लेता है। उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति का कार्य अब भौतिक जगत् के क्षेत्र में न होकर मानसिक जगत् के क्षेत्र में होता है। किशोरावस्था के प्रथम काल में बालक अनेक प्रकार के विचारों का संग्रह करता है और उसके दूसरे काल में अपने मत को निश्चित करता है। पन्द्रह से अठारह वर्ष के बीच संसार को समझने और अपने स्वतंत्र मत को निश्चित करने का बालक ऐसे प्रयत्न

करता है ऐसा प्रयत्न वह कभी भी नहीं करता है। प्रौढ़ बुद्धि के बालकों की प्रतिभा का उदय इसी काल में होता है। जिस प्रकार बाल्यावस्था के समय बालक बाह्य वातावरण से परिचित होने और उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है इसी प्रकार किशोरावस्था में बालक मानसिक जगत से परिचित होने और उसे अपने अधिकार में करने की चेष्टा करता है। जिन बालकों में अपनी किशोरावस्था में विद्रोह करने और स्वतंत्र विचार करने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती वे प्रायः जीवन भर ही मानसिक गुलामी में रहे आते हैं। बालकों का कल्याण चाहनेवाले व्यक्तियों के लिये यह आवश्यक है कि वे प्रत्येक बालक के साथ अलग अलग बातचीत करें और उनके संदेहों को दूर करने की चेष्टा करें। किशोर बालकों के सन्देहों को जबरदस्ती दबा देना उनके प्रति अन्याय करना है।

किशोर बालकों की शिक्षा में स्मृति के काम की इतनी प्रधानता न होनी चाहिये जितनी कि छोटी अवस्था के बालकों की शिक्षा में रहती है। किशोर बालक जो कुछ भी याद करें उसे वे ठीक से समझ जायँ। किशोरावस्था में बालकों को नई भाषा सिखाना उनके मानसिक विकास के प्रतिकूल है। किसी भी नई भाषा का प्रारंभ बारह वर्ष की अवस्था से पहले हो जाना चाहिये। दस और बारह वर्ष की अवस्था के बीच ही विदेशी भाषाओं अथवा पुरानी भाषाओं का शिक्षण प्रारंभ हो जाना उचित है। इस काल में अनुकरणात्मक बुद्धि और स्मृति की प्रधानता होती है और उनमें स्वतंत्र सोचने की शक्ति नहीं रहती। स्वतंत्र सोचने की शक्ति के उदय होने पर अनुकरणात्मक बुद्धि और स्मृति की कमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में नई भाषा का सीखना कठिन हो जाता है। किशोरावस्था में भाषा समझकर ही सीखी जा सकती है।

किशोरावस्था में बालक की शिक्षा में बौद्धिक ज्ञान का बाहुल्य

काम-वासना की जाग्रति की अवस्था है। इस अवस्था में प्रेम
एकाएक वृद्धि होती है। प्रेम की वृद्धि के साथ-साथ बालक में
और त्याग की मनोवृत्ति का उदय होता है और दूसरी ओर अनेक
प्रकार की मानसिक झंझटों का भी बीजारोपण होता है। किशोरावस्था
में बालक काम-सम्बन्धी कुटेवों में भी पड़ जाते हैं। इनके कारण
उनका जीवन क्लेशमय हो जाता है। इन कुटेवों का हम वर्णन पहले
कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि बालक को इस काल
में शारीरिक परिश्रम के बहुत से काम देना आवश्यक है। जब किसी
व्यक्ति की शक्ति शारीरिक कार्य में खर्च हो जाती है तो उसमें वे
प्रवृत्तियाँ प्रबल नहीं होतीं जिनके कारण बालक को अनेक प्रकार की
आत्म-ग्लानि की अनुभूति करनी पड़ती है।

प्रौढ़ावस्था

किशोरावस्था के बाद प्रौढ़ावस्था आती है। अठारह वर्ष के बाद
प्रौढ़ावस्था का काल समझा जाता है। जब बालक का मानसिक
विकास उचित रूप से होता है तो बालक प्रौढ़ावस्था के प्राप्त होने पर
अपना काम आप कर लेने और स्वतंत्र सोचने की शक्ति प्राप्त कर लेता
है। उसका ज्ञान बढ़ा हुआ रहता है और वह संसार के सभी सामान्य
विषयों में अपना निश्चित मत रखता है। किशोरावस्था के अन्त होने
पर बालक की स्कूल की शिक्षा का अन्त होता है। इसके बाद
यूनिवर्सिटी की शिक्षा का प्रारम्भ होता है। कितने ही बालकों के स्कूल
की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद शिक्षाकाल का अन्त हो जाता है।
जो योग्यता बालकगण स्कूल में प्राप्त कर लेते हैं उसका आगे के
जीवन में चलकर उपयोग करते हैं। यूनिवर्सिटी की शिक्षा का ध्येय
बालक के अनुभव का एक और अधिक प्रसार है और दूसरी ओर उसमें
अधिक स्वतंत्र सोच सकने की शक्ति का उदय करना है। जो व्यक्ति
जितनी अधिक स्वतंत्रता से सोच सकता है और जो अपने कार्यों में

हैं। कितने ही बालकों में परीक्षायें पास कर लेने मात्र की देव होती है। अपनी बुद्धि से सोचने का अवसर न मिलने के कारण उन वास्तविक बौद्धिक विकास नहीं होता। इसके प्रतिकूल जो बच पाठ्य-पुस्तकों को कम पढ़ते हैं पर उनके अनुभव में आनेवाले प्रत्ये विषय पर बहस करते हैं उनकी बुद्धि विकसित होती है।

बालकों की बुद्धि का विकास पढ़ाई के ढंग पर भी निर्भर करत है। जिस स्कूल में कक्षा की पढ़ाई का उद्देश्य पाठ याद कराना नहीं होता, वरन् बालक में स्वतंत्र सोचने की शक्ति प्रदान करना होता है, उस स्कूल के बालकों की बुद्धि तीक्ष्ण रहती है। स्वतंत्र विचार करने से ही बौद्धिक विकास होता है। इसी से बालक में स्वावलंबन आता है। जो बालक जितना ही अधिक अपने-आप सोचता है वह आगे चलकर उतना ही योग्य नागरिक बनता है। बालकों की शिक्षा में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहाँ तक बालक में उपस्थित बौद्धिक सामग्री को काम में लाने की योग्यता आ गई है।

जिस प्रकार बालक के मानसिक विकास में बौद्धिक रुकावट होती है, इसी प्रकार उचित शिक्षा के अभाव से उनके मानसिक विकास में भावात्मक रुकावट होती है। कितने ही प्रौढ़ व्यक्ति हमें ऐसे मिलते हैं जो भावात्मक दृष्टि से बचपन की अवस्था में ही बने हुए हैं। वे सुन्दर व्याख्यान दे लेते हैं और बहस करने में अपने प्रतिद्वन्दी को हरा देते हैं, पर उनमें यह योग्यता नहीं है कि कठिन समस्या के आने पर अपनी मानसिक दृढ़ता को रख सकें। किसी भी कठिनाई के आते ही उनका मन उथल-पुथल हो जाता है। वे बेचैन हो जाते हैं और अपनी भूख और निद्रा को खो देते हैं। कितने ही विद्वान पुरुष छोटी-छोटी बातों पर चिढ़ जाते हैं और अपने साथियों को भला-बुरा कह डालते हैं। अपना थोड़ा सा भी नुकसान हो जाने पर वे अपनी मानसिक शान्ति को खो बैठते हैं। कितने ही प्रौढ़ व्यक्ति सदा अपनी पोशाक सजाने

में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं, उनको अपना चेहरा दर्पण में देखने से अवकाश ही नहीं मिलता। ये सभी व्यक्ति शरीर से प्रौढ़ावस्था में हैं पर वास्तविक मानसिक दृष्टि से बचपन की ही अवस्था में हैं। वही मनुष्य वास्तव में प्रौढ़ व्यक्ति कहा जा सकता है जो न केवल बौद्धिक दृष्टि से वरन् भावात्मक दृष्टि से भी मानसिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

मानसिक विकास में भावात्मक रुकावट का कारण व्यवहार ज्ञान की कमी होती है। जिस बालक को दूसरे बालकों से जितना अधिक मिलना पड़ता है और जो दूसरों की सेवा करने में जितनी तत्परता दिखाता है उसका भावात्मक विकास उतना ही अधिक होता है। विद्याध्ययन में लगे हुए बालक प्रायः अपने भावात्मक जीवन में दूसरे बालकों से पिछड़ जाते हैं। अतएव बालकों का पुस्तक ज्ञान उन्हें लाभ न पहुँचा कर हानि पहुँचाता है। जब बालक के पुस्तक की ज्ञान और बाह्य जगत के अनुभव में समता रहती है तो बालक का मानसिक विकास उचित रूप से होता है। समुचित मानसिक विकास की परख एक ओर व्यावहारिक स्वावलंबन है और दूसरी ओर कठिनाइयों में पड़ने पर भी अनुद्विग्न मन रहना है। जिस व्यक्ति में जितना ही अधिक आत्म-विश्वास है उसका जीवन उतना ही विकसित मानना चाहिये।

छठा प्रकरण

विकासमय जीवन

इच्छाओं की तृप्ति और उनका विकास

प्रत्येक स्वस्थ बालक का जीवन विकासमय होता है। बालक के सुयोग्य लालन-पालन से उसके मानसिक विकास में सहायता मिलती है। जब बालक का लालन-पालन सुयोग्य रीति से नहीं होता तो उसके मानसिक विकास में रुकावट पड़ जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान के कथनानुसार बालक की इच्छाओं के तृप्त न होने से उसके चरित्र में सुधार नहीं होता, अपितु इसके कारण अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बालक के व्यक्तित्व के सुगठित होने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी बचपन की इच्छाओं का दमन न होकर उनको समुचित तृप्ति हो। समुचित तृप्ति होने पर बालक की इच्छाओं में अपने आप विकास होता जाता है। बालक एक के बाद एक पदार्थ को पा उनसे विरत हो जाता है और उच्च कोटि के पदार्थ की इच्छा करता है। जीवन का विकास इसी तरह नीच कोटि की इच्छाओं के शान्त हो और उच्च कोटि की इच्छाओं के उदय में है।

मुन्नू* पहले मिठाई खाने के लिये बड़े लालायित रहते थे। उ मिठाई जितनी वे चाहते थे दी जाती थी। साथ ही साथ उन्हें अने प्रकार के खेलों के प्रति आकर्षित किया जाता था। कुछ दिन बा

---

* "मुन्नू" लेखक के बालक का घरेलू नाम है। इसकी अवस्था ६ साल की है।

उनकी मिठाई खाने की लगन जाती रही और खेलने के विभिन्न पदार्थ माँगने लगे। एक दिन मुन्नू सन्दूक के लिये हँठ गए, बिना सन्दूक के उन्हें चैन नहीं मिलती थी। सन्दूक खरीद ली गई। कुछ दिन तक वे सन्दूक को ही अनेक प्रकार से रखते और उसमें अपना सामान सजाते रहते। उसमें ताला भी डाला जाता था, चाबी ठीक से रखी जाती थी। दो-चार दिन के बाद सन्दूक का ध्यान चला गया। अब फुटबाल पर ध्यान आया। फुटबाल के बिना अब चैन नहीं मिलती थी। फूटबाल खरीदी गई। उसे कई दिनों तक खेली। फिर हाकी पर ध्यान गया। हाकी और गेंद खरीदी गई, पाँच-सात दिन में इसका भी शौक पूरा हुआ। अब रेकेट और बैडमिंटन बाल की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या बालकों की इस प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करना उचित है? क्या एक इच्छा के तृप्त होने पर दूसरी उत्पन्न नहीं हो जाती? यदि बालक पहले से ही निराश कर दिया जाय तो क्या वह आत्म-संयम करना नहीं सीख लेगा और क्या इससे वह अधिक सुखी व्यक्ति नहीं बनेगा? मनोविज्ञान का कथन है कि बालक के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये अपनी बचपन की इच्छाओं को तृप्त किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि बालक की इच्छाओं को तृप्त करने में सावधानी रखी जाय और उसे उचित वातावरण में रखा जाय तो उसकी इच्छाओं में विकास होगा। पहले उसकी इच्छायें खाने, कपड़े पहनने, सुन्दर दृश्य देखने की होंगी। पीछे वह खेल कूद में आनंद लेने लगेगा। खेल-कूद का आनंद रचनात्मक आनंद है। जो बालक इस प्रकार के आनंद का स्वाद जान लेता है वह विलासी नहीं बनता। वह अपनी शक्ति के प्रकाशन में ही आनंद की खोज करता है।

यदि किसी बालक की पहले की इच्छाओं की ठीक से तृप्ति न की जाय तो बालक शरीर से बढ़ते हुए भी मानसिक उन्नति नहीं करता। वह उसी मानसिक स्थिति में बना रहता है जिस स्थिति की वे इच्छायें

होती है। इस तरह कितने ही प्रौढ़ व्यक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चे ही बने रहते हैं। भिक्षाभोजन, कायरता, शरीर की सजावट में मन लेना, बहुभोजन आदि अवगुण उन व्यक्तियों में पाये जाते हैं जिनके बचपन की इच्छाओं का समुचित विकास नहीं होता।

मानसिक विकास में रुकावट

इच्छाओं के विकास के लिये दो बातों की आवश्यकता है—पहले इच्छाओं का तृप्त होना और दूसरे उच्च कोटि की इच्छाओं के मन में उत्पन्न होने के लिये उचित वातावरण का तैयार होना। किसी भी इच्छा का उसके समय से अधिक देर तक ठहरना भी बालक के मानसिक विकास के लिये हानिकर होता है। बालकों की खाने-पीने की इच्छा तृप्त करना एक बात है और उन्हें खाने में सदा मन रखनेवाला बनाना दूसरी बात है। यदि बालकों की खाने की इच्छा ठीक तरह से तृप्त की जाय तो वे स्वयं फिर भूख लगने पर ही खाना माँगते हैं और ऐसी अवस्था में उन्हें जो मिल जाता है उसी को वे आनन्द से खा लेते हैं। उनका मन सदा खेल में रहता है, और खाने-पीने के पदार्थों के बारे में सोचने की उनको फ़ुरसत ही नहीं रहती। अतएव खाने-पीने में बालकों के प्रति अधिक लाड़ दिखाना उतना ही बुरा है जितना उनकी इस इच्छा के तृप्त करने में उदासीन रहना। इसी तरह बालक की अन्य इच्छाओं की बात है।

बालक के जीवन का विकास किसी भी इच्छा को देर तक बनाये रहने से भी रुक जाता है। लाड़ का यही दुष्परिणाम होता है कि हम बालक को आगे नहीं बढ़ने देते। हम उसे स्वावलम्बी बनने से रोकते हैं। प्रत्येक शिशु में माता की गोद में रहने की इच्छा रहती है। इसके लिए वह सदा रोता रहता है। बालक को कुछ काल तक माँ की गोद में रहना अच्छा है, पर कभी कभी माँ को बालक को जान-बूझ कर अपनी गोद से हटा देना भी आवश्यक है। उसे कोई खिलौना

देकर गोद से अलग होकर खेलने दिया जाय। बालक में जितनी ही अधिक इस प्रकार की आदत डाली जाती है वह उतना ही स्वावलम्बी बन जाता है।

इसी तरह बालक के खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने, खेल-तमाशा देखने की इच्छाओं को तृप्त करना उसके मानसिक विकास के लिये भला है, पर जब कोई बालक इन्हीं में रह जाता है, जब वह अपने स्कूल के कामों के प्रति उदासीनता दिखाता है तो हमें समझना चाहिये कि उसके मानसिक विकास में रुकावट उत्पन्न हो गई है। स्वस्थ किशोर *बालक बाह्य सुखों की खोज की अपेक्षा अपनी शक्ति के प्रकाशन में* अधिक आनन्द पाता है। लेखक के कितने ही परिचित ऐसे बालक हैं जिन्हें सिनेमा जाने की रुचि ही नहीं रहती। वे सदा पाठशाला के काम में ही मनोयोग से लगे रहते हैं। वे स्कूल के काम को इतने चाव से करते हैं और उनके करने में उन्हें इतने आनन्द की अनुभूति होती है कि अन्य प्रकार के आनन्द की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती।

धनी घर के बालकों की दशा

कहा जाता है कि धनी घर के बालक बिगड़ जाते हैं। इस कथन में मौलिक सत्य है। धनी माता-पिता बालक की इच्छाओं को तृप्त करने में ही लगे रहते हैं, वे यह नहीं देखते कि उनकी इच्छाओं में विकास कहाँ तक हो रहा है। इच्छाओं में विकास होने के लिये उचित वातावरण की आवश्यकता होती है। जिस बालक ने किसी राष्ट्रीय नेता का नाम ही नहीं सुना वह उसकी जयन्ती मनाने में क्या आनन्द ले सकता है। जिस बालक ने अपने माँ-बाप को दूसरों की सेवा करते, गरीबों को खिलाते पिलाते नहीं देखा उसमें दूसरों की सेवा करने की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। वातावरण के संस्कार ही व्यक्ति के मन में सद्भावनायें अथवा दुर्भावनायें उत्पन्न करते हैं। उचित शिक्षा का ध्येय बालकों के मन में शुभ संस्कार डालना है। इन संस्कारों के

रहने पर बालकगण भले काम करने की इच्छा करने लगते हैं। इच्छाओं के तृप्त होने पर भले काम स्वभावतः होने लगते हैं। इस लिये बालकों को दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

बालकों में किसी सद्गुण का प्रवेश एकाएक नहीं होता। बालक एकाएक सद्गुणी बन जाता है प्रौढ़ावस्था में विकास की पिछली सीढ़ी पर उसके गिरने आने का डर रहता है। अतएव हमें बालकों की मानसिक उन्नति के विषय में उतावला न होना चाहिये। धीरे-धीरे एक एक करके मानसिक विकास की सीढ़ी पार करके ही बालक चरित्र की उच्च मंजिल तक पहुँचता है यही जीवन में सफलता प्राप्त करता है। ऐसा ही बालक अपनी उच्चता को सदा बनाये रहता है।

इच्छाओं के विकास के उपकरण

बालक की इच्छाओं के विकास के लिये दो विरोधी बातों की आवश्यकता होती है—एक इच्छाओं का तृप्त करना और दूसरे उन पर नियंत्रण करना। ये दोनों बातें एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। जिस बालक की सामान्य शारीरिक इच्छायें तृप्त नहीं होतीं, उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति भी नहीं आती। जिस बालक की सामान्य इच्छाओं का क्रूरतापूर्वक दमन होता है वह अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करने से अपने आपको रोकने में असमर्थ रहता है। ऐसे बालक के मन में अनेक प्रकार की आत्महीनता की ग्रन्थियाँ रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ उसे अपनी स्वतंत्र इच्छा के प्रतिकूल ही अविवेकपूर्ण आचरण के लिये बाध्य करती हैं। ...लित इच्छाओं के बालक के मन में आत्महीनता की ग्रन्थियाँ विशेष... र रहती हैं जिनके कारण बालक में अपराध की मनोवृत्ति का उदय ...ता है।

परन्तु बालक की सभी इच्छाओं को सदा तृप्त करते रहना उतना ही ... है जितना उनका कठोरतापूर्वक दमन करना।

में संघर्ष से ही इच्छाओं का विकास होता है। इस संघर्ष का बार-बार अवसर बालक के जीवन में आते रहना चाहिये। बालक में नैतिक स्वत्व का तभी विकास होता है जब वह इस प्रकार के संघर्ष में सफल होता है। जिस बालक की सभी इच्छायें तुरंत पूरी कर दी जाती हैं, उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं आती। ऐसा बालक संसार को भोगशाला मान लेता है। वह जहाँ कहीं जाता है सुख की आशा करता है। वह अपने सुख के लिये दूसरों को दुःख देने में हिचकता नहीं। इसके परिणामस्वरूप वह अपने आस-पास दुःख का वातावरण निर्मित कर लेता है।

बालक की इच्छाओं में भी उसी प्रकार संघर्ष होता है जिस प्रकार इच्छा और इच्छा और विवेक में संघर्ष होता है। इन इच्छाओं का संघर्ष वास्तव में विवेक और इच्छाओं के संघर्ष का एक रूप है। इस प्रकार के संघर्ष से बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालक को अपनी निम्नकोटि की इच्छा का परित्याग और उच्चकोटि की इच्छा को दृढ़ करने में प्रोत्साहित करें। इस प्रकार बालक में आत्म-संयम का भाव आता है। आत्म संयम का भाव आना ही विकासमय जीवन का लक्षण है।

विकासोन्मुख बालक के लक्षण

विकासोन्मुख बालक उत्साही और क्रियाशील होता है। वह सदा नए नए काम करने में आनंद लेता है। वह जितने ही अधिक नए काम करता है उसे उतना ही अधिक आत्म-सन्तोष होता है। उसके काम न सिर्फ उसका सुख बढ़ाते हैं वरन् दूसरों का भी सुख बढ़ाते हैं। इसके प्रतिकूल कुछ बालक ऐसे होते हैं जो खाने पीने, खेल-तमाशा देखने, सुन्दर कपड़े पहनने और कई प्रकार की विलासिता में आनंद लेते हैं। ऐसे कई किशोर बालकों में काम-भावना भी प्रबल होती है अतएव वे छुपे रूप से अनेक प्रकार की काम-क्रीड़ायें भी करते हैं।

ऐसे बालक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अस्वस्थ कहे जा सकते हैं। आन्तरिक मन से दुःखी रहते हैं। इस दुःख को भुलाने के लिये उन्हें विलासी बनना पड़ता है।

मनुष्य का आनंद दो प्रकार का होता है—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। डाक्टर होमरलेन ने एक को रचनात्मक आनंद (एक्टिव हेपीनेस अथवा क्रियेटिव हेपीनेस) और दूसरे को भोगात्मक आनंद (पेसिव अथवा पजेसिव हेपीनेस) कहा है। रचनात्मक आनंद की विशेषता यह है कि मनुष्य इसमें अपनी मानसिक शक्ति के प्रकाशन में आनंद लेता है। इस प्रकार का आनंद बाह्य पदार्थ का आनंद नहीं, अपनी शक्ति की अनुभूति का आनंद है। इससे संसार का कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता, वरन् नई रचना होती है। इस आनंद से अपना और दूसरों का लाभ होता है। रचयिता को रचना रचनात्मक आनंद देती है और दूसरे लोग रचित पदार्थ से लाभ उठाते हैं। ऐसा मनुष्य किसी के ऊपर भार बनकर नहीं रहता। उसके कार्यों से दूसरों का सुख बढ़ता है और उनकी सेवा होती है। रचनात्मक आनंद में मग्न रहने की आदत सभी प्रकार के चरित्र के सद्गुणों का आधार है।

भोगात्मक आनंद को सुख कहते हैं। सुख किसी बाह्य पदार्थ के प्राप्त करने से होता है। सुख की इच्छा मनुष्य को नई रचना के लिये प्रेरित नहीं करती, वरन् संसार के पदार्थों को खर्च करने के लिये बाध्य करती है। भोग की इच्छा मनुष्य के मन को कमजोर बनाती है। यह मानसिक शक्ति को सुप्तावस्था में ले जाती है। भोग की इच्छा से आत्म प्रकाशन न होकर मानसिक जटिलता बढ़ती जाती है। सुख भोगने की आदत पड़ जाने से मनुष्य में चरित्र के सभी प्रकार के दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। भोगी मनुष्य अपने आपको अनेक प्रकार से सुभाते रहता है। वह दूसरों का ईर्ष्यालु होता है। वह दूसरों की निंदा करते रहता है। दूसरों को दुःखी बनाने में उसे कोई हिचकिचाहट नहीं होती। भोग से संसार

की सुन्दर वस्तुओं की वृद्धि न होकर उनका विनाश होता है। अतएव सुख की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति से समाज का किसी प्रकार का लाभ न होकर हानि ही होती है।

बालकों का विलासीपन

अब प्रश्न यह है कि बालकों में विलासीपना अथवा सुख की खोज करने की आदत कैसे पड़ जाती है और रचनात्मक आनन्द की खोज करना वह क्यों छोड़ देता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि बालकों के माता-पिता सुशिक्षित न होने के कारण वे दोनों प्रकार के आनंदों का भेद और उनकी कीमत ही नहीं जानते हैं। बालकों को जिस प्रकार के आनंद लेने का अभ्यास कराया जाता है उन्हें उसी प्रकार के आनंद की खोज की आदत पड़ जाती है। बहुत से व्यक्ति तो रचनात्मक आनंद क्या पदार्थ है इसे जानते ही नहीं हैं। वे सुख के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के आनंद को नहीं पहचानते। वे अपने बालकों को सब प्रकार से सुखी बनाना चाहते हैं। अतएव उन्हें सभी प्रकार की विलासिता के पदार्थ देते हैं। इससे उनकी सुखों की भूख और बढ़ती जाती है। उनमें दूसरों पर भार बनकर रहने की आदत पड़ जाती है। न्हें यह ज्ञान नहीं हो पाता कि रचनात्मक कार्य के करने में एक शेष प्रकार का आनंद है, जिसके सामने दूसरे आनंद तुच्छ हैं। ऐसे लक प्रत्येक काम को भार-रूप देखते हैं। वे किसी काम को उत्साह नहीं करते, भयवश करते हैं।

कितने ही माता-पिता बालकों में रचनात्मक कार्य करने की शक्ति ा विनाश उनके ऊपर सह सकने से अधिक भार रखकर कर देते हैं। ालकों में रचनात्मक कार्य करने की आदत डालने के लिये यह ावश्यक है कि एक ओर उन्हें उत्तरोत्तर कठिन काम दिये जायँ, और ूसरी ओर उन्हें कोई ऐसा काम न दिया जाय जिससे उनका उत्साह

भंग हो जाय। कितने ही माता पिता बालकों को स्कूल में परी-
पास करने के लिये भेजते हैं। वे भूल जाते हैं कि परीक्षायें बालकों
योग्यताओं के आँचने का साधन मात्र है। पाठशालाओं की पढ़ाई
मुख्य उद्देश्य न तो परीक्षाओं में लड़कों को पास कराना है और
उस ज्ञान की वृद्धि ही है जिसकी कि परीक्षा होती है; उसका मुख्य
उद्देश्य बालकों में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना है। इसके बिना न
बालक की बुद्धि का विकास हो सकता है और न उसमें कोई चरित्र क
गुण ठहर सकता है। आत्म विश्वास के अभाव में मनुष्य में सब
प्रकार के चरित्र के दोष आ जाते हैं, और उसकी प्रतिभा भी नष्ट हो
जाती है। बालकों को उनकी योग्यता से अधिक काम देने से उनका
आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। एक बार जब उनका आत्म-विश्वास
चला जाता है तो वे रचनात्मक आनंद का उपभोग करने की शक्ति खो
देते हैं। वे जो कुछ करते हैं उससे उनके उत्साह की वृद्धि न होकर
मानसिक कायरता उत्पन्न होती है। जब बालक में बार-बार कहे जाने
पर काम करने की आदत पड़ जाती है तो वह बुद्धू हो जाता है। वह
जितना ही अधिक भयवश काम करता है वह उतना ही अपनी काम
करने की योग्यता को खो देता है। जब बालक के जीवन में रचनात्मक
आनंद का अभाव हो जाता है तो वह स्वभावतः दूसरे प्रकार के आनंद
की ओर आकर्षित होता है, अर्थात् वह अनेक प्रकार के सुखों को चाह
करने लगता है। यदि ऐसा बालक किसी धनी घर का हुआ और उसे
पर्याप्त पैसा मिला तो वह विलासी बन जाता है। जिस मनुष्य को
अपनी आन्तरिक शक्ति की अनुभूति का अभाव रहता है उसे बाह्य
सुख की खोज स्वभावतः करनी पड़ती है। जब एक बार मनुष्य में
बाह्य सुखों में रमण करने की आदत पड़ जाती है तो उसके रचनात्मक
आनन्द की कीमत पहचानना कठिन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों में न
उत्साह रहता है और न किसी प्रकार का आत्म-विश्वास। वे बाह्य

सुखों के अभाव में अपने आपको बड़े ही दुःखी पाते हैं। उनमें सदा कर्तव्य से जी चुराने की भावना बनी रहती है।

एक उच्च शिक्षा-विभाग के अधिकारी का बालक एक बार छोटी कक्षा में फेल हो गया। बालक के पिता उसे हर साल कक्षा में पास कराना चाहते थे। उन्होंने अपने प्रभाव को काम में लाकर बालक को दूसरे स्कूल में रख दिया जहाँ बालक को आगे की कक्षा को पास करने की सुविधा मिली। पर बालक कमजोर बना ही रहा। उसके लिये घर पर एक मास्टर रख दिया गया। किसी प्रकार वह बालक परीक्षायें पास करते गया। उच्च अधिकारी का बालक होने के कारण शिक्षकगण भी उसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायता देते गए। अब ऐसा समय आ गया जहाँ उसका परीक्षा में पास होना कठिन हो गया।

अपनी असफलता से प्रत्येक व्यक्ति दुःखी होता है। इस दुःख को भुलाने के लिये वह किसी प्रकार के बाह्य सुख की खोज करता है। अतएव जिस बालक के मन में असफल होने का दुःख है और रचनात्मक आनंद की कमी है वह अवश्य ही सुखवादी बन जाता है। यदि ऐसे बालक के माता-पिता उसे सुविधा दें तो वह विलासी बन जाता है। दिन-भर अपने साथियों के साथ इधर-उधर घूमना, सुन्दर-सुन्दर खाना और हँसी-मजाक में समय व्यतीत करना, सिनेमा देखना, होटलों में जाना और अनेक प्रकार के बाह्य सुखों की खोज करना आदि कामों में ऐसे बालक का समय व्यतीत होता है।

कितने दुःख की बात है कि हमारे देश के सुशिक्षित कहे जानेवाले कितने ही व्यक्ति अपने बालकों का जीवन उपर्युक्त विधि से दुःखी बना देते हैं। वे उन्हें बरबस विलासिता की ओर ढकेलते हैं। अति लाड़ में पला बालक और अति बोझा ढोनेवाला बालक, दोनों ही इस बात में अभागे होते हैं। उन्हें आत्मबोध हो नहीं पाता। किसी भी काम के

नहीं होता। जिस बालक को अपनी रचनात्मक शक्ति के प्रकाशन के आनन्द का ज्ञान नहीं हो पाता वह कर्तव्य को भारस्वरूप मानकर ही करता है। ऐसा व्यक्ति कर्तव्य से बचने के लिये अनेक प्रकार के बहाने खोजा करता है। वही व्यक्ति कर्तव्य ठीक तरह से कर सकता है जो उसके करने में आनन्द की अनुभूति करता है। व्यक्ति में इस प्रकार के आनन्द की अनुभूति की शक्ति का उदय करना सुयोग्य शिक्षा का ध्येय है।

अभिभावकों और शिक्षकों को बालकों से किसी भी काम को कराते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि वे उसे किस भाव से करते हैं। जो काम बालक प्रसन्नता से और उत्साहपूर्ण करते हैं उसी से चरित्र के गुणों का विकास होता है; भयवश किया गया कार्य चरित्र के गुणों का विनाश करता है। भय मानसिक दुःख है; इस दुःख को भुलाने के लिये मनुष्य विलासिता की शरण लेता है। रचनात्मक आनंद का उपभोग करनेवाला व्यक्ति कभी विलासी अथवा चरित्रहीन नहीं होता। उसमें आत्म-विश्वास रहता है, जिसके कारण वह सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहता है।

सातवाँ प्रकरण

बालकों की प्रसन्नता और मानसिक विकास

प्रसन्नता और स्वास्थ्य

बालकों के स्वास्थ्य का उनकी प्रसन्नता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो बालक सदा हँसी-खुशी से खेलते हुए अपना दिन बिताते हैं वे स्वस्थ रहते हैं, और जो किसी रचनात्मक कार्य में नहीं लगे रहते हैं वे किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहते हैं। बालकों के खेल में लगे रहने से उनको कोई दूसरा मानसिक लाभ होता हो अथवा नहीं, पर इतना तो निश्चित है कि इससे उनके मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है। बालकों को किसी भी प्रकार प्रसन्नचित्त बनाने की चेष्टा करना उन्हें स्वस्थ बनाना है।

लेखक के एक मित्र का लड़का बड़ा हठ करता है। ऐसे तो वह प्रखर बुद्धि का बालक है—वह तरह-तरह के चित्र बना लेता है, अनेक प्रकार के खिलौने बनाने की भी उसमें योग्यता है, किन्तु उसमें रूठने की आदत भी बहुत अधिक है। वह कभी कभी घण्टों रोता रहता है। उसके पिता उसके हठ से तंग आ गये। वह अपनी मनमानी बात कराकर ही रहता है, चाहे वह कितनी ही अनुचित क्यों न हो। पिता चाहते हैं कि वह अब कुछ ज्ञान की बातें भी सीखे, किन्तु आठ वर्ष का हो जाने पर भी उसमें पाँच, छः वर्ष के बालक जैसा हठ बना हुआ है। उसकी माँ उसे बहुत प्यार करती है और उसके रोने से उसे बहुत दुःख होता है, किन्तु माता के प्रयत्न करने पर भी वह किसी का कहना नहीं मानता। उसके इस प्रकार के व्यवहार का एक परिणाम

यह हुआ है कि वह बार बार बीमार हो जाता है। कभी उसको बु
होता है, कभी पेट में कृमि की बीमारी और कभी आँखें आ जाती
माता-पिता को उसके स्वास्थ्य के विषय में सदा चिन्तित रहना प
है। उसका शरीर दुबला-पतला है और उसकी मिठाई खाने की इ
बड़ी प्रबल है; पर बीमार हो जाने के डर से मिठाई नहीं दी जाती।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वास्थ्य बहुत कुछ प्रसन्नता
निर्भर है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या है? आधुनिक मनोविज्ञा
ने इस विषय पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। यदि संरक्षक ए
पर समुचित ध्यान दें तो वे अपने बालकों का स्वास्थ्य बनाये रखने के
प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हो सकते हैं।

स्वास्थ्य मन की एकता की अवस्था का नाम है। जब किसी
व्यक्ति के भीतरी और बाहरी मन में एकता रहती है अर्थात् जब उसके
मन में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता, तब मानसिक स्वास्थ्य
उत्पन्न होता है। बाहरी और आन्तरिक मन की समरसता स्थापित होने
पर व्यक्ति के मन में प्रसन्नता की स्थिति उत्पन्न होती है। यह प्रसन्नता
की स्थिति मानसिक स्वास्थ्य की सहगामिनी है। इसी का परिणाम
शारीरिक स्वास्थ्य होता है। इसके प्रतिकूल अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति है।
इसमें व्यक्ति की आन्तरिक इच्छाओं का अवरोध होता है, उसे अनेक
प्रकार की चिन्ताएँ घेरे रहती हैं, जिनके कारण उसकी प्रसन्नता नष्ट
हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप शारीरिक स्वास्थ्य भी नष्ट हो
जाता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति इच्छा के प्रकाशन में किसी
प्रकार की रुकावट के कारण होती है। प्रौढ़ व्यक्तियों में यह रुकावट
अपना ही मन उत्पन्न करता है, पर बालकों के मन में रुकावट बाहर
से होती है। यही कारण है कि प्रौढ़ व्यक्तियों के रोग बालकों के रोगों
की अपेक्षा अधिक जटिल होते हैं। मानसिक शक्ति के प्रवाह में रुकावट
उत्पन्न होने का ही नाम रोग है। इससे मानसिक क्लेश भी उत्पन्न होता

है। इसके विपरीत शक्ति का सुचारु रूप से प्रवाहित होना स्वास्थ्य है। ऐसी ही अवस्था में मानसिक प्रसन्नता विद्यमान रहती है। बालकों की खाने-पीने की साधारण इच्छाएँ जब पूर्ण हो जाती हैं तब वे किसी न किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में लग जाते हैं जो प्रायः खेल के रूप में होता है। खेल मानसिक प्रसन्नता की स्थिति उत्पन्न करता है और इससे प्राप्त सुख खाने-पीने के सुख से उच्चतर कोटि का होता है। किन्तु इस सुख का आस्वादन वही बालक कर सकता है जिसकी खाने-पीने की इच्छा, अर्थात् निम्न कोटि के सुख की उपभोग की इच्छा समुचित रूप से तृप्त हो गई है। जिस बालक की खाने-पीने की इच्छा ठीक से तृप्त नहीं होती उसका मन खेल में न लगकर खाने-पीने की वस्तुओं में ही लगा रहता है। ऐसा बालक बात-बात में रोता रहता है। वह अनेक प्रकार का हठ करता है। यह हठ उसके मानसिक विकास में रुकावट का प्रदर्शक है। रचनात्मक कार्य में लगा हुआ बालक जिस आनन्द की अनुभूति करता है उसके सामने वह खाने-पीने के सुख को भूल जाता है। इससे जो मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न होती है वह बालक की मानसिक शक्ति को बढ़ाती है और उसकी प्रतिभा को प्रस्फुरित करती है।

जो बालक खेल में लगा रहता है उसमें एक ओर आत्म-स्फूर्ति रहती है और दूसरी ओर उसके शरीर के अंगों का व्यायाम होता रहता है। शरीर के प्रत्येक अंग अपना-अपना काम करते रहने से स्वस्थ रहते हैं। किसी अंग के निकम्मे रहने पर ही रोग की उपस्थिति होती है। जब बालक का सारा शरीर काम में लगा रहता है, तो उसकी पाचन क्रिया ठीक से होती रहती है।

रचनात्मक कार्य करते रहने की अवस्था में तथा सदा प्रसन्नचित्त रहने की अवस्था में बालक के मन में आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं उत्पन्न होतीं। आत्म-हीनता की ग्रन्थियाँ बालक में चिड़-

चिड़ापन, ईर्ष्या और द्वेष की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। इनका बालक के स्वास्थ्य पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ता है। ईर्ष्यालु बालक कभी प्रसन्नचित्त नहीं रहता और वह शारीरिक स्वास्थ्य का भी उपभोग नहीं करता।

प्रसन्नता की अवस्था में बालक दूसरों से आरोग्य के निर्देश ग्रहण करता है। बालक के आरोग्य के विषय में निर्देश उसे शक्तिशाली बनाते हैं। प्रसन्नता बालक में चञ्चलता उत्पन्न करती है जो उसके स्वास्थ्य की सूचक है। अप्रसन्नता के परिणाम इसके प्रतिकूल होते हैं। अप्रसन्न बालक रोग का आवाहन करता है। रोगी बनकर बालक अपना प्रभुत्व अपने माता-पिता पर जमाना चाहता है। जिस बालक की इस प्रकार की इच्छा का जितना ही अवरोध होता है वह उतना ही अधिक रोगी होता है। किन्तु बालक में माता-पिता पर प्रभुत्व जमाने की इच्छा का उदय होना भी मानसिक विकास में रुकावट की स्थिति दर्शाता है। जो बालक रचनात्मक कार्य में लगा रहता है उसके अज्ञात मन में अपने महत्व का ज्ञान रहता है। उसके मन में किसी प्रकार की आत्म हीनता की ग्रन्थि नहीं रहती। अतएव वह विकृत रूप से अपना प्रभुत्व दूसरों पर प्रदर्शित करने की चेष्टा भी नहीं करता।

बालकों को स्वस्थ रखने के उपाय उनके रोगी रहने के कारणों को जानने से स्पष्ट हो जाते हैं। बालकों को स्वस्थ रखने के लिए हमें उन्हें सदा खेल-कूद अथवा किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में लगाये रखना चाहिए। किन्तु इस प्रकार के काम में उनकी रुचि रहे इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उनकी खाने-पीने की इच्छाएँ समुचित रूप से तृप्त होवें। बालक में स्वभावतः ही आत्म-विकास की प्रवृत्ति होती है। उनकी खाने-पीने की इच्छाओं में बाधा पड़ने से उनमें आत्म-संयम की वृद्धि नहीं होती वरन् मानसिक रुकावट तथा मानसिक जटिलता की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी के कारण बालक में हठ

करने की आदत पड़ती है। नवीन मनोविज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि मनुष्य का जीवन विकासमय है। विकास की प्रत्येक अवस्था को पार करना पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति इस काम में जल्दी करता है तो वह मानसिक विकास को सहायता नहीं देता, वरन् उसमें अड़चनें उत्पन्न करता है। बालक के जीवन में कठिनाइयाँ इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि हम उन्हें स्वाभाविक रूप से विकास की सीढ़ियाँ पार नहीं करने देना चाहते; अपितु उन्हें घसीट कर आगे बढ़ाना चाहते हैं।

बाल हठ

बालक के हठ के सामने हमें नतमस्तक होना चाहिए। जब हम ऐसा नहीं करते हैं तो बालक की मानसिक जटिलता बढ़ा देते हैं। हम उसको निरोग न रखकर रोगी बना देते हैं। ऐसे बालक के चरित्र का गठन भी भली भाँति नहीं होता। हठ तोड़ा गया बालक सदाचारी और वीर न बनकर कायर होता है। उसकी मनोवृत्ति सदा निराशात्मक रहती है। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति के भाव नहीं रहते।

बालक के सामने हमारा नतमस्तक होना बुद्धिमानी है। इस प्रसंग में महात्मा गाँधी का बालकों के प्रति व्यवहार का उदाहरण उल्लेखनीय है। महात्मा गाँधी एक बार अपना वक्तव्य लिखने के लिये कागज कलम लेकर बैठे। श्री विट्ठलभाई पटेल तथा अन्य नेता पास में बैठे थे। इतने में उनका पोता उनके पास आया और कहने लगा कि हम भी लिखेंगे। महात्मा गाँधी ने उसे बहुत समझाया पर वह न माना। बालक ने उनके सामने रखा कागज और दवात उठा ली और लेकर चलता बना। महात्मा गाँधी धीरे-धीरे पीछे चलने लगे और उसकी मिन्नत करते हुए उससे कागज दावात माँगने लगे। अब सब काम रुक गया। इतने में श्री विट्ठलभाई ने कहा कि बापूजी इस लड़के को डाँट क्यों नहीं देते। महात्मा जी ने कहा कि भाई यदि तुम होते

तो मैं तुमको डाँट देता पर इस बालक को कैसे डाँटूँ। डाँटने से यह रो देगा। अन्त में महात्मा गाँधी को उसकी बात माननी ही पड़ी।

वास्तव में बालकों के हठ के सामने बड़े-बड़े लोगों को सिर झुकाना पड़ता है। उनके हठ के सामने नत-मस्तक होने में ही बड़प्पन है। बालक अपने हठ के द्वारा हमारे धैर्य की परीक्षा करते हैं। बालकों के हठ से जब हम चिढ़ जाते हैं तो हम अपने आपको संसार के किसी भी महत्व के काम को करने के लिये अयोग्य सिद्ध करते हैं। बालक को फुसलाकर उससे काम कराना एक बात है और उससे जबरदस्ती करके किसी काम को कराना दूसरी बात है। बालक को डाँट फटकार कर हम काम से रोक सकते हैं पर इस प्रकार हम उसके उत्साह को भंग भी कर देते हैं। बालक को उचित अनुचित का ज्ञान तो रहता नहीं। जो बात उसके मन में आ जाती है वह उसे उचित ही समझता है। बालक को यह समझाने की चेष्टा करना कि अमुक बात उचित है और अमुक अनुचित है बिल्कुल व्यर्थ है। बालक केवल एक बात जानता है कि वह काम करने से इसीलिये रोका गया कि वह छोटा है और आप बड़े। जब बालक को बार-बार इस प्रकार रोका जाता है तो उसकी हठ करने की आदत और जटिल होती जाती है। रोके जाने से उसके मन में आत्महीनता की मानसिक-ग्रन्थि बन जाती है। ऐसी अवस्था में या तो बालक उद्दण्ड या उपद्रवी बन जाता है अथवा दब्बू और निकम्मा हो जाता है।

जो लोग बालकों को समय के पूर्व योग्य आचरण की शिक्षा देने की चेष्टा करते हैं वे उनका कल्याण न कर उनके व्यक्तित्व के बनने में बाधा ही उपस्थित करते हैं। बालक के कल्याण के लिए आवश्यक है कि हम उनके हृदय पर पहिले अधिकार जमा लें। जब बालक के हृदय पर अधिकार हो जाता है तो वह सदा हमारे कहने के अनुसार काम करता है। पर हम बालक के हृदय पर तभी अधिकार कर सकते

हैं जब हम उसे इस बात का परिचय दें कि हम उसके ऊपर अपना प्रभुत्व नहीं जमाना चाहते। पहले पहल हमें बालक की बात माननी होगी। इसका हमें कष्ट उठाना ही पड़ेगा। जब बालक यह देखने लगता है कि हम उसके हठ के सामने अपने जिद को छोड़ देते हैं तो वह भी हमारी सलाह मानने लगता है।

बालक के हठ के सामने नतमस्तक होने का यह अर्थ नहीं है कि हम बालक को पतन की ओर जाने में सहायता देते हैं। उसके हठ को मानने से हम उसके हठ की आदत को ही नष्ट कर देते हैं। हम जितना ही बालक के हठ को दबाने की चेष्टा करते जायेंगे साधारणतः वह उतना ही बढ़ता भी जायगा। इस विधि से बालक का हठ तभी जाता है जब कि बालक में मानसिक शक्ति रह ही नहीं जाती। पर इस तरह उसका हठ मिटाने से उसकी प्रतिभा भी नष्ट हो जाती है। बहुत से बालक ऐसी हालत में बीमार हो जाते हैं। वे बीमार होकर माता-पिता को अपने विषय में सदा चिन्तित रखते हैं। इस तरह वे माता-पिता के मन पर प्रभुत्व जमा लेते हैं। यदि बीमार होने के पहिले ही हम बालक के हठ को मान लें तो उसे बीमार होने की आवश्यकता ही न हो।

बालक को रोते-रोते अथवा रूठकर कभी न सोने देना चाहिये। क्रोध की अवस्था में जब बालक सो जाता है तो उसके आन्तरिक मन में क्रोध के ही विचार बैठ जाते हैं। इन विचारों का बालक के स्वास्थ्य पर भारी प्रभाव पड़ता है। जो मनुष्य प्रसन्न होकर सोता है वह सुख की नींद सोता है; उसे स्वप्न भी अच्छे आते हैं और जब वह सोकर उठता है तो उसके चेहरे पर प्रसन्नता रहती है। मनुष्य जैसा सोता है वैसा जागता भी है। अतएव बालकों को सुलाते समय माताओं को गीत गाना चाहिये अथवा उन्हें प्रसन्न करनेवाली कहानियाँ

कहनी चाहिये। सोते समय बालकों को कदापि भयानक कहानियाँ अथवा घटनायें नहीं सुनाना चाहिये।

प्रसन्नता और भलाई

प्रसन्नचित्त बालक ही भला होता है। जो बालक अपने प्रसन्न रहता है वह दूसरे बालकों को भी प्रसन्न करने की करता है। स्वास्थ्य और रोग दोनों ही संक्रामक हैं। प्रत्येक अपने भावों का प्रचार जाने अथवा अनजाने किया करता है। व्यक्ति के मन में प्रसन्नता रहती है उसे देखकर दूसरे लोग भी प्रस हो जाते हैं। वह कोई ऐसा काम भी नहीं करता जिससे दूसरे का मन दुःखी हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दुःखी मनुष्य ही अपरा होता है। अपराध की मनोवृत्ति दूसरे को दुःखी बनाने की मनोवृत्ति और इस मनोवृत्ति का आधार अपराध करनेवाले मनुष्य का दुःख मन है। यदि हम बालक को सदा प्रसन्न बनाये रखने की चेष्टा करें न केवल हम उसे स्वस्थ रहने में सहायता देंगे वरन् उसे सदाचारी और लोकोपकारी भी बनावेंगे। प्रसन्नचित्त व्यक्ति सहज भाव से दूसरे लोगों का कल्याण करता है।

आठवाँ प्रकरण

बालक का क्रोध और भय

बालक का क्रोध

पिछले प्रकरण में हमने बालक के रोने और उसके उपचार के विषय में चर्चा की है। बालक का रोना क्रोध प्रकाशन का एक उपाय है। बालक अपना क्रोध दो प्रकार से प्रकाशित करता है, एक उद्दण्डता के द्वारा और दूसरे रोकर। क्रोध प्रेम की भूख के तृप्त न होने का स्वाभाविक परिणाम है। जिस बालक को बड़ों का समुचित प्यार प्राप्त नहीं होता वह किसी-न-किसी प्रकार के ऐसे काम करता है जिससे उसके अभिभावकों को मानसिक क्लेश हो। किसी वर्जित काम को करके पहले वह उनका ध्यान आकर्षित करता है और फिर जब वह इसमें सफल नहीं होता तो वह साधारण-सी बात के लिये रोने लगता है। कभी-कभी वर्जित काम के करने के लिये पिट जाने पर भी वह बेहद रोते रहता है। रोते बालक को चुप करने के लिये, जब बड़े लोग प्रयत्न करते हैं तो वह और भी रोता है। कभी-कभी जटिल माता-पिता इस प्रकार के रोते हुए बालक को चुप करने के लिये उसे खूब ही पीटते हैं। वे उसे तब तक पीटते रहते हैं जब तक कि वह चुप नहीं हो जाता। पर कुछ बालक रोना छोड़ते ही नहीं चाहे उन्हें कितना ही क्यों न पीटा जाय।

ऐसे बालकों को चुप करने के लिये कभी-कभी उन्हें भारी भय दिखाया जाता है। उनसे कहा जाता है कि उन्हें मगर को दे दिया जायगा, भूत को पकड़वा दिया जायगा, कभी-कभी उन्हें अकेले कोठरी

में बन्द कर देने की भी धमकी दी जाती है। इस प्रकार बालकों को चुप कर दिया जाता है। वास्तव में क्रोध का प्रतिकार भय से होता है। यदि हमें कोई ततैया काट ले तो हमें उसके प्रति क्रोध आता है और हम उसके विनाश के प्रति उद्यत हो जाते हैं, परन्तु यदि हमें ज्ञात हो जावे कि एक ततैया के मारे जाने पर हजारों हमें काटने के लिये आ जावेंगी तो हमारा क्रोध शान्त हो जाता है।

परन्तु इस प्रकार बालक के क्रोध के दमन से उसकी विनाशकारी शक्ति का अन्त नहीं होता। क्रोध का आवेग अब भय के आवेग में परिणत हो जाता है। क्रोध के आने पर मनुष्य दूसरों को कष्ट देने पर उतारू होता है। उससे दूसरों की क्षति होती है परन्तु भय के आने पर मनुष्य की अपनी ही क्षति होती है। भय की अवस्था में मनुष्य की न केवल मानसिक शक्ति वरन् शारीरिक शक्ति का इतना अधिक ह्रास हो जाता है कि एक ही दिन में उसकी मृत्यु भी हो सकती है। जिन बालकों को रोने से अनेक प्रकार के भय दिखा कर चुप किया जाता है, उनकी इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। ऐसे बालकों को नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

लेखक का घर बाल-मनोविज्ञान की एक प्रयोगशाला है। उसके घर में चार लड़कियाँ और एक लड़का है। लड़कियों में तीसरी लड़की सुशीला जो लगभग ६ साल की है प्रायः बीमार हो जाया करती है। इसे रोने की भी अधिक आदत है। यह कभी-कभी अचानक रात को उठकर रोने लगती है और चुप करने पर भी चुप नहीं होती। लेखक का भतीजा जो बी. एस. सी. कक्षा का विद्यार्थी है इसके चुप करने के लिये कभी-कभी उसे डाँटता-डपटता है, कभी-कभी उसे भय दिखा कर चुप कर देता है। आज जब लेखक के घर उसकी कुछ पुरानी छात्रायें आई थीं तब उसने कुछ लड़बड़ करना प्रारंभ कर दिया। वह कुछ-न-कुछ तोड़-फोड़ करती ही थी। लेखक उन छात्राओं से बातचीत करने में

लगा था, सुशीला अपने ही ओर लेखक का तथा दूसरे लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहती थी। मान लीजिये कि सुशीला की किसी भी बात पर ध्यान न दिया गया होता तो वह कुछ पुस्तक तस्वीर आद पटक देती, अथवा स्वयं अपने आप ही गिर पड़ती। यदि इस समय उसको पीट दिया जाता तो वह इतनी रोती कि उसका चुप करना कठिन हो जाता। वास्तव में सुशीला लेखक का ध्यानभंग करना चाहती थी। यह बालक की प्रेम की भूख का परिणाम है। जब बालक की भूख की अवहेलना की जाती है तो यही बालक के उद्दण्डता का कारण बन जाती है। इस प्रसंग में कुमारी लीला धारवारकर के "सुखी बालक" में प्रकाशित "बच्चों की प्रेम की भूख" से निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

"बच्चा किसी भी प्रान्त, देश या जाति का हो, उसकी यही इच्छा होती है कि सब कोई उसके साथ बोले, उसके साथ खेले, उसके साथ शैतानी करे। कुछ नहीं तो उसके ओर देखकर मुस्कराये। मेरी दो छोटी भतीजियाँ हैं—एक तीन साल की तथा दूसरी दो साल की। बचपन से ही दोनों का नृत्य की ओर झुकाव है। मझी जब गाती है—'अँखियाँ मिला के, जिया भरमा के, चले नहीं जाना' तब छोटी बड़ी अदा के साथ अपने हाथ, सिर तथा पूर्वांग को हिलाती है। किन्तु उनका यह नाचना और गाना तभी तक होता है जब तक प्रेक्षक रूप में उनकी ओर कोई देखता है, प्रशंसा करता है अथवा हँसता है। यदि उनकी ओर कोई न देखे तो वे क्रोध मुद्रा धारण कर लेती हैं अथवा हताश हो जाती हैं।

यदि हम लोग किसी के साथ बोलते हैं तो प्रायः बच्चे बीच-बीच में बोलने लगते हैं। यदि उनकी ओर ध्यान न दो तो वे कुछ ऐसी शैतानी करने लगते हैं कि हमको उनकी ओर देखना पड़े। और यदि हम उस समय क्रोध भाव भी दिखावें तो वह भी उन्हें अच्छा लगता

है। मेरी एक स्नातिका जब सम्मेलन में पढ़ रही थी उस समय उसकी छोटी बहिन बीच बीच में आकर बोलती थी। वह पाठ्य करने पर भी अपनी चपलता से पीछे न हटती। हँसने पर जोर जोर से झाड़ू देती। उसके लिये भी मना किये जाने पर जूते पहिन कर यहाँ वहाँ करती हुई अपने कमरे में घूमती। जब शिक्षिका ने इसके लिये भी मना किया तो वह अपनी बहिन से थोड़ी दूर जाकर बैठकर जोर-जोर से गीत गाने लगी। इस बात के लिये फटकारे जाने पर वह चिल्लाकर बोल उठी, "न तो तुम मेरे साथ बात करती हो, न झाड़ू लगाने देती हो, न घूमने देती हो; यहाँ तक कि गीत भी नहीं गाने देती, आखिर मैं क्या करूँ।" फलस्वरूप बहिन को पढ़ना छोड़कर उसके साथ थोड़ी देर बातें करनी पड़ी।

मेरे छोटे भाई को ही लीजिये। वह चाहता है कि मैं उसकी पुस्तकें पढ़ूँ और वह मेरी पढ़े। मुझे भला उसकी चौथी, पाँचवीं पुस्तकों में क्या रुचि हो सकती है। मना करने पर वह अलमारी से मेरी पुस्तकें निकाल कर बाहर आँगन में रख आता है। मैंने जब यह देखा कि वह किसी प्रकार माननेवाला नहीं है तो लाचार होकर मुझे आपस में पुस्तकें बदलनी पड़ीं।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि बालक प्रेम की कमी के कारण ही उद्दण्ड बन जाते हैं। यह उनके अभिभावकों के प्रति आन्तरिक क्रोध प्रकाशन का उपाय है। छोटे बालक इस कमी के कारण जो क्रोध उत्पन्न होता है उसे रोकर प्रकाशित करते हैं। आज सुशीला देर तक इसलिये रोती रही कि उसे मेरे और मेरे भानजे के बीच में सोने नहीं दिया गया। जब उसने अपनी यह बात मनवा ली तो यह चुप हो गई।

जिन बालकों को रोने नहीं दिया जाता वे अपना अभिभावकों के प्रति क्रोध बीमार बनकर प्रकाशित करते हैं। जिन बालकों को मार-पीट कर रोने से चुप किया जाता है वे प्रायः बीमार होते रहते हैं।

जिस बालक को माता-पिता का सम्मान प्राप्त है और
त्मक काम में लगा रहता है वह कदापि ही बीमार
बालक का अभिभावकों द्वारा अपनी इच्छा को त
आत्मविश्वास चला जाता है वही बीमार पड़ता
बीमार होना माता-पिता से अपनी अवहेलना
भावना का परिणाम है। जो बालक अपने स्वस्थ
का ध्यान आकर्षित करने में असमर्थ रहते हैं वे
ध्यान आकर्षित करते हैं। कभी-कभी घर की
अपने प्रति अवहेलना की भावना का बदला
ससुर से बीमार बनकर लेती हैं।

फिर भी बालकों को मार-पीट कर चुप करा
जितना बुरा उन्हें भय दिखा कर चुप करना है
श्राम बालकों के मानसिक और शारीरिक स्वा
है कि बालक चिड़चिड़ा और रोगी हो जात
अपनी अवांछनीय क्रियाओं से रोके जानेवा
इच्छाशक्ति का बल खो देता है। ऐसा बा
आत्म-विश्वास हीन हो जाता है। वह अपने
के काम करने की हिम्मत ही नहीं पाता। f
पिता अथवा दाइयाँ बालकों के मन में
देती हैं वे भय स्थायी बन जाते हैं। ह
मान होता है। ऐसे व्यक्ति अच्छी-अच्छी
में इतना बल नहीं पाते कि वे किसी नई
सामना कर सकें। मानसिक नपुंसकता
व्यक्तियों में आगे चलकर हो जाता है।

यहाँ हम देखते हैं कि बालकों का
रोना ही उतना बुरा नहीं है जितना उ

ुँभी
याल
रो
आँ वार
डर गा।
तो ने
उस म में
बाल या।
रोने गाल
ध्यान र के
तुरन्त
में ले
जाता। इस
का वि गया
है तो प्रकार
में लड़ गया तो
के अम। उसके
क्रोध अ
अपने है। यह
ही लोग र बाबा
कुछ लोगमाये गये।
की अनुभ गया था।
व्यक्ति के इता था।
है। उसके ये गये थे।
कभी- पर वे ठग

क्रोध को प्रकाशित नहीं कर सकते थे। अतएव जब वे उक्त दृश्य देख कर अपनी कोठरी में लौटे तो उन्हें एक प्रकार की मूर्छा हो अवस्था हो गई। वे देखते-सुनते तो सब थे किन्तु न कुछ बोल सकते थे और न हाथ-पैर डुला सकते थे।

क्रोध का अवरोध दो बातों से होता है, एक बाह्य परिस्थिति से और दूसरे आन्तरिक परिस्थिति से। बाह्य परिस्थिति के कारण क्रोध के अवरोध के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। इस प्रकार के अवरोध से अधिकतर शारीरिक क्षति ही होती है। पर नैतिकता के कारण अर्थात् मानसिक परिस्थिति के कारण जो क्रोध का अवरोध होता है उससे विक्षिप्तता उत्पन्न होती है। अनेक प्रकार के मानसिक रोग भी इसी के कारण होते हैं। आत्मभर्त्सना का भाव, मेलन्कोलिया तथा किसी प्रकार के घातक रोग के भाव भी इसी के कारण उत्पन्न होते हैं। इस प्रसंग में लेखक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है :—

लेखक की एक स्वस्थ छात्रा उसके पास अपनी मानसिक व्यथा कहने आयी। उसे शक हो गई थी कि उसे क्षय रोग की बीमारी होने-वाली है। उसने अपने शरीर की परीक्षा कई डाक्टरों से करायी पर किसी ने क्षय रोग की सम्भावना नहीं बतायी। तो भी क्षय-रोग का विचार उसके मन से नहीं जाता था। उसका मानसिक अध्ययन करने से पता चला कि उसकी लड़ाई एक साथी महिला से हो गई थी, पर शिष्टतावश वह अपने क्रोध को उसके ऊपर प्रकाशित नहीं कर सकी थी। साथ ही साथ उसे इस महिला के प्रति क्रोध आने के लिये आत्मग्लानि भी होती थी। इस आत्मग्लानि के भाव का दमन करने पर क्षय रोग का विचार एक शक के रूप में उसके मन में आ गया। वह जितना ही अधिक इस विचार को अपने मन से निकालने का प्रयत्न करती थी विचार उतना ही प्रबल होता जाता था।

इस महिला के उपचार के लिये पहले तो उसे बतलाया गया कि उसका अपनी सहेली पर क्रोध करना स्वाभाविक है और इसके लिये उसे आत्म-भर्त्सना नहीं करनी चाहिये। मनुष्य देवता नहीं और वह प्राकृतिक नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। जब हमें कोई तमाचा मार देता है तो उसके प्रति क्रोध आना स्वाभाविक है। इस विचार के अतिरिक्त अपनी उस सहेली के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करने का आदेश दिया। इससे उसके मानसिक रोग का अन्त हो गया।

एक दूसरी महिला के पैरों में जलन होती थी जिसका कोई बाहरी कारण दिखाई नहीं देता था। उसे अपने विचारों में इसका कारण खोजने का आदेश दिया गया। आत्म-परीक्षा करने से उसे ज्ञात हुआ कि वह एक दूसरी महिला से ईर्ष्या करती है और वह उस ईर्ष्या के भाव को दबाये हुए है। ईर्ष्या के भाव की आत्मस्वीकृति होने पर उसका उक्त रोग नष्ट हो गया।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्रोध का मन में आना ही बुरा है। पर जब क्रोध का विकार एक बार मन में उत्पन्न हो जाता है तो उसका किसी बाहरी पदार्थ पर प्रकाशित होना ही भला है। इससे मनुष्य को कुछ हानि अवश्य होती है पर यह हानि उतनी अधिक नहीं होती जितनी क्रोध के अवरोध से होती है। जिस प्रकार कामातुर व्यक्ति का रुका हुआ वीर्य सुजाक, प्रमेह आदि रोगों का कारण हो जाता है, इसी प्रकार अवरुद्ध क्रोध व्यक्ति को मानसिक और शारीरिक क्षति करता है। इससे ही मनुष्य में हतोत्साह और कायरता का भाव आता है।

जो व्यक्ति क्रोध के दुष्परिणामों से बचना चाहते हैं उन्हें क्रोध को आने ही न देना चाहिये। इसके लिये विषयभोगों का त्याग और प्रतिदिन संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास की आवश्यकता होती है। क्रोध एक प्रकार की आग है और मैत्री भावना

का अन्दाज पानी की टंकी है। जब टंकी में पहले से ही पानी रहता है तो आग लगने पर काम आता है। साधारण लोग क्रोध को रोकने के वे ही उपाय काम में लाते हैं जो घर में आग लगनेपर कुएँ खोदनेवाले लाते हैं।

बालकों के भय

बालकों के भय दो प्रकार के होते हैं—एक जन्मजात और दूसरे अर्जित। जन्मजात भयों की संख्या बहुत कम होती है, उदाहरणार्थ—गिरने से डरना, जोर की आवाज से डरना, अपरिचित पदार्थ से डरना। भय का प्रधान कारण आत्मरक्षा की भावना का उत्तेजित होना होता है। भय आत्मरक्षा की ओर प्रवृत्त करने का एक उपाय है। जिन वस्तुओं से हानि हो जाने की संभावना रहती है उनके प्रति भय का होना स्वाभाविक है। परन्तु बालकों के अनेक भय अर्जित होते हैं। वाटसन महाशय ने इन भयों को अनुभवजन्य भय (कृत्रिम) कहा है। बालक के इन भयों का कारण प्रौढ़ लोगों से मिले भय के निर्देश होते हैं। जब कोई दाई भयभीत अवस्था में बालक से कोई बात कहती है तो बालक भी भयभीत हो जाता है।

बालकों में निर्देश ग्रहण करने की शक्ति प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव जब वे किसी व्यक्ति को भयभीत अवस्था में देखते हैं तो स्वयं भयभीत हो जाते हैं। यदि कोई भय का विचार उनके मन में पैदा किया जाय तो वह बड़ी दृढ़ता के साथ उनके मन में बैठ जाता है। इस प्रकार बालकों के जीवन में अनेक प्रकार के भयों की वृद्धि हो जाती है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने भय की उत्पत्ति पर नया प्रकाश डाला है। जिस व्यक्ति में जितनी विचार की कमी होती है उसके जीवन में भय की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। विचार के विकास के साथ-

साथ भय की कमी हो जाती है। बालक का जीवन संवेगात्मक होता है, अतएव उसके जीवन में भय का भी प्राबल्य होता है। बालक के अधिक भयों का कारण प्रौढ़ लोगों से मिले भय के निर्देश होते हैं। जब कोई दाई अपनी भयभीत अवस्था में बालक से कोई बात कहती है तो बालक भी भयभीत हो जाता है। बालक को जन्म से साँप का डर नहीं रहता, किन्तु जब दाई डर कर बालक को साँप दिखाती है तो वह साँप से डरने लगता है। जिन वस्तुओं से बालक बड़ों को डरते देखता है उन वस्तुओं से बालक अपने आप भी डरने लगता है।

बालक के मन में डर उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि डर का भाव वास्तव में प्रौढ़ व्यक्ति के मन में हो। यदि हम ऊपर से ही डर का भाव बना कर बालक से कोई बात कहें, बालक के मन में डर उत्पन्न हो जावेगा। जब दाइयाँ बालकों से डर का अभिनय करते हुए कोई कहानी कहती हैं, तो बालक कथित घटनाओं से डरने लगता है। बालक के मन में हम निर्देशों के द्वारा जैसे जैसे भाव उत्पन्न करना चाहते हैं, उसके मन में वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

कितने ही बालकों को हम स्वभाव से डरपोक और कितनों को साहसी देखते हैं। डरपोक बालक प्रायः जीवन भर डरपोक ही रहता है। वह सदा अपने प्राण-रक्षा की चेष्टा में लगा रहता है। डरपोक व्यक्ति संसार का कोई उपकार नहीं कर सकता। किसी भी बड़े काम के करने के लिये मनुष्य को साहस की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति में साहस नहीं वह किसी भी प्रकार की बुराई का विरोध नहीं कर पाता। वह निराशावादी होता है। किसी भी नवीन घटना के बुरे पहलू पर उसका ध्यान जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बालकों का जीवन प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक-संवेगात्मक होता है, अतएव उसके भय अधिक प्रबल होते हैं। जिस व्यक्ति में जितनी कम विचार करने की शक्ति होती है,

उसके भय उतने ही अधिक होते हैं। बालकों में विचार करने की श
की न्यूनता के कारण उनका मन भय की बातों से शीघ्र ही उद्विग्न
जाता है। अतएव बालकों को भय उत्पन्न करनेवाली बातें जितनी
कही जायँ उतना ही भला है। जो मातायें बालकों को रोने से रो
के लिये अनेक प्रकार से डरवाती हैं वे उनका बड़ा अनर्थ करती
बालक डर के कारण रोना बन्द कर देता है, परं वह जीवन भर
लिये डरपोक बन जाता है। उसमें किसी नई परिस्थिति का सा
करने की हिम्मत नहीं रहती।

हम देखते हैं कि संसार के लोगों को प्राणघातक अनेक जीवों
भय होता है। पर इनके अतिरिक्त वे भूत प्रेत तथा देवी देवताओं
भी डरा करते हैं। कितने अशिक्षित व्यक्ति अपना सारा जीवन भूत प्रे
और देवी देवताओं को प्रसन्न करने में ही व्यतीत करते हैं। उनके
मन में सदा यह भय बना रहता है कि यदि अमुक देवता को अमुक
बलिदान न दिया जाय अथवा उसकी पूजा ठीक से न की जाय तो
उन्हें अमुक रोग हो जायगा। अपने आत्मनिर्देश के कारण वे उन
रोगों तथा आपत्तियों को भी भोगा करते हैं जिनकी वे भावना करते हैं।
अशिक्षित लोगों की भय की मनोवृत्ति से ठग लोग लाभ उठाते हैं।
पण्डे लोग मूढ़ जनता की भय की मनोवृत्ति से कितना लाभ उठाते हैं
यह सर्वविदित है।

हाल की बात है मेरी एक छात्रा शीतला देवी के मन्दिर में देवी
की पूजा के लिये गई। उसने कुछ पूजा बड़ी माता को चढ़ाई। पण्डे
ने इस छात्रा को धनी जानकर छोटी माता को कुछ चढ़ोती देने को
कहा। छात्रा इससे क्रुद्ध हो गई और छोटी माता की ओर उसने एक
दुअन्नी फेंक दी। पीछे उसे छोटी माता के नाराज हो जाने का भय
हो गया। घर आने पर उसकी बालिका को चेचक की बीमारी हो

गई। इस छात्रा ने इसका सम्बन्ध छोटी माता के अनादर करने से जोड़ लिया।

जब कोई व्यक्ति बचपन में डरपोक बन जाता है तो उसका प्रौढ़ावस्था में साहसी बनना कठिन होता है। देखा गया है कि भूत का भय उन लोगों को भी सताता है जिन्होंने विज्ञान का भली प्रकार से अध्ययन किया है और जो भूत के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इसी तरह देवी देवताओं का भय नास्तिक लोगों को भी सताता है। यहाँ एक रोचक दृष्टान्त उल्लेखनीय है—

एक विद्यापीठ में अध्यापक महाशय अपने शिष्यों को भूत के भय के बारे में अनेक प्रकार के व्याख्यान देते थे। वे कहा करते थे कि भूत का भय पूरा निराधार है और मूर्ख लोग ही ऐसे भयों को अपने हृदय में स्थान देते हैं। एक बार इन्हीं महाशय को रात को एक जगह से दूसरी जगह जाने की आवश्यकता हुई। उनके मार्ग में एक श्मशान था। अध्यापक महाशय को उस मार्ग से जाने की हिम्मत न हुई। जब उनसे कहा गया कि आप तो भूतों के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते, फिर डर क्या है, तब उन्होंने यही जवाब दिया—"यदि कोई भूत निकल पड़े तो?"

हम देखते हैं कि बचपन के संस्कार बड़े ही दृढ़ होते हैं। वे हमारे अचेतन मन में बैठ जाते हैं। प्रौढ़ावस्था में हम अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं, किन्तु ये अनुभव बचपन के संस्कारों को नहीं मिटा पाते। जब हमारे अचेतन मन में एक प्रकार की प्रवृत्ति रहती है और चेतन मन में दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति रहती है तो दोनों में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, पर द्वन्द्व में अचेतन प्रवृत्ति की ही विजय होती है। यही कारण है कि कितने ही विचारवान् व्यक्ति अनेक व्यर्थ बातों से डरा करते हैं। उनका विवेक उन्हें एक ओर ले जाता है, किन्तु उनका हृदय उन्हें बरबस दूसरी

और ढकेलता है। उनमें स्वयं बुद्धि से विचार करने अथवा सन्मार्ग पर चलने की शक्ति ही नहीं रहती।

बचपन में जननेन्द्रिय सम्बन्धी किसी भय के निर्देश मलिन बालक के मन में अनेक भयों का कारण बन जाते हैं। इन्द्रिय निरो उपदेश बालक को व्यग्र बनाने में सहायक होते हैं। बालक जननेन्द्रि सम्बन्धी सदेहों को दूसरों के सम्मुख उपस्थित नहीं कर सकता। फ फल कर ये भय भुला दिये जाते हैं। किन्तु उनका प्रभाव बालक मन पर स्थायी हो जाता है। बाद में वे भय दूसरे रूप में बालक समक्ष आते हैं। बालक के मन में स्कूल के कार्य, मान अपमान तथा भविष्य सबंधी व्यर्थ चिन्तायें आ घेरती हैं। इस प्रकार असंख्य भयों की उत्पत्ति बचपन के किसी अकारण भय के कारण हो जाती है। बचपन के भय के विचार बालक के अचेतन मन में पड़े रहते हैं वे उसके सारे जीवन को बेचैन बनाये रहते हैं। इन वास्तविक कारणों को दूर किये बिना जब हम बालक को निर्भीक बनाने की चेष्टा करते हैं तो हमें सफलता प्राप्त नहीं होती।

बचपन के कामेन्द्रिय सम्बन्धी भय किशोर बालक में अनेक प्रकार के भयों को उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कामवासना से सम्बन्धित नकारात्मक नैतिक शिक्षायें भी किशोर बालक के जीवन को दुःखमय बना देती हैं। किशोर अवस्था में बालक की कामवासना प्रबल रूप में उत्तेजित हो जाती है। प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षायें इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी होती हैं। वे बालकों को कामवासना के दुष्परिणामों का ही बोध कराती हैं, उनसे बालक को कामवासना की रचनात्मक शक्ति का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार की शिक्षा से किशोर बालक को कामवासना-सम्बन्धी इन्द्रिय-सुख से ऊँचा उठाने में सहायक नहीं होती बल्कि वह और अधिक वासनाओं में फँस जाता है। इसका प्रारम्भ हस्तमैथुन से होता है तत्पश्चात् दूसरी काम-कुचेष्टायें प्रारम्भ हो जाती

है। बालक इनमें इतना अधिक फँस जाता है कि वह अपने-आपको ऊँचा उठाने में असमर्थ पाता है। बालक कामवासना के प्रबल वेग से द्वन्द्व करता रहता है। जब इस द्वन्द्व में निरन्तर असफलता ही असफलता देखता है तो उसकी इच्छाशक्ति निर्बल पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में कोई अवाञ्छनीय विचार बालक के मन में प्रवेश कर जाता है। बालक जानता है कि उसे काम-सम्बन्धी भूलों का दुष्परिणाम अवश्य भोगना होगा, इसलिये वह सदा नई परिस्थितियों से डरता रहता है।

कभी-कभी काम-कुचेष्टाओं के प्रतिकूल भयंकर प्रतिक्रिया होती है। काम-कुचेष्टा के परिणाम स्वरूप कामप्रवृत्ति का सर्वथा निरोध हो जाता है किन्तु बालक के अज्ञात मन में भय बैठ जाता है कि उसे अब अपने अनैतिक कार्य का दुष्फल भोगना होगा। बालक इस भय को नैतिक बुद्धि की प्रबलता के कारण दूसरों के समक्ष प्रकाशित नहीं कर सकता। बालक इस अनैतिक घटना को भूलना चाहता है और कुछ काल बाद वह इसमें सफल भी होता है। परन्तु बालक के अचेतन *मन से वह घटना नहीं जाती। अब बालक के मन में अन्तर्द्वन्द्व की* स्थिति पैदा हो जाती है और कामवासना के दमन के कारण अज्ञात मन का भय दृढ़ हो जाता है। उस समय कोई भी साधारण-सी घटना बालक के जीवन को आन्दोलित कर सकती है, उसका अज्ञात मन में पड़ा हुआ भय अचानक फूट निकल पड़ सकता है। उपरोक्त कथन की पुष्टि एक बालक पर घटित घटना से की जा सकती है।

बालक की अवस्था सत्रह वर्ष की है। वह एक इन्टरमीजियेट कालेज की अन्तिम कक्षा का छात्र है। वह पढ़ने में अच्छा तथा एक सभ्य सुशिक्षित परिवार का बालक है। नैतिक नियमों की अवहेलना करने का उसे साहस नहीं होता। परन्तु एक उत्सव के अवसर पर मित्रों के अनुरोध से उसने इच्छा के न होते हुए भी भाँग पी ली।

उसके बाद उसे कुछ-कुछ नशा मालूम हुआ। मित्र-मण्डली के चले जाने के उपरान्त जब वह कमरे में अकेला रह गया, तो वह रोने लगा। उसे मालूम पड़ने लगा कि उनकी बाईं आँख में कुछ पड़ गया है। उसे बाहर निकालने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। निकालने के लिये वह बिस्तरे पर कभी बैठता और फिर लेट जाता परन्तु आँख से वह चीज़ न निकली। इस क्रिया को वह बारम्बार दुहराता रहा। इसी बीच में उसके मन में आया कि वह पागल हो रहा है। कमरे में अंधकार था, लाइट जलाने के लिये वह दौड़ पड़ा। दुर्भाग्यवश उसका हाथ दूसरे स्विच पर पड़ गया जिसके कारण पंखा चलने लगा। पंखे की विचित्र ध्वनि ने उक्त बालक को बेहद डर दिया। वह बहुत जोर से चिल्ला कर फर्श पर बेहोशी की अवस्था में गिर पड़ा। उसकी चिल्लाहट को सुनकर उसके सम्बन्धी उसके पास भागे आये और उसे होश में लाने की कोशिश की, किन्तु वह लगभग आध घंटे तक बेहोश पड़ा रहा।

यह दुर्घटना समाप्त हो गई, किन्तु बाद में भी मन में सामान्य अस्पष्ट भय की भावना बनी रही। बालक के हृदय में भय हो जाता था किन्तु वह किस वस्तु से डर रहा है यह नहीं मालूम पड़ता था। एक बार ऐंजिन की सीटी ने उसे इतना डरा दिया कि उसके पैर काँपने लगे और वह बहुत देर तक स्थिर न रह सका। लेखक ने मनोवैज्ञानिक ढंग से उसकी चिकित्सा की। इमील कूये की आत्मनिर्देश विधि के प्रयोग से बालक के मस्तिष्क की अवस्था साधारण स्थिति पर लायी गई। उसे इस समय असाधारण भय नहीं है परन्तु संभव है कि किसी दूसरे अवसर पर पुनः जाग्रत हो उठे। ऐसी परिस्थिति में उसे पूर्णतया अच्छा करने के लिये उसका मनोविश्लेषण आवश्यक है ताकि उसका दबा हुआ भय निकल जाय। इस प्रकार के भय की उत्पत्ति आधारभूत शक्ति के दुरुपयोग या दुरभ्यास को दबा देने से होती है।

उपरोक्त कथन की पुष्टि हाल की घटित घटना से होती है जिसे लेखक ने अपने हाथ में लिया था। यह रूपान्तरित मानसिक रोग का रोगी था। रोगी हृदय की बहुत अधिक कमजोरी का अनुभव करता था। यहाँ तक कि उसे भय बना रहता था कि किसी भी समय उसके हृदय की गति बन्द हो सकती है। इस कारण वह खड़ा होने का भी साहस नहीं करता था। बिस्तरे पर पड़ा पड़ा ही अपना दैनिक कार्य करता था। उसके हृदय में सभी वस्तुओं का भय विद्यमान था, विशेष कर छोटे छोटे कीड़ों का उसे भय लगा रहता था। उसका विश्वासपात्र बनने के लिये लेखक ने अपना बहुत समय उसके साथ बिताया। तब वह धीरे धीरे हृदय की बातें खोलने लगा। कामवासना के सम्बन्ध में उससे बहुत प्रश्न किये। धीरे-धीरे पता चला कि वह किशोरावस्था में वीर्यपात किया करता था। कुछ समय बाद उसने अपने स्कूल के हेडमास्टर की लिखी एक पुस्तक पढ़ी। उस पुस्तक में उन्होंने लिखा था कि जो बालक वीर्यपात में लग जाते हैं उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। उनका हृदय कमजोर हो जाता है और पाचन-शक्ति भी नष्ट हो जाती है। रोगी इन्हीं सब बातों से अस्त-व्यस्त था और इन पर पर्याप्त विचार भी कर चुका था। फिशर की 'एबनारमल सायकोलाजी' नामक पुस्तक में ठीक इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख है। यहाँ एक युवक पर एक प्रसिद्ध जर्मन लेखक की बातों का अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ा।

अधिकांश रूप में ज्ञान की वृद्धि भय को दूर करती है। किन्तु जटिल परिस्थिति में यह सिद्धान्त कार्य नहीं करता। अनेक बुद्धिमान् व प्रवीण बालक कभी-कभी असाधारण भय के शिकार बन जाते हैं। अचेतन मन में पर्याप्त शक्ति होती है, अतएव उसे केवल समझाना पर्याप्त नहीं होता। कुछ व्यक्ति भूतों से डरा करते हैं। यद्यपि वे उनके अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। भूत का भय एक आरोपित

भय है। यह अपने अन्तःकरण में स्थित वासनारूपी शैतान का भय है। भूत का भय केवल आरोपणमात्र है। जो बालक नैतिक अन्तर्द्वन्द से व्यथित रहते हैं, वे शीघ्र ही भूतों के भय से आक्रान्त हो जाते हैं। नैतिक भय किसी बाहरी अज्ञात वस्तु से भय का रूप धारण कर लेता है। नैतिक समस्या के हल हो जाने पर इस प्रकार के भय स्वयं हो जाते हैं।

भय की मनोवृत्ति का निवारण

बालकों की भय की मनोवृत्ति का निवारण उन्हें साहस के किस्से कहानियाँ सुना कर किया जा सकता है। बालक अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के युद्ध किया करता है। जब बालक को साहस के किस्से कहानियाँ सुनाई जाती हैं तो वह अपनी कल्पना में अपने आपको विजयी होते पाता है। उसकी कल्पनायें उसका उत्साह बढ़ाती हैं।

लेखक को स्मरण है कि जब वह दस वर्ष का था तो कभी कभी वह स्वप्न में भूतों को देखता था। उनसे युद्ध करके वह नष्ट कर डालता था। उसके मन में यह बैठ गया था कि हनुमान चालीसा का पाठ करनेवाला व्यक्ति भूतों से कभी भी नहीं सताया जा सकता; उससे भूत डरते हैं। यह भाव मन में बैठ जाने के कारण वह मन चाहे जहाँ रात के समय निर्भीकता से चला जाता है। बालकों के मन में इस प्रकार की निर्भीकता की भावनायें कूट कूट कर भर देनी चाहिये।

भय की वृद्धि किसी भी भयकारी घटना पर अधिक सोचने से होती है। अतएव बालकों को इस प्रकार सोचने का अवसर ही न देना चाहिये। जो बालक जितना ही अधिक खेल कूद में लगा रहता है वह उतना ही निर्भीक होता है। निकम्मापन सब प्रकार के अवांछनीय भावों की वृद्धि करता है। बालकों को सदा खेल में लगाये रखना उनकी मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से परमावश्यक है।

बालक को सदा रचनात्मक कार्यों में लगाये रखना भी उसके मन को अनेक प्रकार के भयों से मुक्त करना है। रचनात्मक कार्य बालकों में साहस की वृद्धि करता है। इससे उसके आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। आत्मविश्वास की वृद्धि होने पर भय की मनोवृत्ति का विनाश हो जाता है। भय नकारात्मक मनोवृत्ति है। रचनात्मक कार्य बालकों की सभी नकारात्मक मनोवृत्तियों का अन्त कर देते हैं; अतएव रचनात्मक कार्यों से भयों का भी विनाश होता है।

शारीरिक निर्बलता होने पर भी भयों की वृद्धि हो जाती है। जो बालक जितना ही स्वस्थ होता है उसके मन में उतने ही कम भय होते हैं। भय स्वास्थ्य विनाशक भाव है। स्वास्थ्य की वृद्धि होने पर भय का विनाश होना स्वाभाविक है। अतएव जो बालक सदा व्यायाम, खेल-कूद आदि में लगे रहते हैं वे निरर्थक भयों के शिकार नहीं बनते।

कामवासना सम्बन्धी भय भी मनुष्य के जीवन में भयों की वृद्धि करते हैं। वे एक भय को दूर करते हैं तो दूसरा भय आ घेरता है। कोई न कोई पदार्थ उन्हें त्रास देता रहता है। इन भयों के कारण को बालक नहीं जानता इसलिये वह इन्हें दूर करने का जितना प्रयत्न करता है उतना ही असफल होता है। ऐसे भयों का निवारण मनोविज्ञान के विशेषज्ञ द्वारा ही संभव है।

वास्तव में कामवासना सम्बन्धी भय ही विभिन्न पदार्थों से भय के रूप में प्रकट होता है। कामवासना से भय नैतिक बुद्धि की दृढ़ता के कारण होता है। मनोवैज्ञानिक उसकी नैतिकता को शिथिल करता है और कामवासना के प्रति भय का निवारण कर देता है। जब रोगी कामवासना को सामान्य दृष्टि से देखने लगता है तो रोगी का भय नष्ट हो जाता है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी भयों का निवारण भी उसे वास्तविकता का ज्ञान करा देने पर हो जाता है। रोगी अपने इन भयों को किसी के सामने प्रकट नहीं कर सकता। मनोवैज्ञानिक अनेक प्रकार से रोगी

के मन में विश्वास की वृद्धि करता है। जब रोगी को मनोवैज्ञानिक पर विश्वास होता है तो वह अपने आपको पूरी तरह उसके समक्ष खोल देता है। मानसिक चिकित्सक अपने या दूसरों के अनेक कामवासना सम्बन्धी भयों का रोगी के समक्ष वर्णन करता है जिससे रोगी भी अपनी सारी कठिनाइयों को निस्संकोच होकर कह डालता है।

मानसिक चिकित्सक रोगी की कठिनाइयों को जान कर उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन करता है। कामवासना के प्रति रोगी का यह दृष्टिकोण ही उसे अनेक भयों के रूप में त्रास देता है। कभी रोगी कामवासना सम्बन्धी किसी कमी की अपने में कल्पना करता है। इसके कारण उसके मन में अनेक प्रकार के उद्वेग पैदा हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सक उसके भयों का निवारण उसकी कामवासना सम्बन्धी काल्पनिक कमी की व्यर्थता का बोध कराकर कर देता है।

नवाँ प्रकरण

बालकों की मानसिक ग्रन्थियाँ

ग्रन्थियाँ पड़ने का काल

नवीन मनोविज्ञान की खोजों ने बालक के जीवन पर बड़े महत्त्व
ा प्रकाश डाला है। नवीन मनोविज्ञान के पंडितों के अनुसार व्यक्ति
े चरित्र-गठन तथा उसके जीवन की सफलता में जितना महत्त्व का
थान शैशवावस्था और किशोरावस्था की भावनाओं के संस्कारों का
उतना अन्य दूसरी अवस्थाओं के संस्कारों का नहीं है। डाक्टर
ायड के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व की रूपरेखा उसके पाँच वर्ष की
वस्था के पूर्व ही बन जाती है; उसका बाद का जीवन इस खाके की
र्ति मात्र करता है। पाँच वर्ष के पूर्व ही बालक के जीवन में ऐसी
हत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हो जाती हैं जिनके कारण उसकी जीवनधारा
शेष ओर मुड़ जाती है। शैशवावस्था में बालक में विचार करने की
क्ति नहीं रहती, उसका जीवन भावमय रहता है। ये भाव यदि अच्छे
हुए तो बालक के जीवन का विकास सुन्दर होता है और यदि ये बुरे
हुए तो बालक के मानसिक विकास में अनेक प्रकार की अड़चनें
उपस्थित हो जाती हैं। जो बालक बचपन में किसी वस्तु से डर गया है,
वह प्रायः जन्म भर उससे डरता ही रहता है। वह जैसे व्यक्तियों को
शैशवावस्था में प्रेम करता है उसी प्रकार के व्यक्तियों से वह बाद में
भी प्रेम करता और जिस प्रकार के लोगों के प्रति उसके मन में बुरे
भाव उत्पन्न हो जाते हैं वैसे लोगों के प्रति उसका सहज घृणा अथवा
द्वेष का भाव रहता है।

लार्ड राबर्ट एक प्रसिद्ध अँग्रेजी योद्धा थे। ये महाशय जिस लड़ाई
में भाग लेते थे उसमें सफल ही होते थे। इन्हें किसी शत्रु का डर नहीं

रहता था। पर कहा जाता है कि वे बिल्ली से बहुत ही डरते थे। इस विलक्षण मानसिक स्थिति की खोज करने से पता चला कि जब वे दो वर्ष के बच्चे थे तो एक बिल्ली उनके बिस्तर पर चढ़ गई थी और उनकी छाती पर उसने अपने पंजे गड़ा दिये थे। यह डर उनके अचेतन मन में बैठ गया था। इस प्रकार के डर को विचार के द्वारा निकाला नहीं जा सकता। यह मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। जो बालक अपनी शैशवावस्था में डाँटे डपटे जाते हैं वे जन्म भर के लिये दब्बू हो जाते हैं और जिन्हें इस काल में उचित प्रोत्साहन मिलता है वे जन्म भर वीर पुरुष होकर रहते हैं।

जिस प्रकार शैशवावस्था को डाक्टर फ्रायड ने बड़ी महत्त्व की अवस्था बताया उसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान के पंडित डाक्टर स्टेनले हाल ने किशोरावस्था को महत्व की अवस्था बताया है। शैशवावस्था यदि जीवन का बीजारोपण काल है तो किशोरावस्था उसके कुसुमित होने का काल है। स्टेनले हाल महाशय ने इसे जीवन का वसंत कहा है। इस काल में बालक की संवेदनायें बड़ी ही प्रबल होती हैं, उसके भाव बड़े ही प्रबल होते हैं। इस काल में बालक अनेक प्रकार की भूलें करते हैं और इन भूलों के लिये वे आत्मभर्त्सना का अनुभव भी करते हैं। इसके कारण उनके मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं ग्रन्थियों के परिणाम स्वरूप उनकी रुचियाँ विशेष प्रकार की होती हैं और उनके जीवन की धारा विशेष रूप से प्रवाहित होती है।

मनुष्य के जीवन की सफलता अथवा विफलता उसकी जन्मजात योग्यताओं पर जितनी निर्भर करती है उससे कहीं अधिक उसकी लगन पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति की जिस बात में लगन रहती है वह अपने आपको उसमें खो देता है। इस लगन का आधार मनुष्य की संवेगपूर्ण घटनायें होती हैं। जो घटनायें बालक की किशोरावस्था

में घटित होती हैं उनका संबन्ध बालक की भावात्मक मनोवृत्तियों से होता है। अवांछनीय भावात्मक घटनायें ही मानसिक ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेती हैं। आगे चलकर बताया जायगा कि कैसे ये ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का कारण बन जाती हैं।

बालकों की मानसिक ग्रन्थियों के प्रकार

बालकों की मानसिक ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। जिस प्रकार के मानसिक संवेग का दमन होता है बालक की मानसिक ग्रन्थि उसी प्रकार की होती है। किसी बालक को भय की मानसिक ग्रन्थि होती है तो किसी को घृणा की, किसीको ईर्ष्या की मानसिक ग्रन्थि होती है, तो किसी को लज्जा अथवा आत्म-ग्लानि की। ये मानसिक ग्रन्थियाँ व्यक्ति की बाल्यकाल की अनेक प्रकार की कठिनाइयों का ही कारण *नहीं होतीं*, वरन् युवा और *प्रौढ़काल* की अनेक प्रकार की *मानसिक* समस्याओं का कारण बन जाती हैं। किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। जब तक रोग की उपस्थिति रहती है मनुष्य का मानसिक विकास विचित्र प्रकार का होता है। इन मानसिक ग्रन्थियों का समझना साधारण कार्य नहीं है और उनका निराकरण करना तो और भी कठिन है।

कितने ही बालकों में आत्मविश्वास की कमी पाई जाती है। वे जिस काम को हाथ में लेते हैं उसे सफलतापूर्वक कर सकने में उन्हें *विश्वास नहीं होता। वे सदा डाँवाडोल मन बने रहते हैं।* उनकी यह आदत प्रौढ़ावस्था में भी उनके साथ रहती है। इस आत्मविश्वास की कमी का जब हम कारण ढूँढ़ते हैं तो बाल्यावस्था की आत्महीनता की ग्रन्थि को ही पाते हैं। जो बालक कठोर शिक्षक अथवा कठोर माता-पिता के अनुशासन में रहते हैं वे अपनी आत्म-स्फूर्ति और आत्म-विश्वास को खो देते हैं। इसके कारण उनमें *मानसिक* नपुंसकता का

भाव आ जाता है। इसके कारण मनुष्य में निरुत्साह और परोत्पीड़न करने की वृत्ति बढ़ जाती है। इसलिए मनुष्य सदा उदास मनोवृत्ति का होता है। जो बालक अपने-आप में किसी प्रकार की कमी की अनुभूति करता है, वे आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि के शिकार बन जाते हैं। इस ग्रन्थि की एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। ऐसा बालक बड़े होने पर अपने को असाधारण व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा करता है। बालक की भावनाएँ सूक्ष्म तथा तीव्र होती हैं। उसका मन अनेक प्रकार की भावनाओं से प्रभावित नहीं रहता। उसकी सारी दृष्टि एक ही भावना में, जो उसके मस्तिष्क में विद्यमान होती है, पूर्णतया लग जाती है। ऐसा प्रौढ़ावस्था में होना अनायास संभव नहीं।

बाल्यजीवन में ही मनुष्य के सब प्रकार के संस्कारों का बीजारोपण हो जाता है। बाद के जीवन में तो परिस्थिति के अनुसार उनकी वृद्धि मात्र होती है। बड़े बड़े महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने से विदित होता है कि उनके जीवन का मुख्य कार्य और उनके जीवन की सफलता उनके बाल्यकालीन भावनाओं का प्रतिफल है।

सिकन्दर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब वह बालक था उसका पिता आसपास के सब देशों को जीतता चला जाता था। बालक को अपने पिता की विजय पर हर्ष न होकर दुःख होता था और वह अपने मित्रों से कहता था, "क्या पिताजी मेरे जीतने के लिए कोई देश न छोड़ेंगे! पिताजी ही सब देश जीत लेंगे तो मैं क्या जीतूँगा!" यही भावना जब बाद में पूर्ण रूप से जाग्रत हुई तो वह यूनान का ही विजेता नहीं हुआ प्रत्युत् उसने हिन्दुस्तान को भी जीतने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार जब नेपोलियन पढ़ता था तब उच्च अधिकारियों के बालक उसकी अवहेलना करते थे। यह अपमान उसे असह्य होता था। यही गुप्त भावना कालान्तर में जाग्रत हुई और वह फ्रांस का अधिपति बन गया। फिर उसने जो उसे अवहेलना की दृष्टि से

देखते थे उनसे पूरा बदला लिया। कमिनियस छोटी अवस्था में स्कूल में पढ़ता था। उसे अध्यापक बहुत पीटा करते थे। उसे इससे इतना दुःख हुआ कि पीछे अपनी युवावस्था में वही पहला सुधारक हुआ, जिसने पीटने की प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया और पीटने की प्रथा को निर्मूल कर दिया। वह पाठशालाओं को 'बच्चों के कसाईखाने' के नाम से पुकारा करता था। वह जीवन भर इन कसाईखानों के उद्धार में ही लगा रहा। रूसो के सुन्दर सिद्धान्त भी इन्हीं बाल्यकाल की भावनाओं के विकसित रूप हैं। रूसो बन्धन में रहना पसन्द नहीं करता था। अतः उसने बन्धनों के विरुद्ध आन्दोलन किया। उसका कहना है 'प्रकृति की सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं। मनुष्य ही उनको विकृत बना देता है।' इसी प्रकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो अपने शैशवकाल में स्कूल में बालकों के दिए जानेवाले कष्ट की जो अनुभूति की उसी के परिणाम स्वरूप शान्ति निकेतन की भावना उनकी प्रौढ़ावस्था में उनके मन में आई।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन भावनामय है। यही भावनाएँ हमारे जीवन के काम निर्धारित करती हैं। अधिकतर मनुष्य की भावनाएँ बाल्यावस्था में ही बन जाती हैं। प्रायः हम उनके जानने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि वे हमारे अव्यक्त मन में अन्तर्हित रहती हैं। यही भावनाएँ हमारे विचारों को बनाती हैं और हमारी प्रवृत्तियों का कारण होती हैं। इसलिए हम किसी भी व्यक्ति के कामों का छिपा हुआ रहस्य तबतक नहीं जान सकते जबतक कि हम उसके जीवन की घटनाओं से पूरी तरह से परिचित न हों। इतना ही नहीं देशसेवा और सत्यान्वेषण की बुद्धि भी बाल्यकाल की अनुभूतियों का प्रतिफल होती है चाहे व्यक्ति का स्वतः उसका ज्ञान हो या न हो।

महान् पुरुषों की विशेषताओं का रहस्य

उक्त कथन की प्रामाणिकता महात्मा गाँधी के जीवन से भी

चरितार्थ होती है। महात्मा गाँधी के जीवन का प्रधान उद्देश्य सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-पालन और देश-सेवा है। इन्हीं चार सिद्धान्तों को एकीभूत कर उन्होंने एक नया दर्शन हमारे सामने रखा। रक्तपात के रोकने के लिये वे मृत्यु पर्यन्त उपवास करने को सन्नद्ध रहते थे। महात्मा गाँधी के सिद्धान्तानुसार वह कार्य उत्तम नहीं कहलाता जिसमें हिंसा की शरण लेनी पड़े। हम यह जानते हैं कि युवावस्था से ही उन्होंने अपनी कामवासना का दमन किया है। वे लोगों को उपदेश देते थे कि आनन्दित तथा सुखी रहने का एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य है। अपने आश्रम में ब्रह्मचर्य-पालन ठीक तरह न देखकर उन्होंने सात दिन का उपवास भी धारण किया था। अमेरिका की एक स्त्री की, जिसने आश्रम के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी नियमों का ठीक से पालन नहीं किया था, उन्होंने काफी भर्त्सना की थी।

आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र से विदित होता है कि जब किसी व्यक्ति की किसी विषय पर विशेष आसक्ति हो तो अवश्य यह किसी प्रबल मानसिक-आवेग का प्रतिफल है। साधारण व्यक्ति की दिनचर्या प्रायः सहज होती है। जब कभी किसीके जीवन में असाधारणता का अभ्युदय होता है तो अवश्य यह किसी मानसिक-आवेग का प्रतिफल होता है। कभी कुछ दृढ़ भावनाएँ बाल्यकाल में ही अंकुरित हो जाती हैं और पुनः हमारे जीवन भर बढ़ती चली जाती हैं। हमारे जीवन के बड़े-बड़े प्रयास इन्हीं भावनाओं के प्रतिफल हैं। क्योंकि किसी विषय में विशेष आसक्ति बिना किसी दबे आवेग के सम्भव नहीं।

यदि हम महात्मा गांधी के जीवन चरित्र पर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि उनकी सत्यान्वेषण, अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा देशसेवा पर विशेष आसक्ति बाल्यकाल के आवेगात्मक अनुभवों का ही प्रतिफल है। हम जानते हैं कि उनका जन्म एक वैष्णव परिवार में हुआ है जहाँ मांसाहार बिल्कुल वर्जित है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा की

प्रबल भावना उनमें पहले से ही थी। परन्तु अपने मित्र के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्होंने माँस खाया और परिजनों से इस बात को छिपाने के लिए वे शठ भी बने। इस व्यवहार से उनके चित्त में क्षोभ हुआ। उन्हें अपने उक्त काम से आन्तरिक वेदना हुई और कहीं किसी प्रकार शान्ति न मिल सकी। यहाँ तक कि जब रात्रि में सोने गये तो मालूम हुआ कि बकरा उनके पेट में चिल्लाता हो। उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि अब कभी माँस नहीं खाऊँगा। अपने चरित्र के प्रति ग्लानि अपने ही अहिंसावृत्ति तक शान्त न हुई प्रत्युत् सारे संसार को अहिंसा का उपदेश देने में चरितार्थ हुई। मांसाहार करना उनकी सहज प्रवृत्ति के विरुद्ध था। उनका भीतरी मन मांसाहार का विरोधी था अतः जब क्षणिक संवेगवती भावना के वशीभूत होकर उन्होंने माँस खा लिया तो उन्हें मानसिक संताप होना स्वाभाविक था। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनकी जीवन-धारा का विशेष दिशा में प्रवाहित होना भी उसी प्रकार स्वाभाविक है। यदि वे एक बंगाली युवक होते अथवा उनका जन्म मांसाहारियों के घर होता तो ऐसी परिस्थिति कदापि उत्पन्न न होती। वैष्णव घर में जन्म होने से तथा रात-दिन वैष्णव विद्वानों के संग में रहने से उनको अपना कार्य बहुत ग्लानिपूर्ण मालूम हुआ। वातावरण ऐसा भी न था कि सब मांसाहार संबंधी भावनाएँ व्यक्त रूप से कहकर शान्त की जा सकें। यहाँ पर यह बतला देना उपयुक्त होगा कि अवरुद्ध भावनाएँ व्यक्त होने पर संवेगरहित होकर शान्त हो जाती हैं। इस प्रकार ये भावनाएँ दबायी जाती रहीं। इसी भीतरी और बाहरी मन के संघर्ष से मानसिक ग्रन्थियाँ बन गयीं और यही ग्रन्थियाँ राजनीतिक तथा सामाजिक सुधार में स्फुरित हुई हैं।

इसी तरह उनकी ब्रह्मचर्य के प्रति विशेष लगन तथा अनवरत देश-सेवा भी पुराने आवेगात्मक अनुभव का परिणाममात्र था। उनके पिता जिस समय मृत्युशय्या पर थे उस समय उन्होंने काम-वशीभूत

होकर शिष्टाचार और औचित्य का उल्लंघन कर अपनी कामवासना को तृप्त किया था। परन्तु भीतरी मन में अपने इस कार्य के प्रति उन्हें सहज ग्लानि थी। अपने पिता की मृत्यु के समय उनको जैसी सेवा करनी चाहिये थी वैसी वे न कर सके। इन सब बातों से उन्हें आन्तरिक वेदना होती रही। यही वेदना मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विशेष प्रकार की लगन का कारण बनी।

हम लोग बालक की मानसिक भावनाओं का प्रायः कोई मूल्य नहीं करते। इस विचार में परिवर्तन लाना भी आधुनिक मनोविज्ञान का लक्ष्य है। छोटी-सी घटना प्रौढ़ व्यक्तियों की दृष्टि से छोटी है परन्तु बालकों के जीवन में उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। व्यक्ति के मन में पुरानी भावनाएँ बीज रूप में निहित रहती हैं। कालान्तर में यही अनुकूल अवसर पाकर विशालकाय वृक्ष का रूप धारण कर लेती हैं।

महात्मा गाँधी का जीवन विकासमय था अतएव उनकी अधिक मानसिक शक्ति का शोध होता रहा। अतएव उनकी ग्रन्थियाँ उनकी सफलता में उतनी बाधक नहीं हुईं जितनी अन्यथा होतीं।

महापुरुषों के जीवन का इतिहास जानना अभिभावकों तथा अध्यापकों के लिए महत्त्व का है। बालक के भावी जीवन-निर्माण में यही लोग उत्तरदायी हैं। इसलिए उन्हें आरम्भिक जीवन की भावनाओं तथा संस्कारों का पर्याप्त मूल्य करना चाहिये। बाल्यकाल में जिस वस्तु के प्रति आसक्ति और जिसके प्रति अनासक्ति हो जाती है वह जीवन भर स्थिर रहती है।

सप्तम एडवर्ड का मनोविश्लेषण

सप्तम एडवर्ड को समाचार पत्र के अतिरिक्त और कुछ भी पढ़ने का शौक न था। उनके जीवन वृत्तान्त पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि उनके पिता चाहते थे कि वे बाल्यावस्था में ही खूब विद्वान हो जायँ। इसकी पूर्ति के लिए अनेक अध्यापक नियुक्त किये

गये थे। खाते-पीते उठते-बैठते उन्हें अध्ययन ही कराया जाता था। अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलने का अवसर तक वे नहीं पाते थे। इस प्रकार उनकी पढ़ने के प्रति स्थायी घृणा हो गयी। भीतरी मन पढ़ना नहीं चाहता था पर बाहरी मन पर दबाव डालकर बालक को पढ़ने के लिए बाध्य किया जाता था। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि उनके पढ़ने की अभिरुचि सदा के लिए जाती रही। इसलिए *अभिभावकों तथा अध्यापकों को चाहिए कि बालक की इच्छा को समझें* और तदनुकूल ही उसको कार्य में लगावें।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए यह आवश्यक है कि अभिभावक बालकों के साथ व्यवहार में सतर्क रहें। कभी-कभी बालकों के तिरस्कार करने से बहुत बड़े दुष्परिणाम हो जाया करते हैं। जिन बालकों का समाज में पर्याप्त सम्मान रहता है उनके भावों का अनादर करने से कई एक दुष्परिणाम हो जाया करते हैं, जिनके कारण उनके जीवन की सरसता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी शारीरिक व्याधियाँ भी इसीसे उत्पन्न हो जाती हैं।

मानसिक ग्रन्थि और रोग

हेडफील्ड महाशय ने अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी 'साईकालाजी एण्ड मारल्स' नामक पुस्तक में एक विचित्र रोगी का वर्णन किया है। जर्मनी के एक प्रसिद्ध वकील के पैर में प्रायः दर्द हो जाया करता था। उन्हें इसका कारण मालूम न था। डाक्टर लोग भी दर्द का कारण न बता सके। परन्तु एक चित्तविश्लेषक चिकित्सक ने छिपे हुए कारण का पता लगाया। अपनी शैशवावस्था में वकील साहब जब पढ़ने के लिए स्कूल जा रहे थे तो रास्ते में एक रोगी को देखा जिसका पाँव बग्घी से कुचल कर पिस गया था। उसकी हालत देखकर उन्हें बहुत दया आयी। यहाँ तक कि उसकी समवेदना से पीड़ित होकर उस दिन वे समय पर स्कूल न पहुँच सके और पुनः दरजे में अध्यापक के प्रश्नों

का उत्तर भी ठीक-ठीक न दे सके। इसके कारण क्रुद्ध होकर अध्यापक ने उन्हें दण्ड दिया। वे अपनी कक्षा में सबसे अधिक बुद्धिमान् थे। अतः उन्हें अध्यापक की यह ताड़ना बहुत अपमानजनक प्रतीत हुई। यह भावना आरम्भिक जीवन में शान्त न हो सकी और पश्चात् यही मानसिक-ग्रन्थि पैर की पीड़ा के रूप में व्यक्त हुई। वकील साहब के तभी वेदना होती थी जब वे अपने किसी मुकदमे में हार जाया करते थे। पिसे हुए पाँव की पीड़ा आत्म-अपमान की भावना से सम्बद्ध हो गयी थी। कुचले हुए पाँव की वेदना उस समय के मोक्षा से उत्तर दर्शक पर आ उपस्थित हुई। जो व्यक्ति जिस भावना को अपने मन में दृढ़ता से धारण करता है, वह उसे स्वतः अपने में अनुभव करने लगता है। पीड़ा उसी समय होती थी जब वकील साहब आत्म-अपमान का अनुभव करते थे।

यह एक असाधारण घटना है। परन्तु इसमें बालकों के मन में संवेदनापूर्ण भावना के एकाएक अवरोध से जो उथल-पुथल मचती है उसका जो परिणाम होता है वह भली भाँति स्पष्ट होता है। अभिभावकों को इस उदाहरण से बड़ी शिक्षा प्राप्त हो सकती है। शोपनहावर महाशय का कहना है कि जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसका दुःख भी बढ़ता जाता है। शरीर-विज्ञान शास्त्र से पता चलता है कि तीक्ष्ण बुद्धिवालों का नाड़ीसंस्थान (नरवस-सिस्टम) बहुत ही सुकुमार होता है। अतएव वे किसी प्रकार मानसिक आघात को सहन नहीं कर सकते। अभिभावकों तथा अध्यापकों को चाहिये कि बालकों के साथ बोलचाल में पर्याप्त तर्क रहें। अध्यापकों के क्रोधमय वचन कभी-कभी विष से भी अधिक हानिकर हो जाते हैं। कुचली भावनाएँ भीतरी मन में छिपी रहती हैं और बाद के जीवन में प्रकट होकर अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न करती हैं।

अध्यापकों तथा अभिभावकों का यह कर्त्तव्य है कि बालकों को ऐसी

घटनाओं से सतर्क करते रहें जिनसे उनका जीवन क्लेशमय हो जाने की संभावना है। यदि वे बालकों की चेष्टाओं को सतर्कता से देखते रहें और उन्हें प्रशस्त मार्ग का अनुसरण कराते रहें तो वे उनका व्यक्तित्व आदर्श बना सकते हैं, जिससे उनका, देश का और सब का कल्याण हो। मानसिक ग्रन्थि के उदय होने का अवकाश ही न आने देना चाहिए। यदि किसी प्रकार से मानसिक-ग्रन्थि का उदय हो भी जाय तो तुरन्त उसकी शान्ति का उपाय करना चाहिये। यही एक मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य स्वयं सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है और समाज को भी सुखी बना सकता है।

—

दसवाँ प्रकरण

बालकों की कल्पना

कल्पना और मानसिक विकास

बालक के जीवन में कल्पना का स्थान बड़े महत्त्व का है। उसके सुख की मात्रा परिमित रहती है तथा उसे सदा बड़े-बूढ़ों के निर्देशन में रहना पड़ता है। उसे न तो अपनी इच्छाओं को पूरा करने का अवसर मिलता है और न मनमाना कार्य करने की स्वतंत्रता मिलती है। ऐसी दशा में कल्पनाशक्ति उसके जीवन का सहारा बनती है। जब बालक को भूख लगती है और मनमानी चीज खाने को नहीं मिलती तो वह सूखी बासी रोटी को ही हलुआ-पूरी के स्वाद से खाता है। जो त्रुटियाँ उसके जीवन में रहती हैं उनकी पूर्ति वह कल्पना के द्वारा कर लेता है। बालक की कल्पना इतनी सजीव होती है कि उसके लिए काल्पनिक और वास्तविक बातों में थोड़ा ही भेद रहता है। जब कोई अधिक बलवान व्यक्ति उसे पीट देता है तो वह उसका बदला अपनी कल्पना के सहारे से ले लेता है। कल्पना द्वारा बालक अपनी खटुलिया को पालकी बना लेता है और उसमें बैठकर राजा जैसा चलता है। इसी तरह एक लकड़ी को टाँगों के बीच में दबाकर दौड़ने में घुड़सवारी का आनन्द लेता है। बालक की अनेक भावनाएँ इस प्रकार अपनी पूर्ति का अवसर पा लेती हैं।

कल्पना के दो प्रकार

कल्पना दो प्रकार की होती है। एक तो हेतुपूर्ण और दूसरी स्वतंत्र। हेतुपूर्ण कल्पना का ध्येय बाह्य जगत् के किसी पदार्थ को पाना, बनाना या बिगाड़ना होता है। इसके विपरीत है स्वतंत्र कल्पना, जिसका लक्ष्य

बाह्य जगत् में किसी पदार्थ को प्राप्त करना नहीं रहता वरन् काल्पनिक *पदार्थ का निर्माण ही उसका हेतु होता है।* कभी-कभी यह काल्पनिक पदार्थ विचारयुक्त तथा संसार के लिए उपयोगी होता है और कभी नहीं। कवियों की कृति उपन्यास और कहानी लिखनेवालों की कल्पना की गणना पहले प्रकार की कल्पना में है और दूसरे प्रकार की कल्पना का उदाहरण मनोराज्य की रचना में मिलता है।

सब प्रकार की कल्पनाओं की योग्यता बाल्यकाल में ही प्राप्त की जाती है। प्रकृति ने बालक को स्वभावतः ही कल्पना में तीव्र बनाया है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालक की इस शक्ति का दमन न करके उसकी वृद्धि करें तथा उसे विकसित होने का मार्ग बतावें। जिस व्यक्ति के अभिभावकों ने बालकपन में ही उसकी कल्पनाशक्ति के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया उसमें वह शक्ति भली भाँति पुष्ट नहीं होती। ऐसा व्यक्ति प्रौढ़ अवस्था में मन्दबुद्धि सा दिखलाई देता है।

कल्पना का आधार अनुभव है। हमें जिस प्रकार का अनुभव होता है तथा जिन इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है उसके अनुसार ही हमारे मन में पदार्थों की काल्पनिक मूर्तियाँ आती हैं। जिस व्यक्ति को जिस बात का अनुभव नहीं है उसके मन में उस बात की कल्पना कैसे आवेगी? अतएव बालकों को अपने साथ घूमने ले जाकर उनके अनेक प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। कई एक माता-पिता पहले तो अपने बच्चों को अपने साथ बाहर ले जाने में सहमते हैं, और यदि साथ ले भी गए तो उनके अनेक प्रश्नों का उत्तर नहीं देते। जो वस्तुएँ वे देखते हैं उनके नाम और उपयोग उन्हें नहीं बताये जाते। इसका परिणाम यह होता है कि बालक उस अनुभव से लाभ नहीं उठा सकता। जब एक अनुभव की हुई बात को हम अपनी कल्पना में फिर से लाते हैं तो उसमें शब्द का अथवा नाम का भारी कार्य होता है। बालकों

की कल्पनाशक्ति बहुत कुछ उनके शब्दभाण्डार से सीमित रहती है। अतएव बालकों के हितैषियों का इतना ही कर्तव्य नहीं कि वे इन्हें इधर-उधर अपने साथ कहीं पर घुमावें और तरह-तरह की नयी-नयी चीजों को देखने का मौका दें वरन् उनको चाहिए कि वे उन चीजों के बारे में भली-भाँति समझावें तथा बालक के हर एक प्रश्न का उत्तर दें।

कहानियों की उपयोगिता

कल्पनाशक्ति को बढ़ाने का दूसरा उपाय बालकों को कहानी कहना है। लेखक की अपने एक मित्र से इस बात पर बहस हुआ करती थी। उपन्यासों को पढ़ने से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता। वे कहते थे कि ऐसी बात को जानकर क्या लाभ होगा जो कभी हुई नहीं. उपन्यास लेखक व्यर्थ ही अपना समय और दूसरों का समय बरबाद करते हैं। आप एक झूठे संसार में रहते हैं और झूठे संसार में रहने की दूसरों में भी आदत डालते हैं। लेखक की दृष्टि से मनुष्य को व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए उपन्यास पढ़ना बड़ा ही आवश्यक है। मनुष्य जिस बात को आँखों से देखकर नहीं जान सकता वह उपन्यास द्वारा जानी जाती है। उपन्यास चाहे कोई शिक्षा न दे पर वह हमें समाज की रीतियों, मनुष्यों के स्वभाव, तथा उनके अनेक कार्यों से भली-भाँति परिचित करा देता है। प्रकृति की उन बातों को भी हम देखते हैं जो देखकर भी अनदेखी रह जाती हैं। उपन्यास हमारी कल्पनाशक्ति को प्रौढ़ बनाता है, जिसके सहारे हम संसार की अनेक बातें समझ सकते हैं और कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

जो काम उपन्यास युवावस्था के लिए करता है वही काम कहानी बालकों के लिए करती है। इससे बालक का शब्द-भाण्डार बढ़ता है और उसके मन में अनेक परिस्थितियाँ चित्रण करने की शक्ति आ जाती है। दूसरे के भावों को वह उनकी चेष्टाएँ देखकर समझ सकता है। उसे

संसार के अनेक पदार्थों का ज्ञान होता है तथा कठिनाइयों में पड़ने पर वह उनसे निकलने का तरीका सीख जाता है।

बालक की काव्य रचने की शक्ति की वृद्धि इन्हीं बचपन की कहानियों से होती है। जिस बालक को अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाई जाती हैं उसकी कल्पना-शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह प्रौढ़ावस्था में बड़ा साहित्य लेखक व कवि बन जाता है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-रचना की अपूर्व योग्यता उनकी दादी की देन थी। वे उन्हें बालकपन में अनेक कहानियाँ रच रचकर सुनाया करती थीं।

बालक की माँ का कर्तव्य है कि वह अनेक कहानियाँ याद करे और उन्हें जब भी मौका मिले, बालकों को सुनाया करे। लेखक ने कई एक बालकों में कहानी के लिए इतनी इच्छा देखी है कि जब उनकी माँ उन्हें कहानी नहीं सुनातीं तो वे रो-रोकर घर भर देते हैं और जब कहानी सुनायी जाने लगती है तो वे खाना-पीना और खेलना सब कुछ भूल जाते हैं। भारतवर्ष की माताओं में कहानी कहने की शक्ति की बहुत कमी है। जो विचारी पढ़ी-लिखी नहीं हैं वे तो अच्छी कहानी जानतीं ही नहीं और जो पढ़ी लिखी हैं उन्हें बालकों के उपयुक्त कहानी नहीं आती, और यदि आवे भी तो उन्हें अपने बच्चों को सँभालने से फुरसत नहीं रहती। कई एक धनी घर की शिक्षित युवतियाँ तो अपने बच्चों को दाइयों के सिपुर्द कर देती हैं। इन दाइयों में भला बालकों की कल्पनाशक्ति बढ़ाने की क्या योग्यता हो सकती है। फिर आश्चर्य ही क्या यदि पढ़े-लिखे माताओं के पुत्र मन्दबुद्धि निकलें।

रूसो ने अपनी 'इमली' नामक किताब में बच्चों को दाइयों द्वारा दूध पिलाने की प्रथा का निषेध किया है। बालक के जीवन में इससे कितने दुष्परिणाम होते हैं यह रूसो ने भली-भाँति बताया है। हम यहाँ बालकों को दाइयों के हाथों में देने का उनके मानसिक विकास

की दृष्टि से निषेध करते हैं। माताओं को ऐसे बालकों को जन्म ही न देना चाहिये जिनकी देखभाल वे स्वयं नहीं कर सकतीं। परमात्मा ने माता को इसलिए बनाया है कि वह बच्चे को पाले व उसकी देख-रेख करे।

हम यदि शिवाजी की जीवनी देखें तो हमें यह ज्ञात होगा कि उनके चरित्र का गठन तथा उनके व्यक्तित्व का विकास उनकी माता द्वारा ही हुआ। उनकी माता उन्हें पुराने वीरों की कथाएँ सुनाया करती थीं। उसका सहज परिणाम यह हुआ कि शिवाजी एक वीर और धर्मात्मा व्यक्ति बने। जो व्यक्ति जिस कल्पना के संसार में रहता है वह वही बन जाता है। बचपन की कल्पनाएँ जीवन-विकास में जि[illegible] महत्त्व रखती हैं उतनी बाद की कल्पनाएँ नहीं रखतीं। बचपन की कल्पना ही हमारे जीवन की उन्नति का मार्ग निश्चित करती हैं।

बालक की कल्पनाओं को हम अनेक प्रकार से काम में ला सकते हैं। हम बालक को कहानी कहने को कहें तथा उनके देखे हुए दृश्यों को वर्णन करने को कहें। इस प्रकार उनके मानसिक चित्रों में स्पष्टता आ जाती है, तथा बालक मनोराज्य का जगत छोड़कर वास्तविकता से सम्पर्क रखने की चेष्टा करने लगता है। जो बालक कुछ नहीं करते दिखाई देता है वह उस समय एक प्रकार के मनोराज्य में रहा करता है। इसमें से बालक को निकालना अति आवश्यक है। इसके लिए हमें उसकी कल्पना को उपयोगी काम में लगाना चाहिये। उसकी कल्पना को किसी रचनात्मक साहित्य के काम में लगाया जा सकता है।

समय-समय पर यह भी आवश्यक होगा कि हम उसकी काल्पनिक जगत में रहने की प्रवृत्ति को वास्तविक जगत के कार्यों में उसकी रुचि बढ़ा कर रोकें, इसके लिए अनेक स्थानों में विचरण करना, स्काउटिंग इत्यादि के धन्धे बड़े उपयोगी होते हैं।

बालक की कल्पना की विशेषता

बालक की कल्पनायें प्रौढ़ लोगों की कल्पनाओं से कई बातों में भिन्न होती हैं। इन विशेषताओं को जानना उनके भली प्रकार से लालन-पालन और शिक्षा के लिये आवश्यक है। इन विशेषताओं में तीन मुख्य हैं—सजीवता, तार्किकता और प्रतीकता।

प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा बालकों की कल्पना अधिक सजीव होती है। इस सजीवता के कारण बालक वास्तविक और काल्पनिक पदार्थ में भेद नहीं कर पाता। जब बालक से कहानी कही जाती है तो वह उसे बड़े चाव से सुनता है। उसका एक कारण यह है कि बालक कहानी में कहे गये पदार्थों को इस तरह अपनी कल्पना में देखता है जैसे वे वास्तविक दृश्य के पदार्थ हों। जो आनन्द एक प्रौढ़ व्यक्ति सिनेमा के चित्रों को देखकर पाता है वही आनन्द बालक कहानी को सुनकर पाता है। प्रौढ़ व्यक्तियों से जब कहानी कही जाती है तो वे अपनी मानसिक चित्रचित्रण करने की शक्ति निर्बल होने के कारण उन कहानियों का शाब्दिक आनन्दमात्र लेते हैं। बालकों की मानसिक स्थिति दूसरे ही प्रकार की होती है।

बालकों की कल्पना की सजीवता उनके कई बार झूठ बोलने का कारण बन जाती है। *इस प्रसंग में मारगन महाशय का दिया हुआ* एक उदाहरण उल्लेखनीय है :—

एक बालक अपनी माँ के पास भयभीत अवस्था में आया और उसने कहा कि उसका पीछा एक रीछ ने किया है। माँ बोली, "नहीं, यह नहीं हो सकता।" किन्तु बालक भय की बात करता ही रहा और अपने माँ को निश्चय कराने के लिये खिड़की के बाहर उँगली बताकर कहने लगा, "यदि तुम नहीं मानती हो तो स्वयं देख लो।" माँ ने उस देखा और अपने काले कुत्ते को बगीचे में सोया हुआ पाया। फिर

माँ बोली, "अरे शैतान लड़के ! तू जान बूझकर झूठ बोलता है। अब तू अपने बिस्तरे के पास घुटने टेक कर भगवान् से क्षमा करने के लिये प्रार्थना कर।" बच्चे ने माँ का कहना माना और दृढ़ता के साथ प्रार्थना से कहा, "माँ, सब ठीक है। ईश्वर ने मेरी बात सुन ली और उसने कहा कि तुम परवाह मत करो। हमने स्निप (कुत्ता) को उसने भी कभी भूल से रीछ मान लिया था।"

इस दृष्टान्त में बालक पहले से ही कोई झूठ नहीं बोला था। वह जो कुछ कह रहा था सत्य ही कह रहा था। उसने उस बड़े कुत्ते की ओर देखा और उसे रीछ मान लिया। फिर उसने अपनी कल्पना में देखा कि रीछ उसका पीछा कर रहा है। उसके मन में भय उत्पन्न हो गया। इस भय के उत्पन्न होने पर उसे ज्ञात होने लगा कि कोई वास्तविक रीछ उसके पीछे दौड़ रहा है। जिन बालकों को बार हौआ, शैतान, वनबिलाव आदि वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों से डराया जाता है वे रात को अकेले छूटने पर उन्हें सच देखने लग जाते हैं।

बालकों की कल्पनायें प्रौढ़ व्यक्तियों की कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक तरंगिक होती हैं। उनके कल्पित पदार्थों का वास्तविक जगत में पाया जाना असम्भव है। प्रौढ़ व्यक्तियों की कल्पना वास्तविक जगत के नियमों से नियंत्रित रहती है। बालक की कल्पनायें इस प्रकार के नियंत्रण को नहीं मानतीं। जो कल्पना वास्तविक जगत से जितनी दूर हो वह बालक को उतनी ही प्रिय होती है। जानवरों का आपस में मनुष्य जैसा बोलना, मगर और बन्दर की बातचीत, चूहे और कबूतर की बातचीत, ऊँट और सियार की बातचीत आदि कहानियाँ उन्हें बड़ी रोचक प्रतीत होती हैं। इसी तरह राक्षसों की और किसी छोटे बालक की अथवा बौने की असंभव करामातों की कहानियाँ उन्हें बड़ी रोचक होती हैं। यदि छोटे बालकों की कहानियों में साधारण घटनाओं का

वर्णन किया जाय तो शीघ्र ही उनका मन ऊब जायेगा। हितोपदेश की कथायें और ईसप्स फेबुल्स (ईसप की कहानियाँ) इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ही लिखी गई थीं। बालकों की कहानियों में सदा यह ध्यान रखना होगा कि उनमें मनोविकास के अनुकूल घटनाओं का चित्रण हो।

बालक की कल्पना सदा उसकी छिपी हुई इच्छा की प्रतीक होती है। बालक की छिपी हुई इच्छा उसकी कल्पनाओं में प्रकाशित होती है। कितने ही बालकों को अकारण भय होते हैं। उनके एक भय को हटा भी दिया जाय तो फिर दूसरा उसी प्रकार का भय उनके हृदय में स्थान कर लेता है। इस प्रकार के भयों का निवारण बालकों को समझा बुझाकर नहीं किया जा सकता है, उनकी छिपी हुई इच्छा को जानकर ही किया जा सकता है। डाक्टर होमरलेन का कथन है कि बालक की दूध पीने की इच्छा की पर्याप्त तृप्ति नहीं हो तो उसे अन्धकार से अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। वह अन्धकार में अनेक भयानक वस्तुएँ देखता है। जब प्रकाश को लाकर बालक को यह कहते हैं कि अन्धकार में कोई डरावनी वस्तु नहीं है तो क्षणिक ऊपरी आश्वासन अवश्य होता है किन्तु उसका वास्तविक भय नष्ट नहीं होता। अन्धकार में डरने की उसकी आदत बनी रहती है। उसका वास्तविक भय बाहर नहीं है, वह उसके भीतर है। जब तक इस भीतरी भय का निराकरण नहीं होता उसको डरने की आदत बनी रहती है।

कल्पना विकास के उपकरण

बालक की कल्पना के विकास के प्रमुख उपकरण चार हैं—खेल, कहानियाँ, अभिनय और कला। बालक की कल्पना के विकास का सबसे प्रमुख साधन खेल है। बालक के खेल में पहिले-पहल हाथों के

कामों का अधिक स्थान रहता है। पीछे उसके खेलों में कल्पना और विचार की आवश्यकता होने लगती है। बालक जब मिट्टी से बैल, घोड़ा आदि बनाता है तो पहिले-पहल इन पदार्थों की कल्पना करता है। इसी तरह मकान, पुल आदि बनाते समय बालकों को इनकी कल्पना करनी पड़ती है। खेल की वस्तुओं को सजाने के लिये भी कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है उसके खेलों में अधिकाधिक कल्पना की आवश्यकता होने लगती है। खेल के पदार्थों की विभिन्न उपयोगों के लिये उसे कल्पना करनी पड़ती है। खेल में आनेवाले गुड्डा गुड्डी बहुत कार्य करते हैं। ये सब काम बालक की कल्पना में ही होते हैं। बिना इस काल्पनिक कार्यों के गुड्डा गुड्डियों से बालकों का खेलना संभव ही नहीं। जिन शिक्षा प्रणालियों में बालकों के खेल में बालकों की कल्पना को स्थान नहीं दिया जाता है और बहुत से लकड़ी के अर्थहीन पदार्थ बालक के सामने रख दिये जाते हैं, वे बालक की आत्मस्फूर्ति का विनाश करते हैं। बालकों के बहुत से खेल मगर, भालू आदि बनाने के होते हैं। इन खेलों से बालक की कल्पना का विकास होता है। वास्तव में खेल शारीरिक क्रिया का ही नाम नहीं है। खेल कल्पनामयी शारीरिक क्रिया का नाम है। जिन खेलों में कल्पना का स्थान नहीं रहता वे खेल नहीं हैं; वे बालकों के लिये एक प्रकार की ताड़ना के रूप हैं। मॉन्टसोरी शिक्षा पद्धति में काल्पनिक खेलों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह मैडम मॉन्टसोरी की बड़ी भारी वैज्ञानिक भूल है। इस बात में फ्रोबेल महाशय की शिक्षा-पद्धति उत्कृष्ट है, किंडर गार्टन शिक्षालयों में बालकों को अनेक ऐसे खेल सिखाये जाते हैं जिनसे उनकी कल्पना की वृद्धि होती है।

बालकों की कल्पना का दूसरा साधन कहानियाँ हैं। इसके विषय में हम पहले कह आये हैं। बालकों की कहानियाँ हमारे साधारण

जीवन का चित्रण मात्र न होनी चाहियें। इस प्रकार की कहानियाँ प्रौढ़ लोगों के उपयुक्त होती हैं। बालकों की कहानियाँ उनके मन में आनन्द उत्पादन करनेवाली होनी चाहिये। छोटे बालकों के लिये जानवरों, पक्षियों आदि की कहानियाँ रोचक होती हैं। किशोर बालकों को वीर-गाथायें सुनानी चाहिये। मैडम मान्टेसोरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में कहानियों को, विशेषकर असंभव बातों की कहानियों को, कोई स्थान नहीं दिया है। उनका कथन है कि इससे बालक में अंधविश्वास बढ़ता है। किन्तु उनकी यह धारणा बालक के मनोविकास के प्रतिकूल है। जिस प्रकार मनुष्य-समाज बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ा है, इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में जीवन-विकास की सभी सीढ़ियाँ पार करता है। बालक को एकाएक विवेकी बनाने की चेष्टा करना उस पर बरबस प्रौढ़त्व लादने की चेष्टा करना है। जब बालक में धीरे धीरे स्वाभाविक क्रम से विवेक विकसित होता है तभी यह स्थायी होता है और उसके जीवन के काम में आता है।

बालकों की कहानियों में किसी प्रकार की समस्यायें न रहनी चाहिये। वे सरल भाषा में कही जानी चाहिये और धीरे-धीरे उन्हें सुनाना चाहिये। कभी-कभी बालकों से कही हुई कहानियाँ दुहरानी चाहिये। जहाँ तक हो सके कहानियों को हाव-भाव से कहना चाहिये।

बालक की कल्पना के विकास का तीसरा साधन अभिनय है। सभी बालकों में अभिनय की प्रवृत्ति होती है। बालकों के बहुत से खेल अभिनय के होते हैं। बालक जब सिपाहियों को एक लाइन में चलते देखता है तो यह स्वयं सिपाहियों का अभिनय करने लगता है। बच्चे रामलीला देखने के बाद घर आकर उसी का अभिनय करने लगते हैं। छोटे-छोटे बालक शेर-भालू का भी अभिनय करते और एक दूसरे को डराते हैं।

बड़े बालक किसी समाज, जीवन के दृश्य का अभिनय करते हैं—उदाहरणार्थ, न्याय का अभिनय, युद्ध का अभिनय इत्यादि। बालकों की कल्पना के विकास के लिये इस प्रकार के अभिनय बड़े उपयोगी होते हैं। जिन अभिनयों में अनेक बालक मिलकर काम करते हैं उनमें बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति अनेक प्रकार से वृद्धि पाती है। बालकों को अपने-अपने पार्ट को सोचना पड़ता है और दूसरे पात्र क्या करेंगे इसकी कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार के अभिनयों की कल्पना जीवन के कार्यों में बड़ी लाभदायक होती है। शिक्षकों को चाहिये कि जहाँ सम्भव हो, पाठ का बालकों से अभिनय करावें। इससे उसकी रोचकता बढ़ जाती है और वह उनको शीघ्र याद हो जाता है; साथ ही साथ उनकी कल्पना भी विकसित होती है।

बालकों की कल्पना का विकास करने का चौथा साधन कला है। कविता, संगीत, हस्तकला सभी में कल्पना की आवश्यकता होती है। जब बालक कोई चित्र बनाता है तो वह पहले-पहल चित्रित भाव अपनाता है, वह उसकी अनुभूति करता है और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इसी तरह उसकी कल्पना का प्रसार होता है। चित्रकार अपने हृदय के सौन्दर्य को ही चित्र में अंकित करता है। सुन्दर कलाकार की कल्पना सुन्दर होती है। इसका प्रभाव कलाकार के आचरण पर भी पड़ता है। सौन्दर्योपासना मनुष्य की दैवी विभूतियों को विकसित करती है, उसके मन में सुन्दर विचार लाती है और उसे परमानन्द का आस्वादन कराती है। संसार के सुधार की आशा कलाकारों से है। तार्किक विचार और बुद्धिवाद मनुष्य को शुष्क हृदयहीन प्राणी बनाते जा रहे हैं। कला के लोप होने के साथ साथ मानव समाज के सभी दैवी गुणों का लोप होता जा रहा है। पुराने समय में धार्मिक विचारों के द्वारा कला की रक्षा होती थी। वैज्ञानिक विचार के प्रवाह ने धार्मिक भावनाओं को मनुष्यों के हृदय से नष्ट कर

दिया है। अतएव जो कलारूपी पुष्प इन भावनाओं के द्वारा विकसित होते थे वे भी अदृश्य में विलीन हो गये। कला की रुचि के नष्ट होने से मनुष्य की सर्वोच्च कल्पना के विकसित होने का साधन भी जाता रहा। मानव समाज के पुनरुद्धार के लिये अब बालकों में शिशुकाल से ही कला की प्रवृत्ति बढ़ाना आवश्यक है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

बच्चों की आदतों का सुधार

आदतों के कारण

मनुष्य का व्यक्तित्व आदतों का पुञ्ज है। मनुष्य की कोई भी आदत जन्मजात नहीं होती, प्रत्येक आदत वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। आदतों के डालने के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो, बाल्यकाल के अनुभव बड़े ही महत्त्व के होते हैं। मनुष्य की सुन्दर से सुन्दर और जटिल से जटिल आदत की जड़ बचपन में होती है। बाल्यकाल में सरलता से आदतें डाली जा सकती हैं। जब ये आदतें एक बार पड़ जाती हैं तो फिर उनसे मुक्त होना बड़ा ही कठिन होता है। यदि ये अच्छी आदतें हुईं तो जीवन को सफल बनाने में सहायक होती हैं और यदि ये बुरी हुईं तो जीवन को असफल बना देती हैं।

आदतें हमारी किसी जन्म-जात प्रवृत्ति के ऊपर आरोपित रहती हैं। प्रत्येक प्राणी में अनेक प्रकार की जन्म-जात प्रवृत्तियाँ हैं। साधारणतया वह इन प्रवृत्तियों के अनुसार अपने आस पास के वातावरण में काम करने की चेष्टा करता है। पर जहाँ दूसरे प्राणियों में ये प्रवृत्तियाँ इतनी सुरक्षित होती हैं वहाँ मनुष्य में ये सुरक्षित नहीं होतीं। मनुष्य को अपना जीवन आदतों के बल पर ही चलाना पड़ता है। ये आदतें शिक्षा के द्वारा बालकों में डाली जाती हैं।

किसी आदत को डालने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। मनुष्य की आदत उसी ओर पड़ जाती है जिस ओर वह बार बार

अभ्यास करता है। आदत डालने के कार्य को नहर बनाने के कार्य के समान मानना चाहिये। जैसे कि नदी में बहते पानी का प्रवाह नहर के द्वारा एक नई ओर मोड़ा जा सकता है, उसी प्रकार मन की शक्ति का प्रवाह अभ्यास के द्वारा जन्म-जात प्रवृत्तियों के मार्ग से विचलित करके नये सुयोग्य मार्ग की ओर मोड़ा जा सकता है।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अभ्यास मात्र आदत का आधार नहीं है, अभ्यास के पीछे मानसिक शक्ति की भी आवश्यकता है। मानसिक शक्ति का प्रवाह रोकने के लिये मनुष्य में विचारशक्ति की वृद्धि की आवश्यकता होती है। प्रकृति अन्य प्राणियों की मानसिक शक्ति के प्रवाह अर्थात् शक्ति के प्रकाशित होने का मार्ग निर्धारित करती है, मनुष्य स्वयं अपने आप अपनी शक्ति के प्रकाशित होने का मार्ग निश्चित करता है। इससे यह स्पष्ट है कि आदतें अपने आप बनाई जाती हैं। आदतों के बनाने में अधिक अनुभवी लोग किसी व्यक्ति को सहायता दे सकते हैं, पर सभी भली आदतों को व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्न से डालता है। जो आदतें बालक में अपने आप पड़ जाती हैं, वे उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का प्रकाशन मात्र होती हैं। उनसे बालक के चरित्र का गठन नहीं होता। इसी तरह जो आदतें, बलवन् बालकों में डाली जाती हैं, वे अच्छी होकर भी बालक के चरित्र गठन में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होतीं। ये आदतें आगे चल कर बालक के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर देती हैं; इनके कारण बालक के मन में भारी अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाता है। इससे उसकी मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है, और उसकी प्रतिभा स्फुरित नहीं होती। बालक की प्राकृतिक इच्छाओं के प्रवाह को बरबस मोड़ने की चेष्टा बालक के मन में जो मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर देती हैं, उनके कारण बालक किशोरावस्था या उसके कुछ पूर्व बुरी-बुरी आदतों का शिकार हो जाता है।

बालक के चरित्र में वे ही आदतें उपयोगी सिद्ध होती हैं जो बाल को समझा-बुझाकर तथा उसकी स्वीकृति के अनुसार डाली जाती हैं। संभव है कि जिस समय आदत डाली जा रही है, उस समय बाल उसकी महत्ता इतनी स्पष्टता से न समझ सके, पर उस आदत के प्रति उसका विरोध न होना आवश्यक है। जो आदत बालकों को समझा-बुझाकर डाली जाती है, अथवा जो आदत बालक दूसरों को देखकर अपने प्रयत्न से डालता है, वह बालक की इच्छाशक्ति को दृढ़ करती है और जीवन भर उपयोगी सिद्ध होती है।

बुरी आदतें पड़ने का समय

जब हम बालकों की आदतों के सुधार की चर्चा करते हैं तो हमें यह जानना आवश्यक है कि बुरी आदतें क्या हैं, कब पड़ती हैं और उनके सामान्य कारण क्या हैं।

बुरी आदतें वे हैं जो बालकों की इच्छाशक्ति को कमज़ोर बना हैं और उसके जीवन-संग्राम में सहायक न होकर उसके जीवन अड़चन डालती हैं। बुरी आदतें दो प्रकार की होती हैं—एक वह भली आदतों के अभाव में अपने आप दूसरों के अनुकरण के कारण अथवा जन्म-जात प्रवृत्ति के कारण पड़ जाती हैं; और दूसरी वे मानसिक ग्रन्थियों के कारण उत्पन्न होती हैं। पहले प्रकार की बु आदतों की बहुतायत शिशुकाल में होती है और दूसरी प्रकार की बु आदतों की बहुतायत बाल्यकाल और किशोरावस्था में होती है। इ दो प्रकार की आदतों के कारण भिन्न-भिन्न हैं और उनका उचित उप चार भी भिन्न-भिन्न है।

शिशुकाल की बुरी आदतों का असर अधिकतर शिशु तक ही सीमित है। ये आदतें इस समय छुड़ाई जा सकती हैं। यदि इन आदतों का उपचार ठीक से न हुआ, तो ये आगे चलकर बालक की सफलता में बाधक बन सकती हैं। अयोग्य उपचार होने से ये आदतें

देकर दूसरी जटिल आदतों का कारण बन जा सकती हैं। शिशुकाल की कुछ बुरी आदतें निम्नलिखित हैं—अँगूठा चूसना, बिस्तर पर पेशाब करना, हर समय खाते रहना, बच्चों को पीटना, गोद में रहने के लिये रोना, मल-मूत्र से खेलना आदि।

अँगूठा पीने की आदत

पहली अँगूठा चूसने की बुरी आदत है। यह आदत बहुत से बच्चों में पाई जाती है। यह आदत अपने अंग को मुँह में लेने से जो सुख मिलता है, उसी के ऊपर आधारित है। यह आदत उन बच्चों में पड़ जाती है, जिन्हें समय के पूर्व माँ का दूध छोड़ना पड़ता है। साधारणतः बालक दो ढाई वर्ष तक दूध पीना चाहता है। जब इसके पूर्व एक नये बच्चे के गर्भ में आने के कारण बालक को दूध छोड़ना पड़ता है अथवा किसी अन्य कारण से उसे दूध छोड़ना पड़ता है तो अँगूठा चूसने की आदत उसमें पड़ जाती है। अँगूठा पीने से बालक की भूख तो नहीं जाती, पर जो आनन्द माँ का स्तन मुँह में देने से आता है उसकी कुछ पूर्ति होती है।

बालक की अँगूठा चूसने की आदत का एक और मानसिक कारण है। अँगूठा चूसने से बालक को अपने क्लेशकारक विचारों से कुछ बचाव भी मिलता है। छोटे बच्चों में अँगूठा चूसने की आदत का प्रधान कारण माँ के स्तन को मुँह में न देना है; पर बड़े बालकों में इस आदत का कारण मानसिक कष्ट होता है। जिन बालकों को माता-पिता का पूर्ण प्यार नहीं मिलता उनमें इस आदत का रहना स्वाभाविक है। कभी-कभी सौतेली माँ के घर में रहने पर भी यह आदत लग जाती है। जब बालक अँगूठा या उँगुलियाँ चूसता है तो उसे एक प्रकार का संतोष होता है। वह ऐसी अवस्था में कुछ नहीं बोलना चाहता। यही बालक दूसरी अवस्था में दूसरे बालकों से झगड़ा करता रहता है। कुछ चिड़चिड़े स्वभाव वाले बालकों में भी इस आदत को देखा गया है।

इस आदत को देखकर माता-पिता को घबड़ाना नहीं चाहिये। यह एक सामान्य आदत है जो प्रायः कुछ दिन बाद अपने आप ही छूट जाती है। जब बालक समाज में आने-जाने, उठने-बैठने लगता है तो उसके मन में आत्म-सम्मान का उदय होता है तो इस आदत का अंत हो जाता है। कोई कोई माता-पिता इस आदत को बड़ी गन्दी आदत समझ कर जल्दी से छुड़ा देना चाहते हैं। इस तरह वे इस आदत को जटिल बना देते हैं। बच्चा फिर छुपकर अँगूठा या उँगलियाँ चूसने लगता है। इस तरह उसमें झूठ बोलने और चोरी करने की आदत पड़ जाती है। जिन बालकों में यह आदत बरबस दबा दी जाती है उनमें वह किसी दूसरे बुरे रूप में प्रकाशित होती है। कभी-कभी वह काम-क्रीड़ा की आदत का कारण बन जाती है। इस आदत को छुड़ाने का जो भी उपाय किया जाय उसमें बालक की सहायता लेना आवश्यक है। जब बालक स्वयं प्रयत्न करता है तो यह आदत सरलता से छूट जाती है।

बिस्तर पर पेशाब करना

बिस्तर पर पेशाब करना यह शिशु काल की दूसरी आदत है। यह आदत बहुतायत से बच्चों में पाई जाती है। माता-पिता की असावधानी के कारण यह कभी-कभी कई दिनों तक बनी रहती है। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारण इसके मूल में होते हैं।

शारीरिक कारणों में कृमि का पेट में होना, अधिक भोजन करना, सोते समय अधिक दूध या पानी पीना, शारीरिक कमजोरी, कुपच, आदि हैं। किसी-किसी कुटुम्ब में बिस्तर पर पिशाब करने की आदत प्रायः प्रत्येक बच्चे में होती है। कितने लोग अनेक प्रकार के उपाय करने पर भी इस आदत को छुड़ा नहीं पाते। इस आदत के मानसिक कारणों में बालक का ईर्ष्या अथवा दुःख का वातावरण है। जो बालक पहले अधिक प्यार पाते हैं किन्तु पीछे प्यार की कमी महसूस

करते हैं वे कभी-कभी इस आदत के शिकार बन जाते हैं। मारने-पीटने से यह आदत और भी जटिल हो जाती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कितने बालक स्वयं इस आदत को छोड़ना चाहते हैं, पर वे इसे *नहीं छोड़ पाते। वे बिस्तर में पेशाब सुस्ती के कारण नहीं वरन्* अपनी अचेतन अवस्था में करते हैं। वे कभी-कभी स्वप्न में देखते हैं कि उठकर ठीक स्थान पर पेशाब कर रहे हैं पर बिस्तर में ही पेशाब हो जाता है। लेखक की बच्ची को यह बीमारी बहुत दिन तक रही। वह स्वयं भी इसके कारण दुखी होती थी, पर यह बीमारी छूटती नहीं थी।

इस आदत को छुड़ाने के लिये बालक को कुछ दिन हल्का भोजन देना चाहिये जो कि उसे भली प्रकार से पच जाय। बालक को किसी प्रकार से भी पेटू न होने देना चाहिये। उसे सूर्यास्त से पहले ही भोजन करा देना चाहिये। उसे सुला भी जल्द ही देना चाहिये। सोने के दो घंटे बाद उसे जगा कर पेशाब करा देनी चाहिये। *यहाँ यह स्मरण रहे* कि बालक को बिना जगाये पेशाब करा देने से यह आदत नहीं छूटती। उसे जगाकर ही पेशाब कराना चाहिये। फिर सवेरे उसे जल्दी ही जगा देना चाहिये और पेशाब करा लेनी चाहिये।

बालक का जब मानसिक जीवन दुःखमय होता है तो यह बीमारी और जटिल हो जाती है। अतएव बालक को उचित प्यार से रखना आवश्यक है। यदि बालक घर का बड़ा बालक है तो उसकी इस आदत का शीघ्र लोप हो जाता है। इसलिये बालक को मारना, पीटना इस आदत को छुड़ाने के लिये उचित नहीं। ऐसा करने से यह आदत *और भी बढ़ जाती है।*

डाक्टर होमरलेन का कथन है कि बालकों को रचनात्मक काम में लगाने से उनकी बिस्तर पर पेशाब करने की आदत छूट जाती है। पानी से खेलना और गीली मिट्टी से खेलने से यह आदत छूटती है। अतएव ऐसे बालकों को इस प्रकार के खेलों में लगाना चाहिये।

यह आदत कभी-कभी ८ या १० वर्ष तक के बच्चों में बनी रहती है। ऐसी स्थिति में बालक को इसके लिये लज्जित नहीं करना चाहिये। बालक का आत्म-विश्वास बढ़ाने से तथा उसे इस आदत को छोड़ने के लिये प्रोत्साहित करने से यह आदत छूट जाती है। जिन लड़कों में आत्मसम्मान का भाव आ जाता है, वे अपनी अचेतन अवस्था में भी अपनी शारीरिक क्रियाओं के ऊपर संयम करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रसंग में डाक्टर डगलस, ए० टाम महाशय का "एवरी प्रॉबलेम् ऑव् एवरी डे चाइल्ड" नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है:—

आठ वर्ष के अच्छे घर के एक बालक को बिस्तर में पेशाब करने की आदत थी। उसका इलाज एक योग्य डाक्टर करते थे। उन्होंने इस आदत को छुड़ाने के लिये सभी प्रकार की चिकित्सा की, पर तो भी यह आदत छूटती नहीं थी। डाक्टर ने उसकी शारीरिक चिकित्सा की; दंड द्वारा भी उसकी चिकित्सा की गई, पर किसी तरह यह आदत न गई। डाक्टर के पास कोई उपाय शेष नहीं था। इसी बीच में उसने एक युक्ति सोची। एक रोज जब वह बालक से मिलने गया तो उस बालक की दिनचर्या की सभी बातों के बारे में प्रश्न किये पर उस बिस्तर पर पेशाब करने के बारे में कोई प्रश्न नहीं किया। अन्त में जब डाक्टर जाने लगे तो स्वयं बालक ने डाक्टर साहब से कहा—आपने बिस्तर में पेशाब करने के बारे में तो कुछ नहीं पूछा, तो डाक्टर ने सहज भाव से कहा—इसके बारे में पूछना क्या है? जो बालक अपनी कक्षा में इतना ऊँचा रहता है और जो इतने नामवरी के काम कर सकता है वह जब निश्चय कर लेगा उस आदत को अवश्य छोड़ सकेगा। ऐसा कहते हुए वह और दूसरे विषयों पर फिर बातचीत करने लगा। डाक्टर के इस प्रकार के कहने का बालक पर विलक्षण प्रभाव हुआ। उस दिन से बालक का बिस्तर पर पेशाब करना छूट

गया। अब उसे पेशाब जब लगती तो वह जग जाता और उठ कर पेशाब करता।

यहाँ हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी बीमारी के हटाने के लिये व्यक्ति के अचेतन मन की सहायता लेना आवश्यक है। उसकी सहायता प्राप्त करने के लिये चिकित्सक को मरीज़ के साथ अहंकार को छोड़ कर प्रेम भाव के साथ बर्ताव करना चाहिये। जब तक डाक्टर यह कहता है कि मैं तुम्हारे अमुक रोग को छुड़ा दूँगा तब तक वह किसी प्रकार भी मरीज़ को पूरी तरह अच्छा करने में सफल नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति के सुधार में वास्तव में उस व्यक्ति का भीतरी मन ही काम करता है चाहे वह बुरी आदत का सुधार हो अथवा किसी रोग का सुधार। बिना अचेतन मन की सहायता के किसी भी बुरी आदत से मनुष्य न स्वयं मुक्त हो सकता है और न कोई दूसरा व्यक्ति उसे मुक्त कर सकता है। बिस्तर में पेशाब करनेवाले व्यक्ति के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। हमें सदा उसे प्रोत्साहित करते रहना चाहिये कि वह पेशाब के समय जाग जाय। जिस समय हमारा संदेश उसके अचेतन मन तक पहुँच जाता है तो हमारा काम बन जाता है। बालक के आत्मविश्वास को तथा आत्म-अभिमान को कभी भी कम न होने देना चाहिये। बालक के चरित्र गठन का यह सबसे बड़ा मौलिक सिद्धान्त है। श्री चन्द्रकान्ता कोचर के निम्न-लिखित विचार जो शिक्षक के नवम्बर १९४५ के अंक में प्रकाशित हुए हैं इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय हैं:—

यदि बालक को स्वच्छ नियम और आदतें सिखाने में अधिक कठोरता की जायगी, तो बालक न केवल मूत्र त्याग करने में हठ करेगा; बल्कि अन्य दूसरी कठिनाइयाँ भी उपस्थित होने की सम्भावना हो सकती है। हाल ही में एक बालक की स्थिति मनोवैज्ञानिकों के समक्ष प्रस्तुत की गयी है। बालक तीन वर्ष का स्वस्थ और प्रसन्नचित्त

बालक है। उसकी पुरानी आया, जिसके पास वह बचपन से रहा, किसी कारणवश अपने घर चली गयी। वह आया बच्चे को बहुत स्नेह से रखती थी। बालक की आदत थी कि वह रात्रि में दस बजे अवश्य बिस्तर में पेशाब करता था और दिन में वह पूर्णतया स्वच्छ रहता था। बालक पुरानी आया के जाने के कारण बहुत दुखी था। नई आया इतनी सहानुभूतिपूर्ण और स्नेहमयी नहीं थी। उसे बच्चे को रात में बिस्तर पर पेशाब करते देख बहुत बुरा लगा और उसने बालक की वह आदत सुधारनी चाही। उसने नियम बना लिया कि रात को हर घंटे के पश्चात् बालक को उठाकर पेशाब करवाना। धीरे-धीरे बालक इतना भयभीत हो गया कि वह सारी रात जागता रहता और दिन में भी हर घंटे के पश्चात् नाली की ओर भागता। साथ ही उसने हकलाना भी आरम्भ कर दिया। बालक की यह स्थिति देखकर माँ-बाप घबरा उठे, और बड़ी कठिनता से बालक का मानसिक विश्लेषण कर वे उसे इस कठिन परिस्थिति से छुटकारा दिला सके। एक नन्हीं बालिका पेशाब करने के कारण अपनी बहिन से बुरी तरह डाँटी गयी और इस पर उसने सत्ताईस घण्टे पेशाब नहीं किया।

जब हमें ज्ञात हो जाय कि बालक पेशाब करना चाहता है, तब यदि प्रसन्नमुद्रा और सहानुभूतिपूर्ण आचरण द्वारा यदि स्थान इंगित कर दिया जाय तो शनैः-शनैः बालक की उचित स्थान पर पेशाब करने की आदत पड़ जायगी। यदि पहले तो हम कुछ ध्यान न दें, और जब बालक वस्त्र या बिस्तर पर पेशाब कर चुके उस समय उसे डाँटना आरम्भ करें, तो इससे कुछ लाभ होने की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना है। हो सकता है, बालक उस समय यह समझे कि उसे पेशाब करने के कारण डाँटा जा रहा है, न कि वस्त्र गन्दा करने के कारण; और वह पेशाब करना बन्द कर दे। इससे मिरगी का रोग होने का भय है। एक नन्हें बालक के लिए असली स्थिति का

ज्ञान होना कठिन है। हमारी भावना ही धीरे-धीरे उसे स्वच्छता का पाठ पढ़ा सकती है। भय सदा बालक की बुद्धि को कुण्ठित करता है। अतः यदि बालक को डाँटा और ताड़ित किया जाय तो वह अवश्य ही हमारे सुझाये मार्ग पर न आ सकेगा। यदि बालक को सहानुभूति की भावना और स्नेह की भावना से भरकर धीरे-धीरे समझाया जाय, तो अवश्य ही वह स्वच्छता से रहने लगेगा। बालक के मलमूत्र त्याग करने के स्थान का भी उचित ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही बालक के वस्त्र भी इस प्रकार के होने चाहिए कि तीन-चार वर्ष का बालक बिना हमारी सहायता के सरलतापूर्वक वस्त्र खोल सके। यदि बालक को बड़ा होने पर भी वस्त्र खोलने के लिए बड़ों की सहायता की आवश्यकता है, तो इससे बालक में व्यक्तित्व का विकास नहीं होगा। अतः जहाँ तक हो सके छोटी अवस्था से ही बालक को ऐसे वस्त्र पहनाने चाहिए, जिन्हें वह सरलतापूर्वक खोल सके या उतार सके। रात्रि में बालक के बिस्तर के पास एक पात्र होना चाहिए; ताकि योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी सदा उसे रात्रि को बड़ों के जगाने की आवश्यकता न पड़े। बिना किसी भय के और बिना किसी को कष्ट दिये यदि वह अपना कार्य कर लेगा तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ेगा।

एक मनोवैज्ञानिक को एक स्त्री ने बताया कि जब कि उसका लड़का सवा वर्ष का था, उसे पैरों पर बैठा कर मूत्र त्याग करने की आदत डाल रही थी। बालक का मुँह यदि माँ की ओर नहीं रहता था, तो वह खूब चीखता और शरीर को ऐंठा लेता तथा मलमूत्र त्याग करने से इन्कार कर देता और जब उसके बैठने की स्थिति इस प्रकार की होती कि वह माँ की मुख-मुद्रा भली प्रकार देख सकता, तो वह माँ के कपड़ों को हाथ में पकड़कर शान्ति से पेशाब कर लेता। अतः बालक की भावनाओं का ध्यान रखना अति आवश्यक है। बालक का

स्वभाव हठीला होता है ; यदि उसकी इच्छाओं के विपरीत कार्य किया जायगा तो अवश्य ही वह विरोध प्रकट करेगा। बालकों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ भी भिन्न-भिन्न रूप की होती हैं। अतः उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं का समझना भी हमारे लिए बहुत आवश्यक है। कोई बालक अकेले ही बैठकर मूत्र-त्याग करना चाहता है। दूसरा बालक जब अपनी माँ या सम्बन्धी उसके पास बैठ कर कहानियाँ सुनाते रहें तभी वह मल-मूत्र का त्याग करेगा। माँ को बालक के भावों का पूर्ण रूप से अध्ययन करना चाहिए।

एक बालिका हमारे घर के पास ही रहती थी। उसकी माँ परेशान थी कि बालिका पाँच वर्ष से ऊपर होने को आयी; लेकिन अभी तक रात को बिस्तर पर पेशाब कर देती है। एक डाक्टर से बालिका के पिता ने इस विषय में कहा। डाक्टर एक बड़ा मनोवैज्ञानिक था। उसकी राय से बालिका के लिए एक छोटी-सी चारपाई खरीदी गयी और उसका बिस्तर अलग बिछने लगा। अभी तक वह माँ के साथ सोती थी। उसे बताया गया कि यह सुन्दर चारपाई और सुन्दर बिछौना उसका है, और उस पर वह सोया करेगी—यदि गन्दा करेगी तो उसका सुन्दर बिछौना गन्दा हो जायगा। उसी रात से बालिका ने बिस्तर पर पेशाब करना छोड़ दिया।

बालकों को अक्सर भूत-प्रेत या बाबा का भय दिखाया जाता है। इससे उनमें मानसिक दुर्बलता आ जाती है और अपनी इन्द्रियों को वह काबू नहीं कर पाते। सिनेमा, नाटक में जाने से भी नये भयोत्पादक दृश्य उनके मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव डालते हैं, जिनके कारण रात में उठकर पेशाब करना उनके लिए असम्भव हो जाता है। बालक के कोमल भावों और मानसिक विचारों का ध्यान रखना चाहिए, ताकि उनमें कोई दुर्बलता न आने पाये।

मल-मूत्र से खेलना

शिशुकाल की तीसरी आदत मल मूत्र से खेलना है। प्रत्येक एक वर्ष के बालक में अपने मल-मूत्र को छूने की प्रवृत्ति होती है। यह बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति के प्रकाशन का पहला ही रूप है। माता या दाई बालक को जबरन् मल या मूत्र छूने से रोकती है। पर इस प्रकार बालक के मन में एक गाँठ पड़ जाती है। इसलिए इस आदत को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को दूसरी वैसी ही वस्तुएँ खेलने के लिये दी जाँय। गीली मिट्टी और पानी के खेल इस दृष्टि से बड़े ही उपयोगी हैं। इन खेलों से बालक की मल-मूत्र को छूने की प्रवृत्ति का शोध हो जाता है।

जब बालक की इस प्रवृत्ति का दमन मात्र किया जाता है तो कभी-कभी बालक को दस्त न होने की बीमारी हो जाती है। हमें यह याद रखना आवश्यक है कि शिशुकाल में हम बालक के साधारण चेतन मन नहीं वरन् अचेतन मन से व्यवहार करते हैं। यह मन शारीरिक क्रियाओं को भी अपने काबू में रखता है। अतएव जब बालक को अपनी मनमानी नहीं करने दी जाती और न उसके प्रसन्न करने के लिए कोई दूसरा उपाय किया जाता है तो बालक का अचेतन मन उस वस्तु का त्याग ही न करे जिसके साथ उसे खेलने से रोका जाता है। बालक को रचनात्मक खेलों में लगाने से एक ओर उसकी मल-मूत्र छूने की इच्छा नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर उसे कोष्ठ-बद्धता की बीमारी नहीं होती।

गोदी में रहने की आदत

शिशुकाल की चौथी आदत गोदी में रहने की है। यह आदत सभी बालकों में पाई जाती है। बालकों को कुछ समय तक गोदी में लेना अच्छा भी है पर उन्हें सदा गोदी में लिये जाने की आदत डालना बुरा है। इससे बालक स्वावलम्बी नहीं हो पाता। प्रत्येक बालक को

अपने भावात्मक जीवन में, स्वावलम्बी होना आवश्यक है। जो बा
जितनी जल्दी स्वावलम्बी बन जाता है वह उतना ही अधिक अपने
स्वस्थ बना लेता है। बालकों को अधिक पुचकारना, चूमना, गोदी
लेना इस दृष्टि से बुरा है। कितने ही लोग अपने बालक को ए
खिलौना जैसा मान बैठते हैं। यह उनकी भारी भूल है। यह बालकों
के प्रति अन्याय करना है। इससे बालकों के व्यक्तित्व में बड़ी ह
पड़ जाती है। गोदी में रहनेवाला बालक जब कभी अलग कि
जाता है तो भारी दुःख का अनुभव करता है। वह जब इस प्रकार
अलग होता है तो बीमारी का आवाहन करने लगता है। वह सं
से अपनी सेवा ही कराना चाहता है। वह कोई मौलिक काम नहीं
करता; उसका आनन्द परावलम्बन का आनन्द है।

बालक की इस आदत को छुड़ाने के लिए यह आवश्यक है कि
समय-समय पर माता-पिता बरबस बालक को बाहर खेलने भेज दें और
उसकी परवाह न करें। बालक को कदापि यह जाहिर न होने दें कि वे
उसके लिये सदा चिन्तित रहते हैं।

खाना और रोना

शिशुकाल की पाँचवीं आदत बालकों का खाना और रोना है।
बालकों को सब समय खाने की आदत कदापि न डालनी चाहिये।
बालकों को खिलाने का, दूध पिलाने का समय निश्चित रहना चाहिये।
हर तीन घण्टे के बाद गोदी के शिशु को दूध पिलाना अच्छा है और
उससे बड़े शिशु को चार घण्टे के बाद ही भोजन देना चाहिए। इससे
बालकों का हाज़मा ठीक रहता है। साथ ही साथ उनकी जीभ संयम
में रहती है। जिन बालकों को समय पर खाने का अभ्यास नहीं कराया
जाता वे खाने की चीज़ अपने सामने देखकर अपने आपको रोक नहीं
सकते। संयम की पहली सीढ़ी भोजन में संयम है।

बालक के रोने से माता-पिता को हार न जाना चाहिए। यदि एक

ार माता बालक को रोते देखकर उसकी मनचाही करने लग जाती है
ः बालक को पीछे सँभालना कठिन हो जाता है। कितने ही बालक
ा को घर का कोई काम करने ही नहीं देते। वे सदा उसकी गोदी में
ना चाहते हैं। *माता-पिता को इस प्रकार बालक के वश में नहीं*
ना चाहिए। इससे बालक की अपने आप पर निर्भर होने की शक्ति
र जाती है और आत्मसंयम ठीक से नहीं होता। दूसरे स्वास्थ्य भी
गड़ जाता है।

बालक के रोने का उचित उपचार करना एक ऐसी जटिल समस्या
जैसे *अपराधी के सुधार की समस्या अथवा मानसिक रोगी के रोग के*
पचार की समस्या। रोते हुए बालक को चुप करने के लिए साधारणतः
से और पीटा जाता है। पीटने से बालक रोते हैं और जब उन्हें और
टा जाता है तो वे और भी रोते हैं। कई एक माता-पिता रोते हुए
ालक को इतना पीटते हैं कि फिर बालक और रो ही नहीं सकता।
स प्रकार बालक किसी तरह चुप कर दिया जाता है। परन्तु बालक
के इस प्रकार चुप किये जाने के बहुत ही बुरे परिणाम होते हैं।

बालक हठवश रोता है। यदि बालक हठ का पक्का है, तो वह
ीटे जाने से चुप नहीं होता, वह रोता ही जाता है। जब तक वह
बेहोश नहीं हो जाता रोता ही रहता है। इस प्रकार बालक अपने हठ
से अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों को हरा देता है। जब बालक
अधिक रोने लगता है तो रोने से चुप होना उसके वश की बात नहीं
रह जाती, उसमें विचारने की शक्ति नहीं रह जाती कि वह रोने से और
भी पीटा जायगा, *अतएव उसे चुप ही हो जाना चाहिये।*

बालक के रोने का उचित उपचार करने के लिये, बालक के रोने
का कारण जानना नितान्त आवश्यक है। कभी-कभी बालक किसी
इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये रोता है, और कभी-कभी वह माता-
पिता को केवल दुःखी करने के लिये रोता है। जब बालक केवल

इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये रोता है, तो उसे उस वस्तु को देकर चुप किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में बालक में कार्य के भले और बुरे परिणाम को सोचने की शक्ति रहती है। जब कोई बालक केवल अपने माता-पिता को दुःखी करने के रोता है, तो उसमें अपने कार्य के भले व बुरे परिणाम के सोचने शक्ति नहीं रह जाती, अतएव ऐसे बालक को पीटने से कोई लाभ होता। पीटने से बालक की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है और वह अपने कामों के ऊपर नियंत्रण नहीं रख पाता।

रोता हुआ बालक अपने मन में दुःखी होता है। वह रोकर दुःख को दूसरों के समक्ष प्रगट करता है। इस प्रकार अपना दुः व्यक्त करने से बालक अपने अभिभावक को भी दुखी बनाता है। प्रसन्न मन का बालक अपने माता-पिता और अभिभावक को अपनी उपस्थिति मात्र से प्रसन्न करता है। उसकी आन्तरिक इच्छा में दूसरों को प्रसन्न करने की होती है। वास्तव में प्रसन्नता अकेले उपभोग करने की वस्तु नहीं है। प्रसन्नता के लिये साथी की आवश्यकता होती है। जब हमारे साथी प्रसन्न मन के होते हैं तभी हमें भी वास्तविक प्रसन्नता होती है। छोटे बालक का आन्तरिक मन इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की सत्यता को भली प्रकार से जानता है। अतएव वह जब प्रसन्न रहता है तो अपने साथी बालकों और अपने अभिभावकों को भी प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। इस स्थिति के ठीक प्रतिकूल स्थिति दुःखी बालक की मानसिक स्थिति रहती है। जो बालक स्वयं दुःखी है, वह न अपने साथी को, न अपने अभिभावक को सुखी देखना चाहता है। रोता हुआ बालक दुःखी होता है। यदि उसमें सामर्थ्य होता तो वह लाठी से उन लोगों को पीटता जो उसको दुःखी बनाने में कारण हैं, परन्तु इस शक्ति के अभाव में वह अपने दुःख का प्रकाशन करके ही दूसरे लोगों को दुःखी बनाने की चेष्टा करता है। बालक

ालक का रोना माता-पिता को ताड़ना देने का एक साधन है। जो
ाता-पिता जितने ही अधिक बालक के इस प्रकार रोने से प्रभावित
ोते हैं उन्हें बालक का रोना उतनी ही अधिक जटिल समस्या बन
ाती है। कितने ही बालक अपने आप रोकर अपने माता-पिता को
ी अपनी ही मानसिक स्थिति में लाने में समर्थ होते हैं। वे अपने
ाता पिता या अभिभावक को उसी प्रकार क्रोध की मुद्रा में पहुँचा देते
हैं, जिस प्रकार की मानसिक अवस्था में वे स्वयं रहते हैं।

बालकों के रोने का एक उचित उपचार उसे इच्छित वस्तु के देने
का है। परन्तु बालक को हर समय इस प्रकार चुप नहीं किया जा
सकता, कई एक बालक ऐसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करते हैं जो
उनके अभिभावक उन्हें दे ही नहीं सकते। ऐसी अवस्था में साधा-
रणतः बदले की वस्तु दी जाती है। यदि कोई लड़की सिल्क के कपड़े
चाहती है, इन कपड़ों को खरीदना यदि अभिभावक के सामर्थ्य के
बाहर की बात हो तो उसे सूती कपड़े देकर शांत किया जा सकता
है। परंतु इस प्रकार रोते हुए बालक को हर समय चुप करना उसके
मानसिक विकास की दृष्टि से उचित नहीं। जब बालक समझ जाता है
कि रोने से उसको इच्छित वस्तु मिल जायगी तो वह जान बूझ कर
हठी बन जाता है। उसमें आत्म नियन्त्रण की योग्यता नहीं आती।
ऐसा बालक घर का लाड़ला बेटा बन जाता है। और फिर वह घर के
लोगों पर एकाधिकार चाहता है। वह घर का तानाशाह बन जाता
है। आगे चल कर ऐसा बालक बड़ा ही क्रूरकर्मा होता है और जिन
लोगों ने उसे बड़े लाड़-प्यार से पाला उन्हीं को आगे चल कर गाली-
गलौज करता एवं मारता-पीटता है। इस तरह हम देखते हैं कि बालक
की सभी इच्छाओं को तृप्त करके उसे रोने से चुप करना रोने का
उचित उपचार नहीं।

बालक के मानसिक विकास के लिये नितान्त आवश्यक है कि

उसमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आवे। और इस शक्ति का बीजारोपण बालक के शैशव काल ही में होता है इस शक्ति के प्रादुर्भाव के लिए यह आवश्यक है कि बालक की इच्छाएँ तुरंत ही पूरी न की जाएँ। उसकी माँगों को तुरंत पूरी न करके कुछ देरी के बाद पूरी करनी चाहिये। यदि बालक रोवे तो माता-पिता को बालक के रोने की परवाह न करनी चाहिये। बालक जितना ही जानेगा कि माता-पिता उसके रोने से प्रभावित होते हैं वह उतना ही इस अस्त्र का प्रयोग करेगा। यदि एक-दो बार बालक के रोने की पर्वाह न की गई तो बालक इस अस्त्र की निरर्थकता को समझ जायगा और फिर समझ-बूझ कर प्रयोग करेगा। जिन माता-पिता अथवा अभिभावकों के मन में संयम नहीं रहता अर्थात् जो स्वयं बाल बुद्धि के हैं वे बालकों के रोने से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। जिन माता-पिताओं का मन सुनियन्त्रित रहता है वे बालकों के रोने से तुरन्त ही उद्विग्नमन नहीं हो जाते। वास्तव में अपनी मानसिक जटिलता के कारण माता-पिता ही बालकों को जटिल बना देते हैं।

जब बालक रोने लगे और समझाने से न माने तो उसे रोने के लिये और नहीं पिटने लग जाना चाहिये। यह करना बालक के हठ के आगे सिर नवाना है, यह उसके वश में आ जाना है। रोता हुआ बालक इतना ही चाहता है कि यदि उसके अभिभावक उसे सुखी नहीं बना सकते तो उसे दुःखी ही बनायें। उसका भीतरी मन जानता है कि जब माता-पिता उसे पीटेंगे तो वे स्वयं भी दुखी होंगे। इसके कारण जैसे-जैसे बालक को को रोने के लिये पीटा जाता है वह और भी रोता है। यदि रोते बालक के प्रति उदासीन हो जाया जाय तो धीरे-धीरे वह चुप हो जायगा और फिर उसके रोने की आदत ही छूट जायगी। इस तरह न तो रोते हुए बालक की अत्यधिक खुशामद की जाय और न उसे अधिक छेड़ा जाय। बालक की अत्यधिक खुशामद करने से उसकी बातें

संख्या बढ़ती जाती है और उसे अधिक छेड़ने अथवा मारने-पीटने उनमें मानसिक जटिलता आती है।

रोते हुए बालक को भय दिखाकर अथवा मार-पीट कर चुप किया सकता है। कभी-कभी ऐसे बालकों को अफीम भी माताएँ खिला ती हैं। इस तरह माताएँ अपने काम में लगी रहती हैं और बच्चे फीम के नशे में सोते रहते हैं। बहुत-सी दाइयाँ भूत-प्रेत अथवा यानक जानवरों का किस्सा कहकर और उनका भय दिखाकर चुप रती हैं। भारतवर्ष में बालकों को चुप करने के उक्त सभी उपाय चलित हैं और हमारे देश की अशिक्षित माताएँ और मूर्ख दाइयाँ न्हें सदा काम में लाती रहती हैं। इस प्रकार के कार्यों के दुष्परिणाम कितने भारी होते हैं उसका अन्दाज लगाना कठिन है। जिस प्रकार फीम के नशे से बालक के मस्तिष्क के कोमल स्नायु दुर्बल हो जाते और बालक का इस तरह मस्तिष्क इस प्रकार जीवन भर के लिये वेकृत हो जाता है उसी तरह भूत-प्रेत और भयानक जानवरों के य बालक के भावों को सब समय के लिये विकृत कर देते हैं। ऐसे ालकों में अपनी प्रौढ़ अवस्था में किसी प्रकार का कठिनाई का सामना करने की क्षमता नहीं रहती।

कभी-कभी बालक का रोना उसके वश की बात नहीं रहती। उसका विवेक नष्ट हो जाता है और उसका रोना एक सहज क्रिया के समान अनायास होनेवाली वस्तु हो जाया करती है। ऐसी अवस्था में बालक को डाँट-डपट कर चुप करने की चेष्टा करने का बड़ा घातक परिणाम होता है। इससे बालक को मूर्छा चलित स्वप्न आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे बालकों को अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी होते रहते हैं। अधिक पीटे जानेवाले बालक प्रायः रात में बिस्तर पर पेशाब भी करते हैं और जितना ही उन्हें इस काम के लिये पीटा जाता है उतना ही उनकी बिस्तर पर पेशाब करने की आदत और भी पक्की

होती जाती है। कितने ही बालक दिन को पीटे जाने के कार को नींद में ही उठ कर रोने लगते हैं और सब प्रकार के चुप क यत्न करने पर भी वे चुप नहीं होते। इस तरह हम देखते हैं कि बालक को रोने से रोकने के परिणामस्वरूप बालक को अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोग हो जाते हैं।

ऊपर हमने बालक का रोना रोकने के अनुचित उपायों को है। इच्छित वस्तु को तुरन्त दे देना, डरा कर चुप करना, और डाँट डपट कर चुप करना ये सभी उपाय समय-समय पर काम में लाया करते हैं परन्तु ये सब उपाय मनोवैज्ञानिक अनुचित हैं। बालक को रोने से रोकने के सर्वोत्तम उपाय उसके को एक ओर से हटा कर दूसरी ओर लगा देना है। अतिरिक्त को रचनात्मक काम में लगाने से उसके रोने का स्थायी उपचार है। किसी छोटे बालक को उसके खेल से रोकना नहीं चाहिये। पाँच वर्ष तक के बच्चों के लिये गीली मिट्टी, धूल और पानी से खेल बड़ा ही लाभदायक होता है। जो बालक रचनात्मक काम में रहता है उसे रोने की फुरसत ही नहीं रहती। यदि ऐसा बालक बार रोना प्रारम्भ ही करे तो अपने साथ खेलनेवाले बालकों को कर वह चुप हो जायगा और खेलने लग जायगा। एक दिन लेखक मित्र का एक छः वर्ष का बालक बड़ी देर से रो रहा था। चुप करने पर भी चुप नहीं होता था। जब उसके माता पिता चुप करने के प्रयत्न में हार चुके थे तब लेखक की उसी उम्र की उसके पास गयी और उसे मिट्टी (घर बनाना) के खेल के लिये बुला ले गयी। वह बालक अब रोने से चुप हो गया और जिस बात के लिये वह रो रहा था उसे भी शीघ्र वह भूल गया। धीरे-धीरे बालक का आत्मविश्वास बढ़ता जाता है और उसमें आत्माभिमान का ना है वह व्यर्थ नहीं रोता और न किसी बात के लिये हठ ही करता

। ऐसा बालक न केवल अपने आप सुखी रहता है वरन् दूसरों को सुखी बनाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि बालक के रोने का उचित उपचार उसे नात्मक काम में सदा लगाये रहना ही है। रोने का सामयिक उपचार ते हुए बालक का ध्यान किसी नयी वस्तु पर लगा देना है। जिससे वह उस परिस्थिति को ही भूल जाय जिससे कि उसका रोना प्रारम्भ आ। जहाँ यह करना सम्भव न हो वहाँ बालक के रोने के विषय कोई विशेष प्रकार की चिन्ता न दिखाने में ही बुद्धिमानी है। बालक रोने से माता पिता वास्तव में कितने ही परेशान क्यों न हों उन्हें नी मुखाकृति अथवा अपने आचरण से कभी भी अपनी मानसिक विग्नता को प्रगट न होने देना चाहिये। बालकों को रोने के लिये तो कना कभी भी नहीं चाहिये। बालकों के रोने के प्रति उदासीनता का व दिखाना साधारण रोने की परिस्थिति में बुद्धिमानी समझी जाती है।

हठ करने की आदत

शिशुकाल की एक जटिल आदत हठ करने की आदत है। यह आदत प्रत्येक बालक में पाई जाती है। बालक के हठ के सामने सभी ड़े लोगों को कभी न कभी सिर झुकाना पड़ता है। जिस प्रकार चींटे ी पकड़ बड़ी मजबूत होती है उसी तरह बालक का हठ बड़ा प्रबल होता है। कभी उसकी हठ के सामने झुक कर और कभी उदासीन रह कर उसकी इस कुटेव को दूर किया जा सकता है।

मेरे एक मित्र ने अपने बालक के हठ का वृत्तान्त सुनाया। उनका बच्चा ढाई वर्ष का है। वह जिस बात के लिये एक बार कहता है उसे करा कर ही रहता है। यदि माँ को रसोई बनाना है और बालक उसे रसोई बनाने जाने नहीं देता तो वह उसे ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर माँ को अपने पास रहने के लिये बाध्य कर देता है। वह कहता है रसोई

बनाने मत जाओ, और जब उसकी बात सुनी नहीं जाती तो वह लोट पोट हो जाता है। वह इतना रोता है कि माता को उसके पास ... के लिए विवश हो जाना पड़ता है।

इसी प्रकार मेरे एक दूसरे मित्र का बालक भी अपनी प्रत्येक ... के लिए जिद्द करता है। जब वह किसी बात के लिये रोने लगता है वह घंटों रोता ही रहता है। जब तक उसकी इच्छा पूरी नहीं हो जाती वह अपना हठ नहीं छोड़ता। इस बालक की उमर आठ साल की है। यह इस समय पाँचवें क्लास में पढ़ता है और अपनी कक्षा में ... रहता है। इस बालक का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता। पहले उसको क्रमि की बीमारी थी। यह मिठाई बहुत खाता है।

इन दो बालकों में सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक हठ करने की आदत पाई जाती है। इन बालकों के घर के वातावरण और माता-पिता के उनके प्रति रुख का अध्ययन करने से बड़े महत्व की बातें पता चला। पहले मित्र के बालक के पैदा होने के पूर्व उनका एक बालक मर गया था। इसके कारण माता को भारी शोक हो गया था। माता को संसार का कोई काम अच्छा नहीं लगता था। जब से यह बालक पैदा हुआ उसके जीवन में एक नया आनन्द आ गया। इसी तरह दूसरे मित्र के बालक के विषय में भी खोज करने से पता चला कि उनके भी दो बच्चे मर चुके थे। यह उनके घर का दूसरा ही जीवित लड़का है। उस बालक के बाद भी जो लड़के पैदा हुए वे सभी मर गये। इस बालक की नाक छेदी गई है। उसे आठ साल की अवस्था में ही नाक में बाली पहनाई जाती है। दोनों बालकों के विषय में एक ही-सी स्थिति पाई जाती है। दोनों बालक माता के विशेष तरह से प्यारे हैं। बालक का अज्ञात मन अपने सम्बन्धियों का उसके प्रति वास्तविक भाव को भली भाँति से जानता है। इसके लिये बालक में भाषा विकास अथवा सोचने की शक्ति के विकास होने की आवश्यकता

नहीं होती। बालक का माता के हृदय पर अधिकार रहता है और वह उस अधिकार को सुरक्षित रखना चाहता है।

पिता को चिन्ता रहती है कि कहीं बालक बिगड़ न जाय। पर इस प्रकार की चिन्ता माता को नहीं रहती। मेरे दूसरे मित्र की पत्नी को दूसरे प्रकार की चिन्ता रहती है। वे जब भी बालक के प्रति सख्ती करते हैं अथवा उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं करते और उसे रोने देते हैं तो वह कहती है कि बालक को इस प्रकार रोने देना उचित नहीं है। इससे बालक मर जायेगा। जो माता-पिता बालक की भावनाओं का आदर नहीं करते उनके बालक जीवित नहीं रहते—ऐसी पत्नी की धारणा है।

जब पति-पत्नी की बालक के प्रति रुख में विषमता रहती है तो सचमुच में बालक में जटिलता उत्पन्न होने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में बालक स्वभाव से हठीला हो जाता है। बालक का हठ एक प्रकार की आदत है। इस आदत का आधार माता के हृदय पर अधिकार है। बालक के अचेतन मन को इस अधिकार का ज्ञान रहता है। जब बालक की इच्छायें बार-बार पूरी की जाती हैं तो उसे अपने हठ में कामयाबी प्राप्त करने की आदत पड़ जाती है। जब बालक के हठ करने की आदत एक बार दृढ़ हो जाती है और फिर हम उसके साथ कठोरता का व्यवहार हठ तोड़ने के लिए करते हैं तो बालक की भारी हानि करते हैं। ऐसी अवस्था में बालक बीमारी का सहारा लेता है बीमार बालक के विषय में सभी माता-पिता चिन्तित हो जाते हैं। बीमार बनकर बालक अपना प्रभुत्व फिर से जमा लेता है।

बालक के हठ को मिटाने का सरल उपाय बालक को रचनात्मक काम में लगाना है। बालक के हठ को जितना माता-पिता नहीं तोड़ सकते उतना उसकी उमर के बालक तोड़ सकते हैं। एक बार मेरे मित्र का बालक नये कपड़े के लिये रो रहा था। वह जब बहुत देर तक रो

चुका और जब मैंने समझा कि वह और देर तक रोता ही रहे मेरे मित्र उसे नये कपड़े नहीं देंगे तो मैं उसके पास गया और उठाकर अपने घर ले आया। वहाँ उसके स्कूल के बारे में पू होने लगी। कुछ देर बाद लेखक की लड़की आई और वे दोनों मि खेलने लगे।

इस तरह जब दूसरे दिन भी वह बालक रो रहा था, तब लेखक की लड़की जो उससे एक वर्ष छोटी है गई और उसे अपने साथ खे के लिए बुला लाई। वह खेल खेलने लगा और अपना रोना भू गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि बालक का रोना माता को पसंद था। वह बालक की इच्छापूर्ति करके भी बालक को चुप कर चाहती थी।

बालक के हठ के विषय में पहले से ही सतर्क रहना आवश्यक है। बालक जब दो महीने का रहता है तभी से उसमें जिद करने की प्रवृ का उपचार करना चाहिये। जब कभी वह रोवे, उसे उठा लेना चाहिये। बालक यह समझ जाय कि उसकी इच्छा के अनुसार बड़े लोग कोई काम नहीं करते किन्तु वे उसकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

बारहवाँ प्रकरण

बड़े बालकों की जटिल आदतें

पिछले प्रकरण में छोटे बच्चों की आदतों पर प्रकाश डाला गया है। छोटे बालक की आदतें प्रायः उसके व्यक्तिगत जीवन से ही संबंधित रहती हैं। उनका सामाजिक महत्त्व अधिक नहीं होता। बड़े बालक में सामाजिक भावनाएँ जाग्रत् होने लगती हैं, अब उसकी अनेक आदतों का सम्बन्ध उसके सामाजिक जीवन से रहता है, और उनके परिणामों का भी सामाजिक महत्त्व होता है। कुछ आदतें अवश्य ऐसी होती हैं जिनका बुरा परिणाम व्यक्ति तक ही सीमित रहता है। बड़े बच्चों की कुछ जटिल आदतें यहाँ उल्लेखनीय हैं जिन्हें प्रत्येक शिक्षक और माता-पिता को सुधारना आवश्यक है—

(१) चोरी करना, (२) झूठ बोलना, (३) चुगली करना, (४) निन्दा करना, (५) गाली देना, गाली लिखना, (६) छोटे बच्चों को पीटना, (७) डींग मारना, (८) काम से जी चुराना, (९) घर से भागना, (१०) सिगरेट पीना, (११) मनोराज्य में विचरण करना, आदि।

उपर्युक्त आदतों के भिन्न-भिन्न कारण होते हुए भी कुछ सामान्य कारण हैं। इनको जानना इन आदतों के सुधार के लिए आवश्यक है—

(१) माता-पिता का अशिक्षित अथवा जटिल होना, (२) बड़ों का दुराचरण, (३) माता-पिता का आपस का सम्बन्ध, (४) माता-पिता का विशेष बालक के प्रति रुख—लाड़, ताड़ना और उपेक्षा,

(५) रचनात्मक काम की कमी, (६) अकेले रहने की आदत (७) आदर्शों का अभाव।

माता-पिता की अशिक्षा

बालकों में बहुत-सी आदतें माता-पिता की अशिक्षा के कारण पैदा हो जाती हैं। शिक्षा की कमी के कारण वे बालक के साथ उचित व्यवहार नहीं करते। जब बालक रोता है तब वे परेशान हो जाते हैं। बालक पर बार-बार क्रुद्ध होते हैं और कभी-कभी तो बहुत मारपीट देते हैं। कोई-कोई अशिक्षित माता-पिता बालक को अधिक लाड़ करते हैं, इस कारण उसको मनमानी करने देते हैं। इसलिए उसकी पाशविक प्रवृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। बालकों में जटिलता तथा पाशविकता की वृद्धि माता-पिता की शिक्षा की कमी के कारण हो जाती है।

माता-पिता की जटिलता बुरी आदतों के पड़ने में उनकी अशिक्षा से भी अधिक कारण होती है। नील महाशय का कथन है कि जटिल माता-पिता के बालक भी जटिल होते हैं। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है। जो बातें माता-पिता स्वयं अपने जीवन में प्राप्त नहीं कर पाये वे उन बातों को बालकों से प्राप्त कराना चाहते हैं। जटिल माता-पिताओं को अपने बालकों के चरित्र की कमी सही नहीं जाती। उनमें बालकों को नैतिक शिक्षा देने की आदत रहती है और बालक, चाहे जितना अच्छा कार्य क्यों न करें, सदा उनके कामों की नुकाचीनी किया करते हैं। बालकों को उनके कामों में वे प्रोत्साहित न करके उन्हें सदा हतोत्साह किया करते हैं। इस प्रकार जो चरित्र के दोष माता-पिता में होते हैं वे बालकों में अनायास आ जाते हैं। बालकों की अधिक नुकाचीनी करने से उनका आत्मविश्वास टूट जाता है और उनका आत्मसम्मान खो जाता है। ऐसी स्थिति में वे अपने चरित्र के दोषों को अपने-आप नहीं सुधार पाते। जटिल माता-पिता बालकों को

अधिक ताड़ना भी देते हैं। इसके कारण बालकों के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो उनकी बहुत-सी बुरी आदतों का कारण बन जाती हैं।

बड़ों का दुराचरण

बालक में बहुत-सी बुरी आदतें दूसरों के अनुकरण से पड़ जाती हैं। यदि माता-पिता स्वयं झूठ बोलते, डींग मारते, दूसरों की निन्दा करते, काम से जी चुराते तथा सिगरेट पीते और नशा करते हैं तो वे कैसे आशा कर सकते हैं कि बालक भी ऐसा ही न करेगा? जैसा बड़े लोग करते हैं वैसा ही काम करने की प्रवृत्ति बालकों की होती है। बालक बड़े लोगों से उनके सद्गुण देर में ग्रहण करता है क्योंकि इसके लिए इच्छा शक्ति की दृढ़ता की आवश्यकता है, वह उनके दुर्गुण शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है। दुर्गुणों का ग्रहण करना मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल है। जिस प्रकार ऊपर से नीचे की ओर पानी सरलता से बह जाता है उसी तरह मनुष्य की बुरी आदतों की ओर प्रवृत्ति होती है। चारित्रिक गुण बड़ी कठिनाई से आते हैं; इनके लिए विचार की परिपक्वता और इच्छाशक्ति की दृढ़ता आवश्यक है।

यदि माता-पिता में कोई बुरी आदत होती है और वे उन्हीं आदतों के लिए अपने बच्चों को पीटते हैं तो वे उनकी आदतों को और जटिल बना देते हैं। जब कोई पिता स्वयं सिगरेट पीता है और वह इसी आदत के लिए अपने लड़के को पीटता है तब वह बालक की इस आदत को और जटिल बना देता है। वह उसमें झूठ बोलने और चोरी करने की भी लत डाल देता है।

माता-पिता का आपस का सम्बन्ध

बालकों में अच्छी आदतें नैतिक विचार के विकास के साथ-साथ बनती हैं। यह नैतिक विचार बालक माता-पिता से प्राप्त करता है।

जो माता-पिता आपस में झगड़ा करते रहते हैं तथा जो एक-दूसरे की निन्दा किया करते हैं वे बालकों में नैतिकता का विकास होने में रुकावट डालते हैं। मनुष्य दूसरे लोगों की बुराइयाँ अपने-आप ले लेता है, पर उनके गुण लेने के लिए उसे बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। माता-पिता की बुराइयाँ तो बालक में अपने-आप ही चली आती हैं, पर उनके गुण लाने के लिए बालक के हृदय पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। प्रेम के कारण माता का बालक के हृदय पर पिता की अपेक्षा अधिक प्रभाव होता है, अतएव वह अधिकतर माता के नैतिक गुणों को ले लेता है। माता की अपेक्षा पिता में बालक में नैतिकता लाने की अधिक प्रवृत्ति होती है; पर जब माता का पिता के प्रति आदर का भाव नहीं रहता और जब उनमें झगड़ा होता रहता है तब बालक के हृदय में पिता के कहने का कोई अच्छा परिणाम नहीं होता। देखा गया है कि माता का अधिक प्यार लड़के के ऊपर और पिता का लड़की के ऊपर होता है। जब माता-पिता में झगड़ा होता रहता है तब बालकों की श्रद्धा उनपर नहीं रहती और जो बात एक के प्रयत्न से आती है उसका विनाश दूसरा कर डालता है।

जिन माता-पिताओं में आपस में झगड़ा होता रहता है उनके बालकों का मन सदा दुखी रहता है। इस दुःख को भुलाने के लिए बालक अनेक प्रकार की बुरी आदतों का सहारा लेता है। सिगरेट पीना, घर से भागना, गप्पें लगाना, काम-क्रीड़ा में लगना आदि आदतें बालक के मानसिक दुःख के कारण उसमें पड़ जाती हैं।

विशेष बालक के प्रति रुख

बालकों की बहुत-सी बुरी आदतों की जड़ माता-पिता के किसी विशेष बालक के प्रति अधिक लाड़, उपेक्षा अथवा ताड़ना में होती है। ... में दो-तीन बालक होने पर उनके साथ न्याय का बर्ताव करने ... बड़ी आवश्यकता होती है। मूर्ख माता-पिता अपने किसी

बालकों के प्रति उचित व्यवहार नहीं रख पाते। जब कोई माता अथवा पिता किसी विशेष बालक को दूसरों की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगता है तब दूसरे बालक उसके ईर्ष्यालु हो जाते हैं। इसके कारण बालक में आत्महीनता की भावना आ जाती है। जब यह गाँठ का रूप धारण कर लेती है तब बालक में अनेक बुरी आदतों का कारण बन जाती है। चुगली करना, निन्दा करना, झूठ बोलना, छोटे बालकों को पीटने आदि की आदतें इसी कारण पड़ जाती हैं। माता-पिता छोटे बालक को बड़े बालक की अपेक्षा अधिक प्यार करते हैं। वे अपने प्यार को प्रत्यक्ष रूप से भी दिखाते हैं। इससे बड़े बालक के मन में बड़ी डाह उत्पन्न होती है। वह किसी न किसी प्रकार छोटे बालक को दुःख देना चाहता है। उसे जब कभी मौका मिलता है, उसे पीट देता है। हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब कोई नया बालक घर में आता है तब बड़े बालक के लिए एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। यह नया बालक बड़े बालक के प्रेम में बँटवारा करता है। इस कारण भी उसे छोटे बालक के प्रति ईर्ष्या होती है। जब तक बड़े बालक को यह सिद्ध न हो जाय कि छोटा बालक उसके किसी काम का है उसे उसके प्रति प्रेम होना अस्वाभाविक है। प्रत्येक बालक जन्म से स्वार्थी होता है। उसमें उदारता के भाव धीरे-धीरे आते हैं। जो माता पिता मार पीटकर बालक को उदार और सदाचारी बनाना चाहते हैं वे उसे उदार न बनाकर स्वार्थी और दुराचारी ही बनाने में सहायक होते हैं।

लेखक के मित्र के दो बालकों में सदा अनबन होती रहती थी। बड़ा बालक जो कि चार वर्ष का था, छोटे बालक को जब कभी अवसर पाता था पीट देता था। वह सदा यह पूछा करता था कि यह बालक कब मर जायगा। बड़े बालक के अपने छोटे भाई के प्रति इस प्रकार के व्यवहार को सुधारने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया गया,

पर उसका परिणाम कुछ भी न हुआ। जितना ही बड़ा भाई
छोटे भाई को तंग करने, मारने और पीटने के लिए डाँटा-डपटा
था, उसकी क्रूरता और भी बढ़ती जाती थी। इस मित्र ने बाल-
विज्ञान के अध्ययन के पश्चात् अपनी पत्नी को बड़े बालक के
व्यवहार बदलने की सलाह दी। अब जब कभी कोई चीज देनी
थी सो तो माता पहले बड़े बालक को बुलाती और उसे पहले देकर
छोटे को देती। कभी-कभी वह सब चीजें बड़े बालक को देकर
बाँटने के लिए कहती। अपने अनेक प्रकार के व्यवहार से माता
बड़े बालक के मन में यह विश्वास डाल दिया कि वह बड़े बालक
ही अधिक प्यार करती है। पिता ने भी वैसा ही किया। अब
भाई का छोटे भाई के प्रति रुख बदल गया। पहले वह उसे अपने साथ
कभी भी नहीं खिलाता था, पर अब उसे अवश्य बुला लेता था। उसे
अपने साथ बाहर घूमने ले जाता और यदि कोई दूसरा बालक उसे
मारता तो वह उसकी रक्षा करने की चेष्टा करता था। बालक अपना
उचित स्थान घर में प्राप्त कर लेता है तभी वह किसी दूसरे बालक को
प्यार करता है और तभी वह उससे भला व्यवहार करता है।

जो बात घर में होती है वही स्कूल में होती है। जो शिक्षक किसी
विशेष बालक को अधिक प्यार करता है वह दूसरे बालक को उससे
ईर्ष्यालु बना देता है। इस प्रकार के व्यवहार से बालकों में चुगली
करने, निन्दा करने और छोटे बालक को मारने-पीटने की आदत अपने-
आप उत्पन्न हो जाती है। किसी विशेष बालक को अधिक लाड़ दर्शाने
से उसका भी कल्याण नहीं होता। वह आत्मनिर्भरता प्राप्त नहीं कर
पाता। जिस बालक को प्यार अधिक किया जाता है वह अपनी सभी
कठिनाइयों को हल कराने के लिए बड़ों के पास दौड़ जाता है। वह
दूसरे बालकों के साथ भी उचित व्यवहार नहीं कर सकता। उसके
मन में सदा बड़ों से सहायता प्राप्त करने की आशा रहती है, अतएव

जैसा कि उचित व्यवहार उसकी उमर और योग्यता के बालक को दूसरों के प्रति करना चाहिये वह नहीं करता। इस तरह बालक को लाड़ करने में हम उसे अपने पैर पर खड़ा होने से रोकते हैं। बालकों की शिकायतें सुनकर हम उनकी शिकायत करने की प्रवृत्ति को दृढ़ कर देते हैं।

दण्ड का प्रभाव

लाड़ से बालक बिगड़ता है, उससे भी अधिक बालक ताड़ना से बिगड़ता है। बालक को जब कभी ऐसा दंड दिया जाता है जिसके न्यायसंगत होने पर उसे विश्वास नहीं है तब वह दण्ड बालक के चरित्र में कोई सुधार न कर और अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न कर देता है। जब पिता किसी बुरे काम के लिए बालक को पीटता है और माता उस बालक का पक्ष लेती है तब बालक इस प्रकार के दण्ड से सुधरने की अपेक्षा बिगड़ जाता है। बालक को यह जानना आवश्यक है कि उसे दण्ड क्यों दिया जाता है। जिन बालकों को हर समय बात-बात के लिए दण्ड दिया जाता है उन्हें मार खाने या डाँटे जाने की आदत-सी पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में वह जिस काम के लिए डाँटा या पीटा जाता है वह उसे छिपकर करने लगता है और उसे छिपा रखने के लिए झूठ भी बोलता है। अधिक मारने-पीटने से बालक की साधारण आदतें जटिल बन जाती हैं। अधिक डाँटने-पीटने का दो प्रकार का परिणाम होता है—एक तो बालक का अपने आप पर से आत्मविश्वास हट जाता है, दूसरे वह शासक का मन से शत्रु बन जाता है। दोनों ही बालक के चरित्रगठन में बाधक होते हैं। बालक का उसकी बुराइयों के प्रति बार बार ध्यान आकृष्ट करने से वह जान लेता है कि वह बिलकुल निकम्मा है, उसके सुधरने का कोई उपाय नहीं। ऐसी स्थिति में वह अपने को सुधारने का कोई प्रयत्न भी नहीं करता। अभिभावक-गण बालक में सद्‌गुणों का विकास उसका आत्मविश्वास बढ़ाकर ही

कर सकते हैं। इसके लिए उसकी प्रशंसा करना उतना ही आवश्यक है जितना कि डाँटना-डपटना। यदि बालक डाँटनेवाले व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखता है तो उसके चरित्र के लिए अधिक नुकसान होता है, क्योंकि इससे वह आत्मयंत्रणा का भी अनुभव करता है, और इसके कारण उसके आत्मविश्वास में कमी हो जाती है। साधारणतः बालगण ताड़ना देनेवाले व्यक्ति को मन से शत्रुभाव से देखते हैं। ऐसी स्थिति में वे उसके मारने पीटने की परवाह नहीं करते। कभी कभी वे जिस काम के लिये पीटे जाते हैं वे उसी काम को बार बार करते हैं। बालक को समझा-बुझाकर, उन्हें प्रोत्साहित करके ही उनकी बुरी आदतों से उन्हें मुक्त किया जा सकता है।

रचनात्मक काम की कमी

बालकों में अनेक बुरी आदतें रचनात्मक काम की कमी के कारण उत्पन्न होती हैं। जो बालक सदा किसी अच्छे काम में लगा हुआ है उसकी बुरी आदतें अपने आप ही सुधर जाती हैं। रचनात्मक कार्य मनुष्य में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न करता है। बालकों की अनेक बुरी आदतों का कारण आत्मविश्वास का अभाव होता है। आत्महीनता की भावना ही चुगली करना, गाली देना, निंदा करना, डींग मारना, छोटे बच्चों को पीटना, सिगरेट पीना, द्वेष रखना आदि आदतों का कारण होती है। इन सब आदतों का अन्त आत्मविश्वास की वृद्धि से हो जाता है।

शिक्षक साधारणतः बालकों की बुरी आदतों को सुधारने के लिये नकारात्मक उपायों से काम लेते हैं। उन्हें बुरे काम करने के लिए दण्ड देते हैं। पर इस तरह उनकी मानसिक शक्ति प्रवाहित होने से रुक जाती है, उसका सदुपयोग नहीं होता। बालकों की बुरी आदतों को [illegible]ने के लिए उनकी शक्ति को उचित मार्ग में लगाना उतना ही [illegible] है जितना उन्हें बुरे मार्गों में जाने से रोकना। रचनात्मक

कार्यों की उपयोगिता इसीलिए है। रचनात्मक कार्यों में बालक को जो आनन्द मिलता है वह बुरी आदतों के द्वारा मिले आनंद से कहीं श्रेष्ठ होता है। सभी आदतों का आधार सुख की अनुभूति होती है। बालक की बुरी आदत को छुड़ाने के लिए बुरी आदत के साथ सुख के बदले दुःख की अनुभूति कराना मात्र पर्याप्त नहीं, बालक को ऐसे मार्ग पर लगाना भी आवश्यक है जिससे वह उचकोटि का सुख प्राप्त कर सके।

अकेले रहने की आदत

बालक ही बालक का सबसे अच्छा शिक्षक है। जितनी भली बातें बालकगण एक दूसरे से सीखते हैं वे दूसरे प्रकार नहीं सिखायी जा सकतीं। बालक दूसरे बालकों से बहुत सी बुरी बातें भी सीखते हैं, पर उनकी संख्या भली बातों की अपेक्षा कहीं थोड़ी है। जो बालक दूसरे बालकों से मिलता-जुलता है और जो उनका प्यार प्राप्त किये है वह बहुत-सी बुरी आदतों को अपने-आप छोड़ देता है। माता-पिता के डाँटने-डपटने की अपेक्षा अपने साथ के बालकों का आदर खो देने की परवाह बालक को अधिक रहती है। यदि किसी बुरी आदत के लिए उसकी कक्षा के बालकों में निन्दा होने की संभावना है तो वह उस आदत को शीघ्रता से छोड़ देगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हम बालक को उसकी उम्र के बालकों के सामने कभी भी अपमानित न करें। उसके दुर्गुणों को न तो दूसरे बालकों के समक्ष प्रकाशित करना अच्छा है और न उसे सबके सामने डाँटना-डपटना अथवा पीटना अच्छा है। जो बालक दूसरे बालकों के सामने डाँटा-डपटा जाता है वह अकेले रहने की आदत अपने-आप में डाल लेता है। इसका बहुत बुरा परिणाम होता है।

अकेले रहनेवाला बालक मन-ही-मन घुलता रहता है। उसे दूसरे बालकों की खुशी में भाग लेने, अपने कामों में उनके द्वारा प्रोत्साहित होने का अवसर नहीं मिलता। इसके कारण एक ओर उसकी मानसिक

ग्रंथियाँ जटिल हो जाती हैं और वह प्रायः अपने आपको कोसा करता है और दूसरी ओर अपने दोषों से मुक्त होने में समर्थ नहीं होता। कभी कभी अकेले रहनेवाला बालक बड़ा घमण्डी हो जाता है। वह दूसरे बालकों को अपने से नीचे स्तर का मानने लगता है। पर यह उसकी आत्महीनता की ग्रन्थि की प्रतिक्रिया मात्र है। अकेले रहनेवाले बालक में प्रायः दूसरों की नुक्ताचीनी करने की आदत अधिक रहती है, पर वह दूसरों के द्वारा अपनी नुक्ताचीनी को सह नहीं सकता। वह जो कुछ करे वह आदर्श हो—यह उसकी इच्छा होती है। पर ऐसा क्रियात्मक नहीं होता। वह इस प्रकार के विचार के द्वारा व्यवहार काम करने से पिण्ड छुड़ा लेता है।

बालकों को स्वस्थ मन का बनाने के लिए उन्हें दूसरे बालकों से मिलने का अवसर हर वक्त देते रहना चाहिये। कभी-कभी उन्हें जान बूझकर दूसरे बालकों की सोहबत में डालना चाहिये। बालकों से मिलते-जुलते रहने से बालक के हृदय में जो प्रेम का स्रोत बहता रहता है वही उसके हृदय को शुद्ध करता और उसकी बुरी आदतों को दूर कर देता है।

उच्च आदर्शों का अभाव

रचनात्मक काम और सामाजिक जीवन की कमी उच्च आदर्शों के अभाव की सूचक है। जब बालकों के आदर्श उच्च हो जाते हैं तब उसकी बुरी आदतें देर तक नहीं ठहरतीं। इन आदर्शों के बनने में माता-पिता तथा शिक्षक का जितना हाथ रहता है उससे कहीं अधिक अपने साथी बालकों का हाथ रहता है। बालकों में उच्च आदर्श बरबस नहीं डाले जा सकते, आदर्शों का विकास धीरे-धीरे होता है। सचाई, उदारता, परसेवा, काम में लगन आदि बातें एकाएक बालक में नहीं आतीं। इसके लिए समय और अनुभव की आवश्यकता होती है। जो अभिभावक तथा शिक्षक इस काम में उतावलापन दिखाते

वे बालक के व्यक्तित्व को नष्ट कर देते हैं। वे उनमें कुछ भली आदतें डालने में भले ही समर्थ हों, उनमें वास्तविक मानसिक दृढ़ता नहीं ला पाते, जो सभी भली आदतों की भित्ति है। जान स्टुअर्ट मिल का यह कथन कि दृढ़ इच्छावाले माता-पिताओं की सन्तान, कमजोर मन की होती है, मनोवैज्ञानिक सत्य से भरा हुआ है। जो माता-पिता अपने निश्चय पर डटे रहते हैं और बालकों से बरबस जैसा वे चाहते, कराते हैं, वे उनकी इच्छा-शक्ति को कमजोर कर देते हैं। कठोर शासन में रहनेवाले बालक दूसरों के कहने पर चलना सीख जाते हैं, पर उन्हें अपने निर्णय में विश्वास नहीं रहता। वे अनुशासन में चलने के आदी बन जाते हैं, आत्म-स्फूर्ति से कुछ भी नहीं कर सकते। जो माता-पिता अपनी संतान में मानसिक दृढ़ता लाना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी सन्तान की कमजोरियों को दूर करने में बड़ी सावधानी से काम लें और उनसे परेशान न हो जायँ।

बालकों के चरित्र में आदर्शवादिता के विकसित होने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों के समक्ष ऐसे आदर्श रखे जायँ जिन पर कि बालक अभ्यास कर सके। जो बालक ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की कल्पना करते हैं पर उनके अनुसार आचरण नहीं करते उनमें निकम्मे रहने तथा मनोराज्य में विचरण करने की आदत पड़ जाती है। ऐसे बालक में निराशावादिता और निकम्मापन आ जाते हैं। ये दिवा-स्वप्न भी बुरी आदत को सुधारने में सहायक न होकर चरित्र का और भी विनाश कर डालते हैं। निकम्मे लोग अपने आपको ही कोसा करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनका मन कमजोर हो जाता है और उनमें कोई भी बुरी आदत आ जाती है। अनुपयुक्त आदर्श चरित्र के बनाने में सहायक न होकर उसके विकास में बाधक होता है।

तेरहवाँ प्रकरण

चोरी करने की आदत

पिछले प्रकरण में हमने बुरी आदतों के कारणों पर विचार कि[illegible] है। अब हम यहाँ कुछ सामान्य आदतों को लेकर उनका विश्लेष[illegible] करेंगे और उनसे मुक्त होने के मनोवैज्ञानिक उपाय पर विचार करेंगे। इस प्रकार हम बालकों को बुरी आदतों से मुक्त करने में मौलिक स[illegible]यता पहुँचा सकेंगे।

बालकों की एक सामान्य बुरी आदत चोरी करने की आदत है। चोरी की आदत की गणना अपराध की मनोवृत्ति में होती है। चोरी की आदत के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) जन्मजात मानसिक कमजोरी।
(२) इच्छा की प्रबलता।
(३) ईर्ष्या।
(४) संगियों का प्रभाव।
(५) आत्महीनता का प्रभाव।
(६) कामवासना का दमन।
(७) बहादुरी के प्रदर्शन की इच्छा।

इन कारणों पर एक-एक करके विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

जन्मजात मानसिक कमजोरी

चोरी की आदत का एक कारण जन्मजात मानसिक कमजोरी है। जेलखानों और रिफार्मेटरी के अनेक अपराधियों की बुद्धि की परीक्षा करके देखा गया है कि ६० या ७० की तरी [illegible] बुद्धि में

निर्बल हैं। विरला ही प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति अपराधियों की गणना में आता है। टरमेन महाशय ने अपने बुद्धिमापक परीक्षा की पुस्तक में कई ऐसी खोजों का उल्लेख किया है जिनमें जेल के क़ैदियों अथवा रिफार्मेटरी के बालकों की परीक्षा की गयी और उन्हें बुद्धि में न्यून पाया। सिरिलबर्ट महाशय ने भी कुछ अपराधियों में बुद्धि की कमी पाई। सिरिलबर्ट का एक उदाहरण उल्लेखनीय है।

'एक आठ वर्ष का बालक जटिल चोरी की आदत के लिये मेरे पास लाया गया। उसकी बुद्धि माप करने पर पता चला कि उसकी उम्र पाँच ही वर्ष की है। वह पेनी को छोड़कर किसी दूसरे सिक्के का नाम नहीं बता सकता था। उसकी उपयोगिता और उसकी कीमत का तो उसको कोई ज्ञान ही नहीं था। उसने एक चमकीले आधे पेनी को पसंद किया और छः पेन्स को जो चमकता नहीं था नहीं लिया। उसने मेरे सामने ही मेरे कार्ड और तसवीर को लेना प्रारम्भ कर दिया। उसे जो सिक्के दिखाये जाते थे चाहे वे चाँदी के अथवा ताँबे के हों सभी को वह लेना चाहता था। वह सभी का नाम 'पेनी' कहता था और सबको हाथ में रख लेता था। सिर्फ एक ही बार उसने चुराये शिलिंग को मिठाई खरीदने में खर्च किया था और इस काम में भी उसे निर्देश एक दूसरे बालक से मिला था। फिर भी वह दूसरी बार अपने चुराये पैसों से मिठाई खरीद नहीं सकता था। उसके जेबों में सब प्रकार की फजूल चीजें भरी हुई थीं—जैसे बटन, कार्क, सिगरेट कार्ड, लाल फीता, खरिया मिट्टी, पेन्सिल के टुकड़े आदि। इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि बालक वास्तव में चोरी करने के लिए अयोग्य था। उसे जैसे ही कोई वस्तु दिखायी देती थी पाकेट में रख देना चाहता था।

चोरी करनेवाले बालक में बुद्धि की कमी होना अस्वाभाविक नहीं है। बुद्धि मनुष्य को अपने काम में भावी परिणाम के विषय में सचेत कर देती है। जिस व्यक्ति में बुद्धि की कमी होती है उसमें तुरंत के

परिणाम के विषय में ही दृष्टि रखती है, भावी परिणाम की वह ठीक ठीक कल्पना नहीं कर पाता। अतएव यदि उसे पहले से कोई ठोस शिक्षा न मिली तो वह सरलता से ही अपनी मूल प्रवृत्तियों के आवेश में आकर हर प्रकार के अपराध कर बैठता है, जिसमें चोरी का प्रमुख है। अपराध-मनोवृत्ति को रोकने के लिए बुद्धि की प्रखरता वैसी आवश्यक है जैसे कि अभ्यास का होना।

प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति संसार में बहुत से ऐसे काम कर दिखाता जिसके कारण उसे सुयोग्य मार्ग से ही इच्छित वस्तुयें मिल जाती हैं दूसरे प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति का सम्मान सभी लोग करने लगते हैं उसका आत्म-सम्मान का भाव भी बढ़ जाता है। इन कारणों से वह अपने-आपको नीच काम करने से रोक लेता है। चरित्र-निर्माण में आत्मसम्मान की वृद्धि बहुत ही आवश्यक होती है।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक मंद बुद्धि का बालक चोर होता है। पर मन्द बुद्धि अपराध करने में सहूलियत अवश्य देती है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि चोरी करने के लिए कुछ बुद्धि की भी अपेक्षा होती है। बिलकुल जड़ बुद्धि का व्यक्ति चोरी भी नहीं कर सकता, वह दूसरे प्रकार के अपराध भले ही कर ले।

जन्म-जात मानसिक कमजोरी में नैतिक कमजोरी कदापि न गिनना चाहिये। नैतिकता का भाव अभ्यास के ऊपर निर्भर है। मनुष्य में जन्म से नैतिकता की प्रवृत्ति अथवा अपराध की प्रवृत्ति नहीं होती। ये प्रवृत्तियाँ समाज के सम्पर्क से ही आती हैं। बालकों में अच्छे वातावरण में रहने पर सदाचार का भाव उत्पन्न होता है और बुरे वातावरण में रहनेपर दुराचरण का भाव उत्पन्न होता है। कभी-कभी चोर माता पिता का पुत्र चोर ही पाया जाता है यह वंशानुक्रम के नियम के अनुसार नहीं, वातावरण के प्रभाव के कारण घटित होता है।

अतृप्त इच्छाएँ

चोरी का प्रधान कारण चुराई जानेवाली वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा होती है। कभी कभी उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा उसकी अपनी कीमत के लिए नहीं होती, वरन् वह बालक के मन में किसी दूसरी चाहक वस्तु की प्रतीक है इसलिए चुराई जाती है। पर साधारणतः वह अपनी उपयोगिता के लिए ही चुराई जाती है। कितने किशोर बालक खाने की चीज चुरा लेते हैं, और वे पैसे की भी अधिकतर इसलिए ही चोरी करते हैं कि जिससे वे अपने खाने और शौक की चीजें खरीद सकें। इस प्रकार की चोरी का कारण बालक की अतृप्त इच्छाएँ हैं। जिन बालकों की खाने और पहनने-ओढ़ने की इच्छाएँ तृप्त नहीं हो पातीं, वे बड़े होकर भी बच्चे की अवस्था में ही बने रहते हैं। कठोर अनुशासन में रखे गये बालकों की यही दशा होती है। बालक के व्यक्तित्व विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके बालकपन की खाने, पहनने, ओढ़ने की इच्छाओं को भली प्रकार से तृप्त कर दिया जाय। यह न होने पर ये इच्छाएँ बालक के व्यक्तित्व के विकास में झंझटें डालती हैं। बालक के आचरण के दोष इन्हीं अतृप्त वासनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं।

मुझे हाल में ही एक पचास वर्ष की महिला मिली। मैंने जब उससे बालकों में चोरी करने की आदत के कारण को पूछा तो उसने अपने जीवन के अनुभव को कहकर बताया कि इसका प्रमुख कारण बालक की खाने की इच्छा का दमन है। जिस बालक की यह इच्छा तृप्त हो जाती है उसमें चोरी करने का भाव नहीं रहता। उसने आपबीती घटनाएँ सुनाईं।

अपने माता पिता के घर में पाँच छः बालकों में से वह एक थी, अतएव उसकी खाने की इच्छा भली प्रकार से तृप्त नहीं हो पायी थी।

जब ससुराल गयी तो पति प्रायः घर से दूर नौकरी पर रहते थे। घर में नौकरानी जैसे रहकर काम करना पड़ता था। खाने के लिए उन्हें और उनके बच्चों को मिठाई वग़ैरह बनानी पड़ती थी पर अपने लिए उसे खाने को नहीं मिलती थी। इसलिए वह कभी-कभी चोरी से अलग मिठाई रख देती और मौका मिलने पर खा लेती थी। पर कुछ पुस्तकों के पढ़ने से उसे आत्मबोध हुआ और अपने चोरी के कार्य से आत्मग्लानि उत्पन्न हुई। किन्तु आदत पड़ जाने पर वह जल्दी से नहीं छूटती। उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि चोरी की आदत छूट जाए। अनेक दिनों की मानसिक लड़ाई के बाद उसकी वह आदत छूट गयी।

जब इस महिला के बाल-बच्चे हुए तो उसने अपने बालकों की खाने-पीने की इच्छा की तृप्ति पर विशेष ध्यान दिया। उन्हें किसी वस्तु के लिए लालायित नहीं रहने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी बालक चोरी करके कुछ भी नहीं खाना चाहता। उनमें न चीज़ चुराने की आदत है और न झूठ बोलने की।

यह उदाहरण नवीन मनोविज्ञान के इस कथन को प्रमाणित करता है कि किसी भी बालक को उसकी बालकपन की इच्छाओं को तृप्त करके बिगाड़ना सम्भव नहीं, उसकी इच्छाओं के दमन से ही बालक बिगड़ता है। जब बालक की खाने-पहनने की इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं तो उनका विकास होकर वे आध्यात्मिक इच्छाओं में परिवत हो जाती हैं अन्यथा बालक को सदा बच्चेपन की अवस्था में ही बनाये रहती हैं।

ईर्ष्या

बहुत से बालक दूसरे बालकों की चीज़ें उन्हें तंग करने के लिए चुराते हैं। मज़ाक में तो हम अनेक बालकों को दूसरों की वस्तुएँ चुराते देखते हैं, पर ये बालक उन्हें लौटा देते हैं। पर जहाँ ईर्ष्या रहती है

वहाँ बालक किसी दूसरे बालक का सामान चुराकर उसे नष्ट कर डालते हैं। दूसरों की चीजें चुराकर फेंक देना एक साधारण-सी आदत है। कितने पिटनेवाले बालक स्कूल का सामान चुराकर नष्ट कर देते हैं। टाम महाशय ने मेरी नामक एक बालिका की चुराने की आदत के सम्बन्ध में यह लिखा है। मेरी नाम की एक बालिका जो कि पढ़ने-लिखने में अन्यमनस्क, देखने में अनाकर्षक, दुबली-पतली और साधारण बुद्धिवाली थी। वह कितने बालकों की डेस्कों और खलीतों से चीजें ले लेती थी। वह तीन महीने से यही कर रही थी। जब उसकी परीक्षा की गयी तो उससे पूछने के पहले ही उसने कहा कि वह दोषी नहीं है। चोरी के विषय में उससे कोई चर्चा ही न की गयी, और उससे अपने घर और स्कूल के विषय में तथा उसकी रुचियों के विषय में बातचीत की गई। इस प्रकार बालिका से प्रेम का बर्ताव करके उससे घनिष्ठता स्थापित करने की चेष्टा की गयी। उससे प्रथम बार ही मिलने पर उसकी अपराध की मनोवृत्ति की चर्चा न करने का निश्चय कर लिया गया था। जब वह परीक्षा के कमरे से बाहर जा रही थी तो अपने आप ही कह उठी। 'मुझे कोई नहीं चाहता, न जाने क्यों? लड़कियाँ मुझे प्यार नहीं करतीं—वे मुझे थप्पड़ मारती हैं और चिढ़ाती हैं। मैं उन्हीं लड़कियों की वस्तुएँ चुराती हूँ जो मुझे तंग करती हैं और जिन्हें मैं नहीं चाहती। यह बालिका ९ साल की ही थी। पर तो भी चोरी करने का परिणाम क्या होता है जानती थी, अतएव चुराई वस्तु को अपने पास नहीं रखती थी, वह उन्हें नष्ट कर डालती थी। मेरी की चुराने की आदत का अन्त घर में अधिक हिफाजत होने से, उसे अच्छा खाना मिलने, सुन्दर कपड़े पहनाने, नये स्कूल में भरती करने और वहाँ उसके स्कूल के काम में कुछ अधिक सावधानी रखने से हो गयी। जब दूसरे बालकों की उसके मन में डाह नहीं रही तो उसकी चोरी की आदत का अन्त हो गया।

डाक्टर महाशय एक और बालिका का उदाहरण देते हैं जिसमें ईर्ष्या ही चोरी का कारण थी। यह लड़की अपनी सहपाठी बालिकाओं की अनेक वस्तुएँ चुरा लेती थी। दो बार वह बच्चों के घर पर से चीजें चुरा लायी। इस बालिका की चोरी की आदत के विषय में यह विशेषता देखी गयी कि वह बच्चों की ही चीजें चुराती थी, बड़े लोगों की चीजें कभी नहीं चुराती थी और जिन चीजों को चुराती थी उन्हें अपने काम में कभी नहीं लाती थी, वरन् उन्हें नष्ट कर डालती थी। इस बालिका के विषय में अध्ययन करने से पता चला कि जब कभी वह दूसरे बालकों को नया खिलौना या कपड़े आदि पाते देखती तो उन्हें चुराने या नष्ट कर डालने की चिन्ता करने लगती थी।

जो बालक ईर्ष्या के कारण चोरी करते हैं, वे अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित रहते हैं। यदि माता-पिता उन्हें ठीक से प्यार करें और उन्हें दूसरे बालकों से किसी प्रकार नीचा होने का अनुभव न होने दें तो वे चोरी की आदत छोड़ दें। जो मनुष्य स्वयं दुःखी रहता है वह दूसरों को भी दुःखी बनाना चाहता है। बालक को मार-पीट कर उसकी ईर्ष्या नहीं छुड़ायी जा सकती। इससे बालक का मन और भी दुःखी होगा। जिसके मन में सुख का अनुभव नहीं है वह कदापि यह नहीं चाहेगा कि दूसरे बालक सुखी रहें। जो व्यक्ति अपने भीतरी मन में जैसा रहता है दूसरों को भी वह वैसा ही बनाना चाहता है। अपराधी दुःखी मनुष्य ही होता है। मानसिक व्यथा के नष्ट हो जाने पर अपराध की मनोवृत्ति नष्ट हो जाती है।

साथियों का प्रभाव

कितने ही बालक अपने गिरोह के प्रभाव में पड़कर चोरी करना सीख लेते हैं और उनमें चोरी की आदत पड़ जाती है। कितने ही बालकों के गिरोहों के लिए चोरी करना एक खेल होता है, वे चोरी

ते या वस्तु के उपयोग के लिए नहीं करते। चोरी में सफल होने से न्हें आनन्द का अनुभव होता है। वे अपनी होशियारी और बहादुरी र खुश होते हैं। ऐसे गिरोह के बालकों की बुद्धि की जाँच करने पर उन्हें मन्द बुद्धि पाया गया है। इन बालकों में सामाजिक भावनाओं का अभाव रहता है। उन्हें समाज के उपयोगी कामों में लगाकर सामाजिक भावनाएँ जगायी जा सकती हैं। रचनात्मक कार्य ऐसे बालकों के लिए बड़े ही उपयोगी होते हैं। जब बालकों को अपनी वास्तविक महत्ता का ज्ञान हो जाता है तो वे दूसरों को धोखा देने में आनन्द लेना छोड़ देते हैं। रचनात्मक कार्य से बालक में आत्म-विश्वास आता है, वह अपनी शक्ति को विकृत मार्ग से प्रवाहित न कर सद्‌मार्ग से वाहित करता है।

जब बालक में चोरी की आदत गिरोह के प्रभाव से आती है तो माता-पिता का धर्म हो जाता है कि वे उसे उस गिरोह से अलग करके उसे ऐसे साथियों के साथ रखें जिनकी नैतिक भावना ऊँची हो। माता-पिता तथा अभिभावकों को इसलिए यह जाँच करते रहना आवश्यक है कि बालक कैसे साथियों के साथ रहता है। बालक के जीवन के आदर्श वैसे ही बन जाते हैं जैसे कि उसके साथियों के अथवा गिरोह के आदर्श होते हैं। दूसरे बालकों के आचरण और कथन का प्रभाव जितना बालक के आचरण पर पड़ता है उतना प्रौढ़ लोगों के आचरण और उपदेश का नहीं पड़ता। बालक के सबसे अच्छे शिक्षक दूसरे बालक होते हैं।

आत्महीनता का भाव

कभी-कभी बालकों में आत्महीनता का भाव चोरी का कारण बन जाता है। प्रत्येक बालक अपने साथियों से सम्मानित होना चाहता है, किन्तु जब वह अच्छे रास्ते से अपनी सम्मानित होने

की इच्छा को तृप्त नहीं कर पाता तो वह विकृत मार्ग का अनु करता है। इस प्रसंग में टाम महाशय का दिया हुआ निम्नलि उदाहरण उल्लेखनीय है—

हेनरी नाम का आठ वर्ष का एक सम्पन्न घर का बालक, जि माँ और बाप दोनों ही सुशिक्षित थे, एका-एक घर से पैसा चुराने ल इस पैसे से वह मिठाई खरीदकर अपने साथियों में बाँटा करता था इस बालक की चोरी की आदत का कारण खोजने से पता चला वह अपने साथियों से सम्मान प्राप्त करने के लिए ही चोरी करता था इस बालक का बड़ा भाई उससे पढ़ने-लिखने, खेल-कूद और सामा कार्यों में आगे बढ़ा हुआ था। वह अपने छोटे भाई को कम चिढ़ाने और नीचा दिखाने की चेष्टा करता रहता था। वह कसरत में अपने साथी दूसरे बालकों से कम योग्यता रखता था इसके कारण उसे प्रायः बिना साथियों के रह जाना पड़ता था उसे अपने अनुभव से ज्ञान हुआ कि बालकों का प्रेम उन्हें कुछ खाने पीने की चीजें देकर प्राप्त किया जा सकता है। इन चीजों को प्राप्त करने के लिए उसने चोरी का सहारा लिया।

इस बालक का इलाज एक ग्रीष्मशिविर में भेजकर हुआ। इस शिवि में उसका बड़ा भाई नहीं भेजा गया था। बालक की आदत के विषय में शिविर-संचालक को पहले ही सूचित कर दिया गया था। उसने बालक को उससे कम योग्यतावाले बालकों के साथ रखा। वहाँ उसने अनेक चमत्कारी काम किये। इस प्रकार उसमें स्वावलम्बन की भावना जाग्रत हो गयी। उसकी आत्महीनता की भावना नष्ट हो गयी और फिर जब वह घर आया तो वह अपने साथियों में सम्मानित होने लगा। इस तरह उसकी चोरी की आदत छूट गयी।

बहादुरी के लिये

कितने ही बालक चोरी बहादुरी का काम समझकर करते हैं।

चोरी करने में कुछ साहस से काम लेना पड़ता है। साहस के काम में आनन्द मिलता है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए चोरी की जाती है। बालक अपने साथियों से अपनी बहादुरी सुनाता है, इससे उसे आनन्द मिलता है। इस प्रकार की चोरी में दूसरे बालकों के प्रभाव की भी बात रहती है। जिस गिरोह में बालक रहता है यदि उसमें चोरी अपराध नहीं माना जाता, प्रत्युत चोर की प्रशंसा होती है, तो बालक में चोरी की आदत पड़ने की सम्भावना रहती है।

प्रत्येक बालक बहादुरी के काम करना चाहता है। यदि उसे चोरी में ही बहादुरी दिखायी पड़े तो वह चोरी क्यों न करने लग जाय। एक बार संयुक्त प्रदेश के एक स्कूल के हेडमास्टर के पास एक जज का फैसला भेजा गया था। फैसला एक १४ वर्ष की बालक की चोरी के विषय में था। वह बालक दूसरे लोगों की साइकिलें चुरा लेता था और उन्हें किसी दूकानदार के पास रखकर उससे उधार चीजें ले आता था। पर फिर लौटता नहीं था। जब बालक पकड़ लिया गया तो उसकी जाँच करने से पता चला कि वह भले घर का बालक है। वह अपने साथियों को अच्छी अच्छी वस्तुएँ देकर खुश करने के लिए चोरी करता था। उसने चोरी करना एक सिनेमा-फिल्म के एक दृश्य से सीखा। इस फिल्म को देखकर उसमें चोरी करने की प्रेरणा हो गयी। जैसे जैसे उसे सफलता मिलती गयी वह चोरी के काम में आगे बढ़ता गया।

लेखक के एक परिचित मित्र ने एक ऐसे ही बालक का चोरी का वृत्तान्त सुनाया। वह बालक बड़े अच्छे घर का है। वह बनारस की साड़ी की दूकानों से दूकानदारों को धोखा देकर साड़ी लाकर अपनी बहन, मौसी आदि को दे देता था। जब कोई पूछता कि तुमने पैसा कहाँ से पाया तो वह कहता था कि मैं ट्यूशन करता हूँ, उसीसे पैसा

मिलता है। यह एक बहादुरी की भावना के विकृत होने का उद[illegible]
है। बालक में उदारता का भाव था। इस समय यह बालक
सुयोग्य नागरिक है और एक कालेज का सुयोग्य अध्यापक भी है।

बालकों की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। वे जितना [illegible]
काल्पनिक जगत में विचरण करते हैं, वास्तविक जगत में विचरण
करते। हमारे सामान्य जीवन में बालकों की कल्पना को [illegible]
करने की कोई बात नहीं रहती। अब वे चोरों की बातें सुनते हैं
उनकी बहादुरी से उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। वे [illegible]
चोरों की बहादुरी के बारे में सोचते हैं और फिर उनकी कल्पना
वास्तविक जगत् में कार्यान्वित होने लगती है। यदि बालक को [illegible]
साधारण जीवन में बहादुरी दिखाने का अवसर मिल जाय तो [illegible]
चोरों का अनुकरण करने की चेष्टा न करे। प्रत्येक बालक दूसरों [illegible]
प्रशंसा पाने का इच्छुक रहता है। कुछ बालक पढ़ने-लिखने में प्रशं[illegible]
पाते हैं। जो इसी प्रकार अपने साथियों की प्रशंसा प्राप्त करने में
समर्थ नहीं होते वे दूसरे मार्ग की खोज करते हैं। बालकों में [illegible]
खेल-कूद और साहस के कामों की वृद्धि होने पर और उन्हें उचित
प्रोत्साहन मिलने पर अनुचित रूप से प्रशंसित होने की उनकी इच्छा
नष्ट हो जाती है।

कामवासना का दमन

कितने ही बालकों में चोरी की आदत का कारण मानसिक ग्रंथि
होती है। यह ग्रन्थि काम-वासना के दमन से उत्पन्न होती है। ऐसा
बालक बुद्धि में दूसरे बालकों से कम नहीं होता। वह चुराई हुई वस्तुओं
की उपयोगिता की दृष्टि से चोरी नहीं करता, वरन् वह चोरी इसलिए
करता है कि चोरी किये बिना उससे रहा नहीं जाता। यहाँ चोरी
करने का कारण बालकों की दबी हुई वासना होती है। यहाँ चोरी
किसी दूसरे अपवित्र कार्य की प्रतीक मात्र है। जब बालक अपनी किसी

कामवासना सम्बन्धी कुटेव (जैसे हस्तमैथुन) को नैतिक शिक्षा के कारण एकाएक जबरन दबा देता है तो उसे कभी-कभी चोरी करने की आदत लग जाती है। यह आदत बहुत दिन तक बालक में बनी रहती है। चोरी का काम बालक का अज्ञात मन कराता है। यह दबी हुई अनेक भावना के निकास का एक मार्ग है।

कितने ही बालक चोरी करके भागते समय वैसे ही सुख का अनुभव करते हैं जैसे कि वे अपने काम-क्रीड़ा में करते थे। यह मनोविश्लेषण के विद्वानों ने उनकी परीक्षा से मालूम किया है। ऐसे बालकों की चोरी की आदत एक प्रकार की बीमारी है। इस आदत का उपचार उसी तरह होना चाहिये जैसे दूसरे शारीरिक अथवा मानसिक बीमारी का उपचार होता है। जब कभी हम बालक को किसी ऐसी वस्तु को चुराते पावें जिसका उसके लिए कोई उपयोग नहीं है और जब वह पूछने पर चोरी करने का एक अज्ञात उत्तेजना के अतिरिक्त कोई कारण नहीं बता सकता और जब हम देखें कि चोरी का काम एक प्रकार की मन की असावधानी की अवस्था में अपने आप ही हो जाता है तो हमें बालक के प्रति उदारता से काम लेना चाहिये। हमें समझना चाहिये कि उसका चोरी करना मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम मात्र है। यदि इस प्रकार के बालक को नैतिक शिक्षा दी जाय तो उससे उसका लाभ न होकर हानि होने की ही सम्भावना है। ऐसी अवस्था में बालक को दण्ड देना तो उसके प्रति वैसा ही अन्याय करना है जिस प्रकार कि हम किसी रोगी को उसकी बीमारी के लिए दण्ड दें।

चौदहवाँ प्रकरण

झूठ बोलने की आदत

चोरी और झूठ बोलने की आदतें अधिकतर साथ-साथ रहती हैं। इन दोनों आदतों के प्रधान कारणों में समानता है। झूठ बोलने की आदत के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) चोरी को छिपाने की इच्छा।

(२) मार खाने से बचने की इच्छा।

(३) बड़ों का अनुकरण।

(४) दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा।

(५) धोखा देने की इच्छा।

(६) कल्पना की प्रबलता।

(७) मानसिक कठिनता।

चोरी छिपाने की इच्छा

जिस झूठ को हम अपराध में गिन सकते हैं वह प्रायः चोरी को छिपाने की इच्छा से होता है। जब बालक कोई अपराध कर बैठता है और उसे छिपाना चाहता है तब वह झूठ बोलता है। चोरी बिना झूठ बोले छिप नहीं सकती। मनुष्य लोभ के वश में आकर चोरी करता है। यदि बालकों की आवश्यक खाने पीने की इच्छा की पूर्ति का प्रबन्ध किया जाय तो न तो उनमें चोरी की इच्छा पैदा हो और न झूठ बोलते हों।

जिस प्रकार चोरी को छिपाने की इच्छा झूठ बोलने का कारण होती है, उसी तरह दूसरे अपराधों को छिपाने की इच्छा भी झूठ

बोलने का कारण होती है। जिन बालकों में काम-क्रीड़ा की आदत लग जाती है वे भी झूठ बोलकर इस आदत को छिपाते हैं।

मार खाने से बचने की इच्छा

झूठ बोलने का एक प्रधान कारण किसी अपराध के लिए माता-पिता की मार से बचने की इच्छा होती है। जब कोई बालक कोई अपराध कर बैठता है और जब ऐसे अपराध के लिए उसके पिता-माता उसे अधिक पीटते हैं तब वह अपने अपराध को छिपाने के लिए झूठ बोलता है। इस तरह बालकों का अधिक पिटना उनमें नैतिक सुधार न कर उन्हें और भी बिगाड़ देता है।

एक बालिका ने स्कूल से वापस आने में देर कर दी। वह अपनी मित्र बालिका के घर चली गयी और वहाँ खेलने लगी, इस कारण उसे घर लौटने में देर हो गयी। जब उसकी माँ ने घर देर से आने का कारण पूछा तो उसने सच्ची-सच्ची बात कह दी। इस पर उसकी माँ ने उसे खूब पीटा। लड़की ने इसे अपने आन्तरिक मन में सच बोलने के लिये दण्ड पाना मान लिया। कुछ दिन बाद यह लड़की फिर अपनी मित्र के घर गयी और उसे घर लौटने में देर हो गयी। जब उसकी माँ ने उससे देरी का कारण पूछा तो उसने तुरंत कहा कि उसे स्कूल में अध्यापिका ने रोक लिया था इसलिये देर हो गई। इस पर वह पीटी नहीं गयी। जब इस प्रकार बालिका को शिक्षा मिलती है तब वह झूठ बोलना क्यों न सीखे?

एक बार लेखक के एक भतीजे ने अपनी पुस्तक स्कूल में खो दी। वह जानता था कि पुस्तक खोने के कारण वह पीटा जायगा। जब उससे पुस्तक के बारे में पूछा गया तो उसने झट बात बना दी कि उसे उसका एक मित्र ले गया है। इसी तरह जब वह एक लड़के को पीटकर आया तो उसने झूठी बात कह दी। बड़ी कठि-

नाई के साथ खोज करने से वस्तुस्थिति का पता चला।

बालकों से अधिक छानबीन करने से भी झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। जो माता-पिता बालकों का झूठ पकड़ने में चतुरता दिखाते हैं वे इन्हें सुधारते नहीं, उनमें झूठ की आदत और डाल देते हैं। जिस प्रकार परीक्षा में नकल करनेवाले बालकों को नकल करते समय पकड़ लेने से अथवा चोरी करते समय चोर को पकड़ने से चोरी की आदत का अन्त नहीं होता, वरन् अपराधी में और कुशलता से काम करने की मनोभावनामात्र जाग्रत् होती है उसी प्रकार झूठ को पकड़ लेने से बालक में सत्य बोलने की आदत नहीं पड़ती, झूठ बोलने में अधिक कुशलता से काम लेने की इच्छा मात्र उत्पन्न होती है। हम बालकों को अपराधी सिद्ध करने की जितनी ही चेष्टा करते हैं हम उनकी अपराध की मनोवृत्ति को उतना ही दृढ़ करते हैं। अपराधी के साथ सहानुभूति से काम लेकर ही उसकी आदत व मनोवृत्ति बदली जा सकती है।

एक धनी घर के बालक में सिगरेट पीने की बड़ी आदत पड़ गई थी। माता-पिता उसे सिगरेट नहीं पीने देना चाहते थे। पिता स्वयं सिगरेट पीते थे। अगर कभी वह सिगरेट पीते पाया जाता तो वह पीटा जाता था। ऐसी अवस्था में वह छुप कर सिगरेट पीने लगा। जब उसे सिगरेट पीने के लिए पैसा न मिलता तब वह चोरी करता। सिगरेट पीने का पता न चले इसलिए वह अनेक प्रकार का झूठ बोलता था। इस तरह हम देखते हैं कि माता पिता की असावधानी के कारण उसके अपराधों की संख्या बढ़ती ही गयी। इस बालक की सौतेली मा थी और पिता का उस बालक के प्रति विशेष प्रेम न था। उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार होना संभव ही न था, अतः कड़ाई से काम लिया जाता था। पर इस कड़ाई का परिणाम कुछ भी न हुआ, उल्टे बालक की कठिनता बढ़ती गयी।

बड़ों का अनुकरण

बहुत से घरों में बड़े लोग झूठ बोलने को बुरा नहीं समझते। सौदागर लोग अपने ग्राहकों से अक्सर झूठ बोलते हैं। इसी प्रकार संकट के समय माता-पिता भी झूठ बोल देते हैं। बालक को रोने से रोकने के लिए माँ अक्सर झूठ बोलती है। बालक बड़ों के इन उदाहरणों को ठीक से देखता है और वह धारणा बना लेता है कि झूठ बोलना स्वयं कोई बुरी बात नहीं है। कितने ही लोग तो बालक को एक प्रकार से झूठ बोलने की ट्रेनिंग देते हैं। एक बार लेखक एक विदुषी से बातचीत कर रहा था। उसका लड़का उसके पास बैठा था। विदुषी इस समय किसी व्यक्ति से मिलना नहीं चाहती थी। नौकर को दरवाजे पर बैठा दिया था। उसे आज्ञा थी कि जो कोई व्यक्ति घर पर मिलने आये उससे कह दे कि वह घर पर नहीं है। इस काम में चपरासी कुशलता नहीं दिखा रहा था। वह कभी-कभी आनेवाले मनुष्य का समाचार लेकर आता और पूछता कि मैं उनसे क्या कहूँ। विदुषी उससे यही कहती कि उनसे कहो कि वे घर पर नहीं हैं। बालक इस बात को ध्यान से सुनता जाता था। क्या बालक को अपनी माँ के इस प्रकार के व्यवहार से झूठ बोलने की ट्रेनिंग नहीं मिली होगी? हम बालकों से यह कैसे आशा कर सकते हैं कि जब हम स्वयं झूठ बोलते हैं तो वे सच बोलेंगे।

कभी-कभी प्रौढ़ व्यक्ति जिस प्रकार बालकों को चोरी करने में प्रोत्साहन देते हैं उसी प्रकार झूठ बोलने में भी प्रोत्साहन देते हैं। वे जब कभी दूसरों से झूठ बोलकर ऐसी बात को छिपा लेते हैं जिसके जाहिर होने से परिवार को हानि होती तो उनकी प्रशंसा की जाती है। पर इस प्रकार के आचरण से हम बालक के चरित्र की जड़ को ही काट देते हैं। यही कारण है कि दुराचारी व्यक्ति के बालकों का सदाचारी होना कठिन होता है। बालक शीघ्र ही सीख जाता है कि

चोरी करना, झूठ बोलना आदि काम बुरे नहीं हैं, उनका पकड़ा जाना बुरा है।

दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने की इच्छा

छोटे बालक अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने की इच्छा के कारण भी झूठ बोला करते हैं। जब बालक सच बोलता है उसकी बातें कोई व्यक्ति चाव से नहीं सुनता। जब वह झूठी बात कहता है, तब सब बालक उसे चाव से सुनते हैं। प्रौढ़ लोग भी बालक की झूठी बातों को बड़े चाव से सुनते हैं। इन कारणों से बालक में झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। इस प्रसंग में स्टर्न महाशय की "साइकोलाजी आफ अर्ली चाइल्डहुड" में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक आठ वर्षीय बालिका एक दिन कुछ देर से आयी। जब उसकी अध्यापिका ने देरी का कारण पूछा तो उसने कहा कि मेरी माँ बीमार है और इस कारण स्कूल के लिए तैयारी करने में देर हो गयी। अब प्रतिदिन अध्यापिका उसकी माँ की कुशल पूछती और प्रतिदिन कुछ न कुछ नया सन्देशा यह बालिका अपनी अध्यापिका से कहती। अन्त में एक दिन उस बालिका ने अपनी अध्यापिका से कहा कि अब उसकी माँ बिलकुल अच्छी हो गयी है। इसपर अध्यापिका ने पोस्ट के द्वारा बधाई का एक पत्र बालिका की माँ को भेजा। माँ इस पत्र को पाकर चकित हो गयी। उसने अध्यापिका से कहा कि वह बहुत दिनों से बीमार ही नहीं हुई है। उसकी बीमारी का समाचार बिलकुल झूठा है। वास्तव में बालिका ने अध्यापिका का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ही यह उपाय रचा था। जब बालक सीधी रीति से दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ रहता है तब वह झूठ बोलकर, डींग मारकर उनका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार का झूठ नैतिक दृष्टि से उतना निन्दनीय नहीं है जैसा कि पहले प्रकार का झूठ है। कुछ-न-कुछ झूठ हम सभी बोल जाते हैं। इस प्रकार के झूठ को रोकने के लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि हम बालक की गप्पों से उद्विग्नमन न हों। जब बालक का गप्प लगाने के लिए सम्मान नहीं होगा तब वह गप्पें लगाना छोड़ देगा।

मजाक करने की इच्छा

दूसरों को धोखा देने में एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। कितने ही बालक इस आनन्द के लिए झूठ बोलते हैं। बालकों में उस बालक की बुद्धि की प्रशंसा की जाती है जो कुशलता-पूर्वक दूसरे व्यक्ति को झूठ बोलकर धोखा देने में समर्थ होता है। कितने ही बालक दूसरे बालकों की चीजें उनके साथ मजाक करने के लिए चुरा लेते हैं और उन्हें छिपा रखने के लिए अनेक प्रकार का झूठ गढ़ते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे एक बालक परेशानी दिखाता है दूसरे आनन्द पाते हैं। इस प्रकार का झूठ भी नैतिक दृष्टि से निन्दनीय नहीं है। यदि हम सभी प्रकार के झूठ को नैतिक दृष्टि से निन्दनीय मान लें तो बाल्य-जीवन की सरसता ही नष्ट हो जाय। कृष्ण भगवान चोरी करते और झूठ बोलते थे, पर उनकी यह चोरी और झूठ हम निन्दनीय नहीं मानते। वही झूठ निन्दनीय है जिससे दूसरों की कोई हानि हो, उन्हें कष्ट पहुँचे अथवा जिसका हेतु दूसरों को तंग करना हो। मजाक का झूठ, जबतक वह अपनी सीमा के अन्दर रहता है, झूठ ही नहीं है। बालकों का इस प्रकार का झूठ क्षम्य मानना चाहिये।

कल्पना की प्रबलता

बालक की कल्पना बड़ी सजीव होती है। कल्पना की सजीवता के कारण वह कल्पित और वास्तविक घटनाओं में भेद नहीं कर पाता। जो बात वह कल्पना मात्र में देखता है उसे वह वास्तविक घटना के रूप में

सोच लेता है। इसी तरह घटना का वृत्तान्त सुनाते समय बालक
का वैसा वर्णन नहीं करता जैसे कि घटना वास्तव में घटित हुई,
वह वैसे घटित होते सुनाता है जैसे कि वह चाहता है कि वह
हो। बालकों की इस सम्बन्ध में छानबीन करना और यह सिद्ध
कि वे झूठ बोल रहे हैं, उन्हें झूठ बोलना सिखाना है। कितने
बालकों को 'झूठ' का ज्ञान ही तब तक नहीं होता जब तक कि
लोगों से वे बार-बार यह नहीं सुनते कि वे झूठ न बोलें। बड़े लोगों
नैतिक शिक्षा बालकों में बहुत से दुराचरण का कारण बन जाती है।
बालक के मन में प्रतिनिर्देश के कारण जैसी वह नैतिक शिक्षा पाता
उसके ठीक प्रतिकूल आचरण करने की उत्तेजना होती है।

मानसिक जटिलता

नवीन मनोविज्ञान ने अपनी खोजों से बालकों के झूठ के ऊपर
एक नया प्रकाश डाला है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बालकों के अनेक
झूठों का कारण होता है। जिस बात को बालक स्वयं नहीं करना
चाहता उसे जब बरबस करने को कहा जाता है तब वह झूठ का सहारा
लेता है। कभी-कभी स्वयं बालक का चेतन मन जो उपदेश उसे दिया
जाता है उसका औचित्य मानता है, पर उसका अचेतन मन उसका
औचित्य नहीं मानता। ऐसी स्थिति में बालक में झूठ बोलने की अथवा
मिथ्या व्यवहार करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार के झूठ को
स्वयं बालक नहीं जानता। उससे उसका अचेतन मन बरबस मनमानी
करा लेता है।

इस प्रसंग में मारगन महाशय का "साइकालाजी आफ दी अन-
एडजस्टेड स्कूल चायल्ड" में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण
उल्लेखनीय है—

एक पाँच वर्ष का बालक एकाएक अपने आपको दूसरों की नजर
में लाने के लिए विचित्र व्यवहार करने लगा। उसकी माँ उसके इस

आचरण का हेतु नहीं समझ सकी, अतएव वह उसकी सब बातों की ओर भी उपेक्षा करने लगी। यह बालक माता का ध्यान अपने छोटे भाई की ओर से हटाकर, जिसे वह अधिक प्यार दिखाने लगी थी, अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था। बालक ने माँ की उपेक्षा से अपना आचरण नहीं बदला, वरन् वह दूसरे लोगों के सामने भी वैसे ही बेहूदे तरीके से आचरण करने लगा। वह उन बातों में विशेषता दिखाने लगा जो उसकी माँ को पसंद नहीं थी और जिनके लिए उसकी माँ उसे पीटती थी। उसे सबसे अधिक आनन्द अपने छोटे भाई को खतरे में डालने में आता था। उदाहरणार्थ, एक दिन उसने अपने भाई को नये मकान की छत पर ले जाकर उसे एक खतरनाक जगह पर छोड़ दिया। जब उसकी माँ ने उसको इस प्रकार के कामों के भयानक परिणाम की सम्भावना बतायी तब उसकी वैसे ही कामों को करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ गयी। अब वह अपने भाई को रेल की पटरी पर चलने को प्रोत्साहित करता अथवा जहाँ सड़क पर अधिक भीड़ होती वहाँ ले जाता। स्कूल में जब बालक की खतरनाक आदतों की बात पहुँची तब दूसरे बालकों के साथ काम करने से वह रोक दिया गया। स्कूल में होनेवाले खेल में भाग लेने से भी वह रोक दिया गया। यह बालक रात के समय स्कूल में चोरी से खिड़की तोड़ कर घुस आया और उसने जो मंच दूसरे बालकों ने खेल के लिए बनाया था उसे तोड़ दिया। जब उसके अपराध का पता चला तब सब बालकों ने उसके आचरण की निन्दा की। किन्तु इससे वह अपने मन में किसी प्रकार का दुःख अनुभव करने के बदले विशेष प्रकार के संतोष का अनुभव करता था। वास्तव में बालक दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था। वह अपने इस प्रयास में सफल हुआ। दूसरों की निन्दा प्राप्त करना भी मनुष्य उपेक्षित रहने की अपेक्षा अधिक पसंद करता है।

पाठशाला के अधिकारी इस बालक की अपराधी मनोवृत्ति मानने लगे और उनकी धारणा हो गयी कि यह सुधर नहीं सकता। वास्तव में बालक प्यार का भूखा था। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से उसके उपद्रव के वास्तविक कारण का पता चला तब माता और शिक्षक को आदेश दिया गया कि वे बालक के साथ कठोरता का व्यवहार न कर सहानुभूति का व्यवहार करें, उसे रचनात्मक कार्य दें और उसे दे कामों में प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित करें। जब बालक के प्रति माता और शिक्षक का रुख बदल गया तब वह एक भला बालक हो गया। वास्तव में अभिभावकों के व्यवहार के दोष के कारण ही बालक में चरित्र के दोष आ गये थे। यदि माता बड़े बालक को अपने हृदय में उचित स्थान देती, छोटे बालक को अधिक प्यार न करती तो उसके आचरण में कोई दोष न आता।

उक्त बालक की मानसिक परीक्षा से यह भी पता चला कि जब वह पीटा जाता था तभी उसके मन में दुष्ट काम करने की उत्तेजना होती थी। माँ और शिक्षक ने भी यह स्वीकार किया कि बालक के उपद्रव उस समय बढ़ जाते थे जब कि उसपर मार पड़ती थी। यहाँ हम देखते हैं कि माँ और शिक्षक का बालक के प्रति विशेष प्रकार का रुख उसकी उद्दण्डता का कारण था। उसके मन में दूसरे बालकों के प्रति और विशेषकर अपने छोटे भाई के प्रति डाह थी। इसी डाह के कारण वह दुराचारी हो गया था। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि बालक के दुराचरण का एक प्रधान कारण उसका मानसिक दुःख है। यह दुःख माता पिता अथवा शिक्षक के अविचार के कारण बालक के मन में उत्पन्न होता है। बालक को सुखी बनाकर ही हम उसे सदाचारी बना सकते हैं।

प्रबल भावना का दमन

कभी कभी अपने अनजाने भी झूठ बोल देता है। ऐसी

[भू]लें प्रौढ़ व्यक्तियों से भी होती हैं। एक बार एक परीक्षक अपने दूसरे [स]ाथियों के साथ एक विज्ञान के विद्यार्थी की परीक्षा ले रहा था। वह [कि]सी कारण विद्यार्थी से रुष्ट हो गया और उसे प्रैक्टिकल परीक्षा में [फे]ल करना चाहता था। उसके साथी उसे दूसरे दरजे में पास करना [च]ाहते थे। इस परीक्षक ने अंत में उसे तीसरे दरजे में पास करने का निश्चय किया, पर उसके दूसरे दो साथी उससे सहमत न हुए और उसे बाध्य होकर उस विद्यार्थी को दूसरे दरजे में पास करने के लिए सहमत होना ही पड़ा। यही परीक्षक परीक्षा का फल भी लिखता था। जब परीक्षा का फल लिखकर वह दूसरे परीक्षकों के सामने हस्ताक्षर के लिए लाया तो उन्होंने देखा कि उस विद्यार्थी के नाम के आगे तीसरा दरजा लिखा हुआ है। वह इसे देखकर स्वयं चकित हुआ। वास्तव में जब वह परीक्षाफल लिख रहा था तो उसकी सामान्य चेतना जाती रही और उसने अपनी अचेतन अवस्था में ही तीसरा दरजा लिख दिया।

जिस तरह उक्त परीक्षक ने झूठ काम किया इसी प्रकार, असंतोष के कारण बालक अनजाने झूठ बोल देता है। जब कभी बालक की किसी प्रबल भावना का उसकी नैतिक भावना द्वारा दमन होता है तब उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में बालक का अचेतन मन चेतना की असावधानी की अवस्था में वही काम बालक से करा लेता है जिसे कि वह चाहता है। स्वप्न (सोमने-म्बुलिज़्म) की अवस्था में बहुत से व्यक्ति ऐसे काम कर बैठते हैं जिनका कि उनकी साधारण चेतना को ज्ञान नहीं रहता। इस सम्बन्ध में स्टाउट महाशय का "ग्राउण्डवर्क आव साइकोलाजी" में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक बालिका ने अपनी सुप्तावस्था में उठकर अपनी बहिन की एक डिबिया को, जिसमें कि उसके प्रेमी का उपहार रखा था, चुरा लिया। उसने इसे अपने सोने के तकिये के नीचे छिपा दिया। जब सबेरा

हुआ तो डिब्बी की खोज की गयी। इस लड़की ने भी डिब्बी [illegible] करने में अपनी बहिन की मदद की, पर कहीं डिब्बी न मिली। उसी [illegible] का सन्देह उसपर अवश्य होता था, पर पूछने पर वह कुछ भी नहीं [illegible] सकती थी। वह अपनी बहिन के सन्देह को मिथ्या दोषारोपण [illegible] थी। यह लड़की प्रतिदिन अपनी सुप्तावस्था में ही उठकर अपने तकिये [illegible] नीचे से चुपके से डिब्बी को निकालती और उसे खोलकर देखती, [illegible] बन्द करके अपने सुरक्षित स्थान में छिपा देती थी। इस प्रकार [illegible] प्रतिदिन करती थी। एक दिन मध्यरात्रि के समय किसी प्रकार [illegible] सम्बन्धियों ने उसे डिब्बी तकिये के नीचे से निकालते देख लिया। [illegible] जब सबेरे उससे उस डिब्बी के बारे में पूछा गया और तकिये के [illegible] से डिब्बी निकालकर भी उसे दे दी तो भी उसे यह विश्वास [illegible] कि यह डिब्बी के बारे में कुछ भी जानती हो। वास्तव में उसके [illegible] मन को उसकी सुप्तावस्था के समय के कामों का ज्ञान ही न था। [illegible] करनेवाला और झूठ बोलनेवाला दूसरा मन था और [illegible] जिसे नैतिक बातों का ज्ञान था, दूसरा ही था।

मानसिक जटिलता से झूठ का उदय

हिरिलवर्ट महाशय ने अपनी 'दि यंग डिलिंक्वेण्ट' नामक पुस्तक में एक बड़ा ही रोचक उदाहरण दिया है जिससे मानसिक जटिलता से कैसे अनेक प्रकार की चोरी और झूठ की प्रवृत्ति का उदय होता है, प्रत्यक्ष होता है। इस उदाहरण को यहाँ उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा।

एक बार एक कारखाने के अफसर के घर जिनका नाम [illegible] था, उनका एक साथी एक पत्र लेकर आया। इस पत्र में [illegible] महाशय के ऊपर अपने साथी की स्त्री के साथ व्यभिचार करने का दोषारोपण था। जब आगन्तुक इस विषय में उनसे बात कर ही रहा था, उसी समय उनका एक और साथी इसी प्रकार की शिकायत

लेकर आया। उसके पास भी एक पत्र इसी तरह का था जैसा कि पहले साथी के पास था। दोनों ही नेलर महाशय को भला-बुरा कहने लगे। इतने में एक तीसरा व्यक्ति और आ गया। उसकी भी यही शिकायत थी। अब तो बात एक बड़ी मजाक की हो गयी। नेलर महाशय ने पत्र लिखनेवाले का पता चलाने के लिए खुफिया पुलिस के सुपुर्द मामला कर दिया। नेलर महाशय कुछ दिनों से गन्दी लिपि में लिखी चिट्ठियाँ पा रहे थे। वे सोचते थे कि उनको वे चिट्ठियाँ उनकी पहले की तलाक दी गयी स्त्री भेज रही है।

खुफिया पुलिस की खोज से पता चला कि इन पत्रों को भेजने वाला उसकी नौ वर्षीया मेरी नेलर नामक बालिका है। पर बालिका इसे स्वीकार नहीं करती थी। जब उससे इन पत्रों के बारे में पूछा गया तो वह रो पड़ी। उसकी अध्यापिका से बालिका के स्वभाव के विषय में पूछताछ की गयी। उसने उसे बड़ी सुशील बालिका बताया। वह घर में भी बड़ी सुशीलता के साथ सबके साथ व्यवहार करती थी और कभी भी झूठ नहीं बोलती थी और न कभी चोरी ही करती थी। अध्यापिका को चिट्ठियाँ दिखायी गयीं तो उनकी लिपि देखकर उसने कहा कि यह नेलर की पुत्री की लिपि नहीं है, वह लड़की बड़ा सुन्दर हरफ छापे की छोटी लिपि में लिखती थी। पर पत्र गन्दी लिपी में लिखे रहते थे और वे साधारण हाथ की लिपि में रहते थे। आगे खोज से पता चला कि बालिका ने दोनों लिपियाँ सीख ली थीं, पर बालिका के चेतन मन को एक ही लिपि का ज्ञान था। जो उसका अचेतन मन करता था उसका उसके चेतन मन को ज्ञान तक न था। बालिका के व्यक्तित्व का विच्छेद हो गया था और एक ही शरीर में दो व्यक्ति उपस्थित हो गये थे।

ऐसी स्थिति क्यों उत्पन्न हुई? खोज करने से पता चला कि बालिका अपने घर के वातावरण से असन्तुष्ट थी। उसके पिता ने

उसकी माँ को व्यभिचार के दोष में तलाक दे दिया था और नयी शादी कर ली थी। यह सौतेली माँ पढ़ी-लिखी सुशील और पर मेरी नेलर उसे पसन्द नहीं करती थी। उसका विश्वास था उसकी माँ के ऊपर पिता ने मिथ्या दोषारोपण किया है। इस आंतरिक मन पिता के अपनी माता के प्रति अन्याय से असन्तुष्ट था। वह किसी-न-किसी प्रकार उससे बदला लेना चाहती थी, पर उसका चेतन मन इसका विरोधी था। इस तरह बालिका के व्यक्तित्व में द्वन्द्व उपस्थित हो गया था। एक ओर सुशील सदाचारी मेरी नेलर और दूसरी ओर द्वेष की अग्नि से जलती हुई बदला लेने की मूर्ख बालिका थी। जितनी पहली स्वच्छ और सुशील थी उतनी ही दूसरी गन्दी और दुराचारिणी थी। जो कुछ बालिका अपनी एक स्थिति में करती थी उसका दूसरी स्थिति को ज्ञान न था।

इस बालिका का मानसिक उपचार सिरिलबर्ट महाशय ने किया। बालिका के उपचार के लिए बालिका के दोनों व्यक्तित्व में सामंजस्य स्थापित किया गया। बालिका को अपने पिता के घर से कुछ दिन अलग रक्खा गया। मनोविश्लेषण द्वारा उससे धीरे-धीरे आत्मस्वीकृति करायी गयी। जब बालिका के मन के दोनों भागों में सामंजस्य स्थापित हो गया तब एक ओर बालिका की अति सुशीलता जाती रही और दूसरी ओर उसकी विशेष प्रकार के दुराचरण की प्रवृत्ति भी जाती रही। अब वह बालिका एक साधारण बालिका-जैसी बन गयी।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की काम चेष्टाएँ

बालकों की कामवासना सम्बन्धी शिक्षा के विषय में पश्चिम के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। पुराने समय में इस विषय पर कोई चर्चा ही नहीं होती थी। पर आधुनिक काल में इस विषय पर चर्चा करना बुरा नहीं समझा जाता। जो व्यक्ति बालकों का लालन-पालन ठीक तरह से करना चाहते हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में आनेवाली रुकावटों को दूर करना चाहते हैं उन्हें यह आवश्यक है कि वे बालकों की कामचेष्टाओं का भली प्रकार से अध्ययन करें। इन चेष्टाओं को जाने बिना इनके विषय में बालकों को कोई भी इस सम्बन्ध में शिक्षा नहीं दी जा सकती। प्रत्येक बालक की उसकी कामवासना सम्बन्धी भिन्न-भिन्न समस्यायें होती हैं और यदि हम बालक का कल्याण चाहते हैं तो हमें प्रत्येक बालक की समस्या का अलग-अलग अध्ययन करना पड़ेगा। तभी अपनी मानसिक जटिलता से मुक्त होने के लिये बालक को उचित मार्ग बताया जा सकता है।

हस्तमैथुन की व्यापकता

जब हम बालकों की काम चेष्टाओं के विषय में विचार करते हैं तो हम उनमें एक व्यापक चेष्टा हस्तमैथुन की पाते हैं। मेरे एक मित्र ने कहा कि ६० प्रतिशत किशोरावस्था के बालकों में हस्तमैथुन की आदत पाई जाती है। सम्भव है उनके इस कथन में भी अत्युक्ति हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि किशोरावस्था के अधिक बालकों में हस्तमैथुन की

हस्तमैथुन के बाहरी कारण

हस्तमैथुन की आदत एक बालक दूसरे बालक से संक्रामक रोग की तरह प्राप्त करता है। अतएव इसका एक कारण बालक की संगति ही है। जो बालक जैसे बालकों की संगति में रहता है उसकी आदतें उसी प्रकार की हो जाती हैं। बालक का जितना अच्छा शिक्षक बालक होता है उतना अच्छा शिक्षक एक प्रौढ़ व्यक्ति नहीं होता, चाहे वह व्यक्ति बालक का पिता हो अथवा शिक्षक। फिर प्रौढ़ व्यक्ति तो इस विषय में बालकों से चर्चा ही नहीं करते, ऐसी अवस्था में बालक जो निर्देश दूसरे बालकों से प्राप्त करता है उसीके अनुसार वह आचरण करने लगता है। फिर जो बात एक बालक दूसरे बालक को गुप्त रूप से कहता है उसका असर खुल्लम-खुल्ला कही गई बात से कहीं अधिक होता है। उपदेश और निर्देश की शक्ति में जो भेद है वही भेद खुल्लम-खुल्ला कही गई और चुपके से कही गई बात के प्रभाव में होता है। कामचेष्टा सम्बन्धी बातें एक बालक दूसरे बालक को गुप्त रूप से ही कहता है इसलिये इनका उसके मन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। प्रायः धनी घर के बालकों में अनेक काम सम्बन्धी दुर्व्यसन पाये जाते हैं। लाड़ से पले हुए बालकों में जितनी अधिक काम चेष्टायें पाई जाती हैं साधारण बालकों में उतनी अधिक नहीं पाई जातीं। हस्तमैथुन की आदत का दूसरा कारण पिता-माता की कठोरता अथवा अति लाड़ भी होता है। जो बालक पिता के कठोर नैतिक प्रतिबन्ध में रहते हैं, जिन्हें पिता शिष्ट बालक बनाने के लिये अति चिन्तित रहते हैं, उनमें अनेक प्रकार की अवांछनीय आदतें अपने आप पड़ जाती हैं। इसका प्रधान कारण पिता से बालक को दुर्निर्देश मिलना है। जब पिता बालक को किसी काम के लिये डाँटता-डपटता है तो पिता का डाँटना-डपटना बालक के बाहरी आचरण को प्रभावित करता है और उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति उसके भीतरी मन को प्रभावित करती है। बालक

ठीक वैसा ही हो जाता है जैसा कि हम उसके विषय में मीतरी मन से विश्वास करते हैं। यदि हम किसी बालक के विषय में मीतरी मन से सदा सोचें, अर्थात् विश्वास करें कि वह बड़ा ही प्रतिभाशाली और लोकोपकारी व्यक्ति होगा तो प्रतिदिन के निर्देश प्राप्त करने के कारण बालक उसी प्रकार का व्यक्ति हो जावेगा। इसके प्रतिकूल यदि किसी बालक के विषय में यह धारणा बना ली जाय कि वह क्रूर, दुष्ट, देशद्रोही होगा तो वह वैसा ही हो जावेगा। पिता का बालक के दुराचारी न हो जाने के विषय में भय करना उसकी इस धारणा का प्रतीक है कि वह बालक का भविष्य जीवन भला नहीं देखता। बालक के भविष्य के विषय में अत्यधिक चिन्ता करना उसके व्यक्तित्व को बिगाड़ना है।

जो पिता बालक के आचरण के विषय में अत्यधिक चिन्तित रहते हैं, वे उन्हें मारते-पीटते भी हैं। इससे बालक का उत्साह भंग हो जाता है। उसकी रचनात्मक कार्य करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। उसे स्वच्छ आनन्द प्राप्त करने का कोई साधन नहीं रहता। ऐसा बालक तम्बाकू पीने, चोरी करने, डींग मारने तथा हस्तमैथुन की आदतों में पड़ जाता है।

जिस बालक को अधिक डाँट-डपट सुननी पड़ती है उसमें आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। ऐसे बालकों में आत्महीनता की भावना पाई जाती है। आत्महीनता की भावना और हस्तमैथुन की आदत एक साथ ही पाई जाती हैं। हस्तमैथुन की आदत आत्महीनता की भावना की प्रतिक्रिया होती है। *जो पिता कठोरता से व्यवहार करके इस आदत को छुड़ाना चाहते हैं वे इस आदत को बालकों में और भी दृढ़ कर देते हैं।

लाड़ के कारण भी यह आदत पड़ जाती है। जिस प्रकार अधिक . . में रहनेवाले बालकों में आत्मविश्वास तथा रचनात्मक आनन्द

की कमी पाई जाती है इसी प्रकार लाड़ से पले बालकों में भी इनकी कमी पाई जाती है। इनके अभाव में शारीरिक सुखों के पीछे दौड़ना बालक के लिये स्वाभाविक है। लाड़ से पले बालक विलासी बन जाते हैं और विलासी बालकों में सभी प्रकार के दुर्व्यसन अपने आप आ जाते हैं। उन्हें व्यभिचार से रोकने की कोई चेष्टा ही नहीं करता। ऐसी अवस्था में बालकों में हस्तमैथुन की आदत पड़ जाना स्वाभाविक है।

काम उत्तेजक दृश्य और कल्पनायें

धनी घर के बालक अनेक प्रकार के ऐसे दृश्य देखते हैं तथा ऐसी अनेक प्रकार की हँसी मजाक की बातें सुनते हैं जिससे उनकी कामवासनायें उत्तेजित होती हैं। कामवासना के उत्तेजित होने पर उसका किसी न किसी प्रकार की कामचेष्टा में प्रकाशन होना स्वाभाविक है। आधुनिक काल के सिनेमा के दृश्य, कहानियाँ और उपन्यास भी कामचेष्टाओं को उत्तेजित करते हैं। अतएव जिन बालकों में सिनेमा जाने, गन्दे और उपन्यास पढ़ने की आदत पाई जाती हैं उनमें हस्तमैथुन की आदत का होना भी स्वाभाविक है।

हस्तमैथुन की आदत से हानि

इसमें सन्देह नहीं कि हस्तमैथुन की आदत से वास्तविक हानि होती है। यह एक प्रकार का नशा है जो एक बार लग जाता है तो सरलता से मनुष्य को नहीं छोड़ता। कितने ही बालक हस्तमैथुन करते हैं और उसके लिये पछे पश्चात्ताप करते हैं। वे उसे मन से छोड़ना चाहते हैं, हस्तमैथुन को कुकृत्य मानते हैं और ऐसा करने के लिये अपने आपको कोसते हैं, पर तिस पर भी समय आने पर हस्तमैथुन से अपने को रोक नहीं सकते। बार बार ऐसा करते रहने से उनकी इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है और उन्हें अपने आप पर भरोसा नहीं रहता। इस मनोवृत्ति के दृढ़ जाने पर वे किसी काम को दृढ़ता से नहीं कर पाते

हैं। उन्हें अपने संकल्प में विश्वास नहीं रहता। यह हस्तमैथुन से होने वाली वास्तविक पहली हानि है।

हस्तमैथुन से शारीरिक हानि भी होती है। यदि किसी मनुष्य को हस्तमैथुन की आदत पड़ जाय तो वह शरीर से दुबला पतला हो जावेगा। कभी उसके पेट की पाचन क्रिया में भी कोई खराबी उत्पन्न हो जाती है। किसी किसी व्यक्ति को स्वप्न-दोष बीमारी के रूप में हो जाता है। स्मरण शक्ति का कम हो जाना भी स्वाभाविक है।

हस्तमैथुन से बड़ी हानि आध्यात्मिक हानि होती है। हस्तमैथुन करनेवाला व्यक्ति जब अपनी मानसिक दृढ़ता को खो देता है तो उसके मन में जो कुछ भी विचार उठ आवें और जो भी दुर्भावना उसे सुझा दी जाय वह उसे पकड़ लेता है और फिर उसका छोड़ना बड़ा ही कठिन हो जाता है। मन की निर्बल अवस्था में किसी भी बुरे विचार के उत्पन्न हो जाने से वह विचार मन के बाहर नहीं निकलता। मान लीजिये किसी व्यक्ति ने हस्तमैथुन करने वाले व्यक्ति से अनायास यह कह दिया कि हस्तमैथुन करने वाले व्यक्ति को क्षय रोग हो जाता है अथवा वह नपुंसक हो जाता है अथवा वह पागल हो जाता है तो यह विचार उसके मन में घर कर लेता है और फिर उसका शरीर, भावना तथा आचरण भी उसी विचार के अनुसार होने लगता है। इस संबन्ध में नवीन मनोविज्ञान की खोजों ने विशेष प्रकाश डाला है। इन्हें आगे चलकर बताया जायगा।

हस्तमैथुन रोकने की शिक्षा

हस्तमैथुन रोकने की जो भी शिक्षा साधारणतः बालकों को दी जाती है उससे बालकों का लाभ न होकर हानि ही होती है। हस्तमैथुन करने से किसी भी व्यक्ति की उतनी हानि नहीं हो सकती जितनी कि हस्तमैथुन रोकने संबंधी शिक्षा से होती है। बहुत से लड़के हस्तमैथुन पर कोई लेख अथवा पुस्तक पढ़ना ही बड़ा हानिकर

ता है। बालकों को इस प्रकार की पुस्तकें पढ़ने देना ही न चाहिये।

हस्तमैथुन के रोकने के विषय में दो प्रकार की प्रमुख विचार-धारायें हैं। एक के अनुसार इसे रोकने के लिए बालक के अभिभावकों को विशेष प्रयत्न करना चाहिये। ये प्रयत्न अवश्य मनोवैज्ञानिक हों और इस संबन्ध में जो भी ज्ञान बालक को दिया जाय बड़ी सावधानी से देना चाहिये। इस मत के प्रवर्तक अमेरिका के बालमनोविज्ञान के वेत्ता डाक्टर स्टेनले हाल हैं। इनके विचारों का आगे चलकर उल्लेख किया जायगा। दूसरे मत के अनुसार, जिसके प्रवर्तक नवीन मनोवैज्ञानिक—स्टेकेल, नील, होमरलेन आदि महाशय हैं, बालकों के समक्ष हस्तमैथुन रोकने के विषय में चर्चा करना उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना है। बालक इस प्रकार की शिक्षा से अपने आपको कोसना मात्र सीखता है, हस्तमैथुन रोकने की शक्ति प्राप्त नहीं करता। अतएव इस प्रकार की शिक्षा से उसे शारीरिक क्षति के अतिरिक्त मानसिक क्षति भी होती है। अपने आपको कोसते रहने के कारण बालक में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये बीमारियाँ आत्म निर्देश के कारण होती हैं। यदि बालक को हस्तमैथुन के दुष्परिणाम न बताये जायँ तो यह आदत कुछ दिन में अपने आप ही छूट जाय और बालक को वे मानसिक और शारीरिक कष्ट न भोगने पड़ें जो हस्तमैथुन संबन्धी शिक्षा के कारण भोगने पड़ते हैं। स्टेकेल महाशय का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि बालक हस्तमैथुन के लिये पश्चाताप करने की अपेक्षा हस्तमैथुन करने में भगवान के अधिक समीप रहता है।* यही विचार ए० एस० नील महाशय का भी है।

हस्तमैथुन सम्बन्धी शिक्षा से जो दुष्परिणाम होते हैं उनके कुछ

* A child lis nearer god in masterbation than in repenting for it.

उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय हैं—हस्तमैथुन की शिक्षा से बहुत अनेक प्रकार की मानसिक कमजोरी और पागलपन आ सकता। इसका एक सुन्दर उदाहरण डाक्टर ब्रिल ने अपनी एक पुस्तक दिया है। एक युवक को हस्तमैथुन की आदत थी। उसने एक एक प्रतिष्ठित डाक्टर की पुस्तक में हस्तमैथुन की बुराइयों पर उ विचार पढ़े। उसमें एक जगह लिखा था कि हस्तमैथुन करने व्यक्ति को पागलपन हो जाता है। इस बात को जानकर उसके हृ को धक्का लगा। उसका हस्तमैथुन का अभ्यास तो छूट गया, पर उसे सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं वह पागल न हो जाये इस भय से वह जब परेशान हो गया तो उसने आत्महत्या करने विचार किया। इस प्रकार की उसकी चेष्टा पागलखाने में जाने बचने के लिये की गई थी। एक दिन उसने एक पिस्तौल में गोलियाँ भरीं और रात के समय जब वह अकेला अपने कमरे में आत्महत्या के हेतु अपने सीने की ओर पिस्तौल का मुँह करके छोड़ने लगा। जब पिस्तौल की पहली गोली छूटी तो वह उसकी की बाजू से उसके शर्ट को छेद करती हुई निकल गई। उसे कि प्रकार की चोट न आई। पर इस युवक ने सोचा कि गोली उस छाती के पार चली गई और उसकी मृत्यु अब निश्चित है। पिस्तौल अब भी चार गोलियाँ थीं। उन्हें उसने एक मोमबत्ती पर जो उस सामने जल रही थी छोड़ दिया। इसके बाद वह बेहोश होकर पर गिर पड़ा।

पिस्तौल की आवाज सुनकर आसपास के लोग दौड़े आये। उन्हें जब एक युवक को धराशायी देखा तो समझ लिया कि युवक ने आत्महत्या कर ली है। उन्होंने पुलिस को खबर दी। ने डाक्टरों द्वारा उसकी जाँच करवाई, पर देखा गया कि इस को कहीं चोट नहीं आई। यह बेहोश अवश्य था। जब उसे...

या तो वह अपनी आत्महत्या करने की बात के बारे में कुछ न
ता था। इस समय इस युवक का एक युवती के साथ प्रेम सम्बन्ध
चल रहा था। इस युवती ने इस युवक के प्रेम को प्रोत्साहन नहीं
या था। अतएव सभी लोगों ने इस युवक की आत्महत्या की चेष्टा
कारण प्रेम में निराशा होना समझा। पर कोई भी डाक्टर इस
क को स्वास्थ्य लाभ न करा सके।

अन्त में वह डाक्टर फ्रिज के पास लाया गया। उसके मनोवैज्ञानिक
ध्ययन से पता चला कि वह प्रेम में निराश होकर नहीं बरन् पागल
जाने के भय से आत्महत्या करना चाहता था। जब उससे पूछा
या कि उसने चार गोलियाँ मोमबत्ती की ओर क्यों चलाईं तो उसने
बता दिया कि मोमबत्ती से पिघल कर बहते हुए मोम को देखकर उसे
घोर घृणा उत्पन्न हुई। वास्तव में मोमबत्ती यहाँ जननेन्द्रिय की प्रतीक
थी और उससे पिघल कर निकलती हुई मोम वीर्यपात का प्रतीक था।
ह इसे नहीं देखना चाहता था। इसलिये ही उसने मोमबत्ती की ओर
ो कि जननेन्द्रिय की प्रतीक थी गोली दागी। यह उसी प्रकार की
तिक्रिया थी जिस प्रकार की कुछ नागा लोगों की प्रतिक्रिया होती है
जो इस प्रकार की उत्तेजना के कारण जननेन्द्रिय को काटकर ही
फेंक देते हैं।

जब उस युवक की स्मृति चेतना के ऊपर लाई गई और उससे
उसकी आत्म स्वीकृति कराई गई तो उसका सब प्रकार का स्नायविकता
जाता रहा। वहाँ युवक को पागलपन इसलिये ही उत्पन्न हुआ कि उसने
किसी डाक्टर की पुस्तक में हस्तमैथुन और पागलपन के सम्बन्ध की
बात के विषय में पढ़ा था।

एक और उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। यह उदाहरण
हेनरी विल्टर महाशय ने अपनी इन्ट्रोडक्शन टू साइकोएनालिसिस
(?) में दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के शारीरिक और

मानसिक स्वास्थ्य के ऊपर हस्तमैथुन सम्बन्धी शिक्षा से उत्पादित का भारी प्रभाव पड़ता है।

एक प्रबल बुद्धि का चौबीस वर्ष का शिक्षक एक बार हैनरी शि महाशय के पास मनोवैज्ञानिक सलाह लेने आया। यह युवक जब ‌ में जाता था तो पढ़ाते समय पसीने से भर जाता था। उसके हृदय धड़कन तेज हो जाती थी। यदि कोई विद्यार्थी कोई प्रश्न पूछते उसके होश हवास उड़ जाते थे। वह कुछ जवाब ही नहीं दे सक था। उसकी इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को जानकर उसके पुराने जी का अध्ययन किया गया। इस अध्ययन से पता चला कि वह पन्द्रह वर्ष का था तो हस्तमैथुन किया करता था। एक बार उसने द प्रतिष्ठित जर्मन डाक्टर की पुस्तक में निम्नलिखित वृत्तांत पढ़ा—

'जो व्यक्ति हस्तमैथुन करता है उसका दिमाग कमजोर हो जा है। उसे पहले तो स्वप्नदोष होते हैं फिर पीछे दिन को भी वीर्यपा होने लगता है। उसके कुछ दिन में ही सिर के सब बाल सफेद हो जा हैं। पीछे उसके दाँत गिर जाते हैं।'

उक्त वर्णन ने युवक के हृदय पर भारी प्रभाव डाला। उसका हस्तमैथुन तो छूट गया। पर अब उसे स्वप्नदोष और दिन को वीर्यपात तथा बाल सफेद हो जाने का भय दिन रात सताने लगा। कुछ दिन के बाद उसे स्वप्नदोष होना प्रारंभ हुआ। ये स्वप्नदोष साधारण है थे पर इनसे वह घबड़ा उठा। उसने इन्हें रोकने के लिये अनेक प्रकार की दवाइयों का सेवन करना आरंभ किया, पर कुछ लाभ न हुआ। कुछ दिन पश्चात्, मानो उस पुस्तक की बातें भविष्य-वाणी के रूप में थीं, उसे दिन को भी वीर्यपात होने लगा। इससे वह युवक और भी घबड़ाया। बीस वर्ष की आयु प्राप्त होते-होते उसके सिर के सभी बाल सफेद हो गये। इतना भला हुआ कि उसके दाँत नहीं टूटे, पर उसका हृदय इतना कमजोर हो गया था कि वह अपनी कक्षा के बालकों के

समक्ष भी भली प्रकार से खड़ा नहीं हो सकता था। मनोवैज्ञानिक विधि से उसका इलाज होने पर उसका रोग जाता रहा। वह अन्य शिक्षकों की तरह अपने काम में कुशल हो गया।

उक्त उदाहरण में युवक की दयनीय मानसिक और शारीरिक अवस्था आत्म-निर्देश के कारण उत्पन्न हुई थी। यह आत्म-निर्देश उस डाक्टर की पुस्तक से मिला जिसने बालकों तथा युवकों को हस्तमैथुन से रोकने के लिये उसके दुष्परिणाम बताये थे। यदि यह युवक इस पुस्तक को न पढ़ता तो सम्भव है कि वह हस्तमैथुन कुछ देर तक और करता रहता। पर यह निश्चित है कि उसे ऊपर बताये हुए नये शारीरिक और मानसिक रोग न होते।

हस्तमैथुन के रोकने की शिक्षा के दुष्परिणाम का एक उदाहरण लेखक के अनुभव में आया। एक सुशिक्षित धनी घर के युवक के बारे में लेखक को एक बार यह ज्ञात हुआ कि वह बड़ा निकम्मा हो गया है। वह सोचने लगा है कि उसके शरीर में कुछ भी बल नहीं है। उसको भ्रम हो गया था कि उसे साधारण पका हुआ भोजन नहीं पचता। उसने दूध और फल पर रहना प्रारंभ किया। वह किसी प्रकार की डाक्टरी चिकित्सा में विश्वास नहीं करता था। उसने डाक्टरी चिकित्सा की निन्दा सम्बन्धी अनेक पुस्तकें पढ़ ली थीं। वह स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास करता था। उसका विश्वास हो गया था कि उसका हृदय कमज़ोर हो गया है और अब उसके दिन गिने हुए हैं।

कभी-कभी उसके पेट में भारी दर्द हो जाया करता था। एक बार उसकी स्थिति बहुत ही बिगड़ गई। वह बिस्तर से उठ नहीं सकता था। ऐसी अवस्था में लेखक उसके पास बुलाया गया। इस युवक को इस समय नींद भी नहीं आती थी। वह डाक्टरों से चिढ़ता था।

डाक्टर लोग उसके शरीर में किसी प्रकार की बीमारी का निदान न पाते थे। घर के लोग भी परेशान हो गये थे।

इसे पहले पहल निर्देश-विधि का प्रयोग करके नींद लाई गई पीछे धीरे-धीरे उसके जीवन का अध्ययन किया गया। इससे ज्ञात हुआ कि जब यह युवक चौदह साल का था तब से हस्तमैथुन किया करता था। पीछे इसने एक प्रसिद्ध शिक्षा वैज्ञानिक की पुस्तक में, पढ़ा कि जो व्यक्ति हस्तमैथुन किया करते हैं उनका शरीर कमजोर हो जाता है, उनकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है। उनके पेट में भोजन पचाने की ताकत नहीं रहती। उनका हृदय कमजोर हो जाता है। यह बातें इस युवक ने छः वर्ष पूर्व पढ़ी थीं। पर इनका भय उसके मनमें बैठ गया था। रोगी से सहानुभूति से काम लेने से उसने अपनी सभी बातों की आत्म स्वीकृति की। इसके परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे उसका पेट का, फिर हृदय का और अन्त में सारे शरीर का रोग जाता रहा। वास्तव में उसका रोग आत्मनिर्देश के कारण ही उत्पन्न हुआ था जो एक अच्छे उद्देश्य से लिखी गई पुस्तक के पढ़ने से उत्पन्न हो गया था।

बालकों की काम चेष्टाओं के रोकने के उपाय

अब प्रश्न यह आता है कि बालक को किस प्रकार हस्तमैथुन से रोका जाय। यदि उसे हस्तमैथुन के दुष्परिणाम दिखाकर रोका जाना उचित नहीं तो उसे इस कुटेव से कैसे बचाया जा सकता है। लेखक से कितने ही किशोर बालकों के पिताओं ने यह प्रश्न किया है। उन्हें सन्देह होता है कि उनके बालकों को यह कुटेव पड़ गई है। इस बालक को मानसिक हानि पहुँचाये बिना इस कुटेव से उसे मुक्त कैसे किया जाय ?

इस प्रश्न के उत्तर में पहली बात तो यही कही जा सकती है कि बालकों के अभिभावकों को इस आदत के विषय में अत्यधिक चिन्ता न करनी चाहिये। जो पिता अपने बालकों के विषय में जितने ही अधिक

चिन्तित रहते हैं वे उन्हें दुराचरण में उतने ही अधिक डालते हैं। चिन्ता के कारण वे बालकों को मारपीट देते हैं। इससे यह आदत जटिल हो जाती है। बालक का अचेतन मन उस बात में अधिक रुचि लेने लगता है जिससे बालक को रोका जाता है। जब बालक का अचेतन मन किसी बात को करना चाहता है और उसका विवेक उससे उसे रोकता है तो इसमें हार विवेक की ही होती है। बालक अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसी काम में लग जाता है जिससे उसके अभिभावक उसे रोकते हैं। अतः बालक को इस आदत से बचाने के समुचित उपाय करना मात्र पर्याप्त है, उसके विषय में सदा चिन्तित रहना व्यर्थ ही नहीं अपितु बालक के व्यक्तित्व के लिये हानिकारक है।

पर यहाँ यह स्मरण कराना आवश्यक है कि बालकों के अभिभावक स्वयं जान बूझकर इस विषय की चिन्ता नहीं करते। अपने बालकों की बुरी आदतों के विषय में चिन्ता स्वयं अभिभावकों के अचेतन मन से उत्पन्न होती है। हस्तमैथुन की आदत पड़ना एक प्रकार की मानसिक जटिलता है। जिन बालकों को यह आदत पड़ती है उनके अभिभावकों में भी मानसिक जटिलता रहती है। अतएव यदि हम किसी किशोर बालक के पिता को यह कहें कि आप बालक की हस्तमैथुन सम्बन्धी बातों के विषय में अधिक चिन्तित न होवें क्योंकि यह आदत यदि बालक को पड़ गई है तो अपने आप ही छूट जायगी, तो उसको संतोष न होगा। वह और भी चिन्तित हो जावेगा। उसका अचेतन मन अपने पुराने अनुभव को स्मरण करता है। उसे भय रहता है कि इसी प्रकार का अनुभव उसकी सन्तान को कहीं न हो।

इस आदत से बचाने का दूसरा उपाय बालक को प्रसन्नचित्त, रचनात्मक काम करनेवाले, खेल-कूद में लगे रहनेवाले बालकों की संगत में डालना है। संगति का असर अवश्य पड़ता है। यदि बालक के साथियों की आदतें अच्छी हैं, उनका आदर्श ऊँचा है तो एक

विशेष बालक की आदतें भी स्वतः अच्छी हो जाती हैं। पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि हम बालक को दूसरे बालकों की सोहबत से अत्याधिक न रोकें। लेखक के एक मित्र ने अपने पुत्र को इसलिये स्कूल नहीं भेजा जिससे कि वह बुरी संगत में पड़कर अनुचित आदत अपने आप में न डाल ले। पर इस प्रकार बालक का अपनी उमर के साथियों से अलग किया जाना उसे लाभकर न होकर हानिकारक ही सिद्ध हुआ। यह बालक स्कूल के सहपाठियों के साथ रहने के बदले निकम्मे बालकों के साथ रहने लगा। इसके फलस्वरूप उसकी रचनात्मक कार्य करने की प्रवृत्ति का दमन हुआ और वह अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में पड़ गया। यह बालक स्वार्थी और विलासी बन गया।

कितने ही पिता अपने बालकों को उनसे बुद्धि में अच्छे बालकों की संगत में रखना चाहते हैं। वे अपने बालकों से कम-बुद्धि अथवा योग्यता के बालकों की संगति में नहीं रखना चाहते, क्योंकि इस प्रकार की संगति से उनके बालकों का कोई लाभ होता नहीं दिखाई देता। पर कितने ही बालक अपने से अधिक योग्य बालकों की संगति को पसन्द ही नहीं करते। इस प्रकार पिता और पुत्र में मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप दोनों का जीवन दुखी हो जाता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि नैतिक दृष्टि और चरित्र गठन की दृष्टि से जितना लाभ किसी बालक का अपने से कम योग्यता के बालक के साथ रहने से होता है उतना अपने से अधिक योग्यता के बालक के साथ रहने से नहीं होता। जो बालक अपने से कम योग्यता के बालकों के साथ इसलिये रहता है जिससे कि वह उनका आदर प्राप्त कर सके वह अपने आपको उनकी आँखों में कदापि नीचा न गिरायेगा। वह सदा अपने आपको ऊँचा रखने की चेष्टा करेगा। उसमें नेता बनने की इच्छा काम करेगी। उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास होगा

और उसकी बुरी आदतें अपने आप नष्ट हो जायँगी।

रचनात्मक काम में लगाये रखना बालक को हस्तमैथुन से रोकने का तीसरा उपाय है। बालकों को सदा खेल कूद, गाना, ड्रामा वाद विवाद, कविता बनाना आदि कामों में लगाये रखना चाहिये। जो बालक इन कामों में लगे रहते हैं उन्हें हस्तमैथुन करने की फुरसत ही नहीं रहती और फुरसत रहने पर उत्तेजना नहीं होती। जिन बालकों की मानसिक शक्ति का सदुपयोग नहीं होता उन्होंमें अनेक प्रकार की काम सम्बन्धी अनुचित आदतें पड़ती हैं। बालकों से जितना अधिक शारीरिक काम हो सके कराया जाना चाहिये। जो बालक शारीरिक काम में लगे रहते हैं उनमें प्रायः इस प्रकार की आदत नहीं पाई जाती। इसके लिये बालकों को खेल कूद में लगाये रहना उचित है। बालकों की उचित शारीरिक शिक्षा भी उन्हें हस्तमैथुन से बचाती है। शारीरिक शिक्षा के परिणाम स्वरूप बालक की अधिक शक्ति शरीर गठन के कार्य में खर्च हो जाती है, अतएव उसमें बाहर की ओर प्रवाहित होने की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस काम से बालक को आनंद नहीं मिलता उससे उसका कोई मानसिक लाभ नहीं होता। इस प्रकार का कार्य बालक को किसी भी बुरी आदत से मुक्त नहीं कर सकता। इतना ही नहीं इच्छा के प्रतिकूल सदा काम करने से बालक में बुरी आदतों के प्रति और भी अधिक प्रवृत्ति होती है। जो काम बालक आत्म-स्फूर्ति से करता है उसीसे उसे मानसिक लाभ होता है। ऐसा काम बालक में एक ओर आनंद उत्पन्न करता है और दूसरी ओर आत्म विश्वास की वृद्धि करता है। जिस बालक ने रचनात्मक कार्य के आनंद का आस्वादन कर लिया है और जिसे आत्म-विश्वास उत्पन्न हो गया है उसके मन में कोई भी दुर्व्यसन स्थान नहीं पाता।

बालक की किसी भी मूल प्रवृत्ति की तृप्ति दूसरी मूल प्रवृत्ति की मानसिक उत्तेजना को कमजोर कर देती है। मान लीजिये एक बालक किसी विशेष प्रकार की खोज में लगा है तो उसकी इस प्रकार की चेष्टा उसकी काम प्रवृत्तियों को कमजोर कर देगी। मानसिक शक्ति का प्रवाह उसी ओर होने लगता है, जिस ओर उसकी आवश्यकता होती है। यदि खोज के कार्य में अधिक शक्ति खर्च हुई तो उसका प्रवाह उसी ओर हो जावेगा, यदि द्वन्द्वात्मक कार्यों में उसका अधिक व्यय हुआ तो उस ओर उसका बहना प्रारम्भ हो जावेगा। इसी तरह खेल में लगे बालक की अधिक मानसिक शक्ति खेल के कामों में खर्च हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप काम चेष्टाओं में प्रकाशित होने के लिये अधिक शक्ति नहीं रहती। निकम्मे लोगों में ही हस्त-मैथुन और दूसरे प्रकार की आदतें अधिक पाई जाती हैं। किसी भी मूलप्रवृत्ति का प्रकाशन आनन्ददायक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि हम बालक के साधारण जीवन को जितना ही अधिक काम में लगा हुआ तथा सुखी बनाते हैं उतना ही हम उसे काम सम्बन्धी बुरी आदतों से मुक्त होने में सहायता देते हैं।

बालकों को विलासी जीवन से बचाकर रखना उन्हें इस आदत से बचाने का चौथा उपाय है। विलासी घर के बालकों में यह आदत सरलता से पड़ जाती है। कितने ही धनी घर के बालक नरम नरम गद्दों पर सोते हैं और सब प्रकार के तकियों को सोते समय काम में लाते हैं। कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे नरम तकिये बालकगण अपने पैरों के बीच में रखकर सोते हैं। इस प्रकार के तकिये बालक को हस्तमैथुन के लिये उत्तेजित करते हैं। स्टेनले हाल महाशय का कथन है कि बालकों को नरम नरम बिस्तर सोने को न दिये जायँ। विद्यार्थियों को चारपाई पर न सुलाकर चौकी पर ही सुलाना चाहिये। प्राकृतिक भोजन, प्राकृतिक दृश्य और प्राकृतिक रहन-सहन काम-वासना को

नियमित करते हैं, अतएव जितना ही बालकों के जीवन को प्राकृति
बनाया जाता है उतनी ही उनकी काम वासना की उत्तेजना कम होत
है। मसालेदार अथवा अति मीठे और खट्टे भोजन के पदार्थ काम
वासना के उत्तेजक होते हैं, इसी तरह सिनेमा के अश्लील चित्रों
देखना तथा तेल फुलेल का सेवन काम उत्तेजक होते हैं। बालकों
इनका प्रचार उनके लिये हानिकारक होता है। बालकों के जीवन
जितनी ही सादगी हो उतना ही अच्छा है।

व्यभिचार की आदत

आधुनिक मनोविज्ञान के कथनानुसार बालक की निम्नलिखि
काम प्रवृत्ति की चार अवस्थायें होती हैं।

(१) स्वाश्रित भोग की प्रवृत्ति
(२) समलिंगी भोग की प्रवृत्ति
(३) विषमलिंगी बहुभुकता
(४) सन्तानोन्मुखी भोग की प्रवृत्ति।

उक्त चार अवस्थाओं में मनुष्य के प्रेम के विषय भी भिन्न भि
होते हैं। जिस व्यक्ति से किसी व्यक्ति की काम इच्छा तृप्त होत
उसे वह प्यार करने लगता है। आधुनिक मनोविज्ञान के कथनानु
मनुष्य के ऊपर से निस्वार्थ दिखाई देने वाले प्रेम के पीछे भी क
वासना क्रियमाण रहती है। बचपन की अवस्था में बालक अ
आपको ही प्रेम करता है और उसकी कामवासना भी अपने-आप
ही आरोपित रहती है। यदि किसी व्यक्ति का मानसिक विकास
से हुआ है तो वह शीघ्र ही अपने-आपको प्यार करने की अव
को पार कर जाता है। बालक अपनी शैशवावस्था में अपने-आ
ही प्यार करता है। किन्तु जब उसकी शैशवावस्था में उसकी
प्रेम की भावना का दमन होता है, तो आगे चलकर जब वह कि

वस्था में प्रवेश करता है तो उसके आत्मप्रेम का पुनरावर्तन हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप बालक अपने आप में ही मग्न रहनेवाला हो जाता है। ऐसे ही बालक में हस्तमैथुन की आदत पड़ जाती है। हस्तमैथुन अपने शरीर को अत्याधिक प्रेम करने का परिणाम है। अपने आपको प्रेम करनेवाला बालक अपने शरीर का बड़ी रुचि के साथ शृङ्गार करता है, कई बार अपना मुँह दर्पण में देखता है, उसे सदा यह भावना रहती है कि वह बहुत ही सुन्दर है। वह अपनी किसी बात की आलोचना के लिये बहुत डरता है; अतएव प्रायः वह अकेला रहना ही पसन्द करता है। ऐसे बालक की कामशक्ति अपने ऊपर ही आश्रित रहती है। किशोर अवस्था में इस प्रकार कामशक्ति का अधिक देर तक स्वाश्रित रहना मानसिक प्रतिगमन की स्थिति को दर्शाता है।

समलिंगी प्रेम

जब किशोरावस्था में कामवासना का उदय होता है तो पहले पहल बालक में उसके शिशुकाल की प्रवृत्ति का पुनरावर्तन होता है, पर थोड़े ही समय में बालक इस स्थिति को पार कर जाता है और वह अपने आपको प्रेम करने से संतुष्ट न होकर दूसरे बालकों के प्रेम का इच्छुक हो जाता है। इससे आगे चलकर वह स्वयं भी दूसरे बालकों को प्रेम करने लगता है। किशोरावस्था के मध्यकाल में प्रत्येक बालक का एक विशेष मित्र अथवा सखा रहता है। इस सखा से वह अपनी सभी बातें कह डालता है और वह जिस ओर उसे ले जाना चाहता है ले जाता है। यदि बालक की नैतिक शिक्षा उचित न हुई तो दो सखाओं में कामवासना के भाव भी जाग्रत हो जाते हैं और उनमें आपस में कामचेष्टायें होने लगती हैं। यहाँ अभिभावकों और शिक्षकों के समक्ष बड़ी ही कठिन समस्या आ जाती है। यदि किशोर बालक को दूसरे बालकों से अलग रखा जाय तो वह संवेगों की दृष्टि से अपनी शैशवावस्था की स्थिति में ही बना रहता है। जिस बालक के संवेगों

का विकास रुक जाता है उसका अन्य प्रकार का मानसिक विकास भी रुक जाता है। साथ ही साथ बालक में हस्तमैथुन की आदत पड़ जाती है, पर यदि बालक को दूसरे बालकों के साथ विचरण करने दिया जाय और उसे अपने सखा के साथ जैसा वह चाहता है रहने दिया जाय तो उसके भावों का विकास तथा अन्य प्रकार का मानसिक विकास तो होगा, किन्तु उसके समलिंगी कामभोग में पड़ जाने की भी संभावना रहती है। इसके प्रति अभिभावकों को विशेष रूप से सतर्क रहना आवश्यक है।

समलिंगी प्रेम से हानि

जिस प्रकार हस्तमैथुन से मानसिक-क्षति होती है उसी प्रकार समलिंगी प्रेम जब एक भोग का रूप धारण कर लेता है और बालक में किसी कुटेव का कारण बन जाता है तो उसके मानसिक विकास को रोक देता है। कभी-कभी इसके कारण मनुष्य में अपनी प्रौढ़ावस्था में पागलपन भी आ जाता है। जब बालक का मानसिक विकास उचित रूप से होता है तो बालक का सखाभाव प्रबल भोगेच्छा का रूप नहीं धारण करता; वह शुद्ध प्रेम तक ही सीमित रह जाता है। किन्तु मानसिक विकास के रुकावट की अवस्था में यह प्रेम कामचेष्टाओं में परिणत हो जाता है और ये कामचेष्टायें आदत का रूप ले लेती हैं। जब कोई कामचेष्टा आदत का रूप ले लेती है तो वह व्यक्ति की उन्नति के लिये बाधक बन जाती है।

प्रबल स्वलिंगी प्रेम विषमलिंगी प्रेम के उदय होने में बाधक होता है। किशोर बालकों में स्वलिंगी प्रेम स्वाभाविक है। इसीके कारण स्वलिंगी भोगेच्छा का भी उदय होता है। किन्तु एक युवक में इस प्रकार के प्रेम की प्रबलता का होना उसके लिये हानिकर होता है। इसके कारण नवयुवक अपनी प्रेमिका अथवा पत्नी को उचित प्रेम नहीं दे सकता, वह थोड़े ही संदेह में अपनी स्त्री के सतीत्व में अविश्वास

करने लगता है और उसे कष्ट पहुँचाने और त्यागने को तत्पर हो जाता है। कभी-कभी स्वलिंगी प्रेम की प्रबल भावना मानसिक नपुंसकता और पागलपन का कारण हो जाती है। युवा अवस्था के आने पर स्वलिंगी प्रेम की भावनायें मनुष्य के चेतन मन में नहीं रहतीं; मनुष्य की नैतिक तथा आत्म सम्मान की भावना उनका दमन करती है। किन्तु वे उसके अचेतन मन में स्थान पा लेती हैं और वहाँ से मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की झंझटें उत्पन्न करती रहती हैं।

इस प्रसंग में फ्रायड महाशय का अपनी पुस्तक इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-एनालिसिस में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है:—

डाक्टर फ्रायड के पास एक तीस वर्ष की अवस्था का एक युवक ऐसा लाया गया जिसको अचानक विक्षिप्तता हो गई थी और जिसके दाहिने हाथ में लकवा हो गया था। यह युवक फौज में डाक्टर था। अपनी विक्षिप्त अवस्था में उसने एक फौज के अफसर को पिस्तौल से मार डालने का प्रयत्न किया था। इस अफसर पर पिस्तौल चलाते समय ही उसे हाथ में लकवा हो गया और इस कारण से वह उस अफसर पर गोली न चला सका। गोली चलाते समय ही पिस्तौल हाथ से छूटकर गिर पड़ी।

इस युवक के मनोविश्लेषण के द्वारा पता चला कि उसके चेतन और अचेतन मन में भारी अन्तर्द्वन्द था। जिस व्यक्ति के ऊपर वह पिस्तौल चलाने के लिये उतारू हुआ था, वह उसका किशोर अवस्था में बड़ा घनिष्ट मित्र था। जब दोनों व्यक्ति किशोरावस्था में थे तो वे एक साथ पढ़ते थे और बोर्डिंग के एक ही कमरे में रहते थे। वे एक दूसरे को इतना अधिक प्यार करते थे कि कोई भी कभी अकेला नहीं रहता था। कभी कभी वे साथ खाते पीते और सोते भी थे। ऐसी अवस्था में इन दोनों मित्रों में काम-वासना उत्तेजित हो जाती थी।

इसके परिणाम स्वरूप वे काम चेष्टा में भी लग जाते थे। इस समलिंगी-कामचेष्टा के संस्कार उक्त युवक के मन में दृढ़ हो गये थे और इसके कारण उसमें विषमलिंगी काममावना का उदय भी नहीं हो सका था।

किशोरावस्था के पार करने पर उक्त युवक अपने समलिंगी प्रेम के लिये आत्मग्लानि का अनुभव करने लगा। इससे उसकी समलिंगी प्रेम की भावना का दमन हो गया। पर किसी भी भावना के आत्मग्लानि द्वारा एकाएक दमन होने से वह भावना व्यक्ति के अचेतन मन में चली जाती है और वहाँ वह शान्त न होकर बलवान बनने की चेष्टा करती है। समलिंगी प्रेम भावना फिर अपना रूप बदल कर व्यक्ति के आचरण में प्रकाशित होने लगती है। जो व्यक्ति पहले स्वयं समलिंगी प्रेम में तथा समलिंगी कामचेष्टाओं में फँसा रहता है वही व्यक्ति इस प्रकार के प्रेम तथा कामचेष्टा में फँसे रहनेवाले व्यक्तियों की नुक्ताचीनी किया करता है। उसमें दूसरे के आचरण में इस प्रकार के दोष खोजने की बड़ी तीव्र दृष्टि होती है। कभी कभी वह अपने ही पहले प्रेमी को बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखने लगता है और उसका प्राणान्त कर देना चाहता है। इस प्रकार के व्यक्ति में एक प्रकार की मानसिक नपुंसकता भी आ जाती है जिसके कारण वह किसी युवती से प्यार नहीं कर पाता। इस मानसिक नपुंसकता का कारण अचेतन मन में पुराने प्रेम की प्रबलता ही होती है। जब व्यक्ति के चेतन मन में एक प्रकार के भाव का उदय होता है, पर उसके अचेतन मन में उसके प्रतिकूल भाव की प्रबलता होती है तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण मनुष्य किसी भी काम में सफल नहीं होता।

उक्त युवक सूना, अकेला रहने वाला व्यक्ति बन गया। वह किसी युवती को प्यार नहीं करता था। एक बार एक युवती उसके रूप को देखकर मोहित हो गई और वह उससे विवाह करना

चाहती थी। उक्त युवक के मन में भी उस युवती से विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई। अतएव उनमें आपस में घनिष्ठता बढ़ने लगी। एक बार जब दोनों व्यक्ति एक दूसरे के गले में हाथ डाले टहल रहे थे तो उक्त युवक को एकाएक ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी व्यक्ति ने उसके मस्तिष्क में पीछे से छूरा भोंक दिया है। वह चिहुँक पड़ा और वह उस महिला के प्रति अपने प्रेम को भूल गया। अन्त में उस महिला से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

जब यह युवक लड़ाई में डाक्टरी का काम कर रहा था तो उसे अनेक बार भ्रम हो जाता था कि उसका पुराना मित्र उसके विरुद्ध षड्यंत्र कर रहा है, वह उसे अपने पद से नीचे गिराना चाहता है और मार डालना चाहता है। जब रूस की कुछ फौजें जर्मनी तक आ गईं तो उसे भ्रम हो गया कि उसका पुराना मित्र रूस के लोगों के साथ अपने देश के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहा है और उसने उन फौजों को जर्मनी की सीमा तक आने में सहायता दी है। इसकी रिपोर्ट उसने बड़े फौजी दफ्तर को भी दी। पर जब इसकी जाँच की गई तो उसका प्रमाण कुछ भी न मिला। अन्त में आफिसरों ने उस युवक की उक्त धारणा को एक भ्रममात्र समझ कर उस घटना के ऊपर कोई ध्यान न दिया।

अन्त में उक्त युवक ने अपने पुराने मित्र को अपने आप मार डालने का निश्चय किया। उसकी धारणा थी कि यदि उक्त व्यक्ति का प्राणान्त कर दिया जाय तो उसका जीवन ही सुखी न हो जायगा वरन् देश का भी भारी लाभ होगा। इस मनोवृत्ति से वह उसे भरी पिस्तौल लेकर मारने चला। किन्तु ज्योंही उसने पिस्तौल का कुन्दा दबाया त्योंही पिस्तौल के बाहर गोली निकलने के बदले उसका हाथ लकवे से बेकाम हो गया। पिस्तौल नीचे गिर पड़ी और वह भी बेहोश होकर नीचे गिर पड़ा।

इस प्रकार की घटना का क्या कारण था ? एक ओर उक्त युवक का चेतन मन अपने पुराने मित्र से घृणा करता था और दूसरी ओर उसके अचेतन मन में उसके प्रति प्रबल प्रेम था। जब वह अपने चेतन मन की प्रेरणा के अनुसार अपने पुराने मित्र को मारने चला तो उसका अचेतन मन सावधान हो गया और इस प्रकार का अनर्थ होने से उसने उसे रोक दिया। साथ ही साथ उसने उक्त व्यक्ति को अपने आन्तरिक भावना के प्रतिकूल काम करने के लिये दण्ड भी दिया। उसे विक्षिप्तता और लकवा दोनों प्रकार की बीमारियाँ एक साथ हो गईं। मनोविश्लेषण चिकित्सक के सामने जब उक्त युवक ने आत्म-स्वीकृति की तो उसके पुराने भावों का रेचन हो गया। उस युवक के चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित हो गया। इसके पश्चात् वह एक साधारण व्यक्तियों के समान युवक बन गया।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि प्रबल समलिंगी प्रेम व्यक्ति के मानसिक विकास में बाधक होता है। जब इस प्रकार के प्रेम का आत्मग्लानि के कारण एकाएक दमन होता है तो वह अचेतन मन में स्थान पा लेता है और उसकी प्रबलता बढ़ जाती है। जिस चेष्टा को कोई व्यक्ति पाप समझ कर भूल जाने का प्रयत्न करता है वह उसके अचेतन मन का एक अङ्ग बन जाती है। उससे मुक्त होने के लिये उसके प्रति सहज उपेक्षा का भाव रखना आवश्यक होता है। जब समलिंगी प्रेम चेतन मन में रहता है तो अपने साथी के प्रति प्रेम-भाव रहता है और जब इस प्रकार के प्रेम-भाव का दमन होता है तो वह व्यक्ति के अचेतन मन में चला जाता है और पुराने प्रेमी के प्रति अथवा उसी प्रकार के व्यक्तियों के प्रति वह घृणा के रूप में प्रगट होती है। पर प्रबल समलिंगी प्रेमभावना चाहे वह व्यक्ति के चेतन मन में अथवा उसके अचेतन मन में रहे विषमलिंगी प्रेम के उदय में बाधक होता है।

समलिंगी चेतन मन का प्रबल प्रेम किस प्रकार विषमलिंगी प्रेम की वृद्धि में बाधक होता है, यह शेक्सपियर के हैमलेट नामक नाटक से स्पष्ट होता है। हैमलेट का श्राफेलिया के साथ प्रेम में असफल रहने का, तथा उसके जीवन में असफल रहने का प्रधान कारण समलिंगी प्रेम था। हैमलेट का होरेशियो के प्रति प्रबल प्रेम ही उसके श्राफिलिया के प्रति प्रेम की वृद्धि में बाधक हो गया था। जब किसी व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रेम की कमी होती है तो उसकी दृष्टि उसके दोषों की ओर जाती है, इसके प्रतिकूल जब प्रेम-भाव की प्रबलता होती है तो दूसरे के चरित्र के दोष तथा अन्य प्रकार के दोष दिखाई ही नहीं देते। श्राफिलिया की प्रेम-चेष्टाओं के विषय में हैमलेट के मन में अनुचित भ्रम इसलिये ही उत्पन्न हुआ कि उसके आन्तरिक मन में श्राफिलिया के प्रति प्रेम का अभाव था और इस प्रेम के अभाव के कारण ही उसने अपनी प्रेमिका के ऊपर अनेक प्रकार के चरित्र के लांछन लगाये, जिससे कि उस बिचारी ने आत्महत्या कर डाली। जिस प्रकार हैमलेट अपने प्रेमिका के प्रेम में असफल रहा, इसी तरह वह जीवन में भी असफल रहा। दोनों प्रकार की असफलता का एक प्रधान कारण उसका समलिंगी प्रेम था।

समलिंगी प्रेम के प्रभाव में रहने वाले व्यक्ति का विवाहित जीवन प्रायः सफल नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति प्रायः घर से भागने की इच्छा रखता है और जहाँ तक हो सकता है वह अपना समय घर के बाहर व्यतीत करता है। ऐसे व्यक्तियों की स्त्रियों को प्रायः हिस्टीरिया की बीमारी हो जाती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि मानसिक विकास की दृष्टि से जिस प्रकार हस्तमैथुन उतना बुरा नहीं जितना बुरा उसके सम्बन्ध में बालकों के मन में भय उत्पन्न करना है, इसी प्रकार समलिंगी प्रेम भी उतना बुरा नहीं होता जितना कि बुरा इस प्रकार के प्रेम के प्रति आत्म-

भर्त्सना की भावना होती है। हस्तमैथुन की प्रवृत्ति का दमन अकारण आत्मभर्त्सना और आत्महत्या की भावनाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार समलिंगी प्रेम की प्रवृत्तियों का दमन दूसरों के प्रति दोष दृष्टि और उन्हें ताड़ना देने की इच्छा में परिणत हो जाता है। समलिंगी प्रेम का दमन मानव जाति के प्रति घृणा और निर्दयता के भावों के उदय का कारण होता है। इससे अनिद्रा, भयंकर स्वप्न, चलते-फिरते स्वप्न और अकारण भय तथा चिन्तायें उत्पन्न होती हैं।

समलिंगी व्यभिचार रोकने का उपाय

आजकल किशोर बालकों में समलिंगी व्यभिचार की वृद्धि हो गई है। इसका एक कारण भारतवर्ष में पश्चिमी सभ्यता का प्रवाह भी है। आधुनिक काल के छात्रावासों में समलिंगी व्यभिचार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। परन्तु हमें यह हमारे देश की शिक्षा की विशेषता ही न मान लेना चाहिये। विदेशों में भी इसी प्रकार के व्यभिचार पाये जाते हैं। पर जहाँ पश्चिम के विद्वानों ने इस प्रकार के व्यभिचारों का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया है और इसे रोकने के अनेक उपाय बताये हैं, हमारे देश के शिक्षा महारथी प्रायः इस समस्या को अपनी दृष्टि से ओझल करने में ही अपनी बुद्धिमानी समझते हैं। यदि समलिंगी व्यभिचार बुरा है तो उससे डर कर उसके विषय में न सोचना और भी बुरा है। हमें इसे रोकने का मनोवैज्ञानिक उपाय सोचना चाहिये।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य की किसी भी कुटेव को एकाएक रोकना उसके व्यक्तित्व को लाभ न कर हानि करना है। जिससे बालक कुटेवों में न पड़े इसके लिए अभिभावकों को पहले से ही इस विषय में सतर्क रहना पड़ेगा। इसके लिए बालकों को पहले तो ऐसे अवसर ही न दिये जायें जिससे उन्हें किसी प्रकार के व्यभिचार का प्रलोभन हो।

फिर उनका चित्त सदा किसी न किसी स्वास्थ्यवर्धक तथा बुद्धि के विकास करनेवाले काम में लगाये रहें। जिस बालक की मानसिक शक्ति पढ़ने लिखने, व्यायाम करने तथा खेल-कूद में खर्च हो जाती है उसे किसी प्रकार के व्यभिचार की उत्तेजना नहीं होती। किसी काम को सफलतापूर्वक कर लेने से मनुष्य का आत्मविश्वास और आत्मसम्मान का भाव बढ़ता है। जिस व्यक्ति का आत्मविश्वास और आत्मसम्मान का भाव समुचित रूप से विकसित रहता है वह किसी प्रकार की कामवासना सम्बन्धी कुटेवों में नहीं पड़ता और यदि बुरी संगत में पड़कर वह किसी कुटेव में पड़ भी जाय तो उससे वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। सदा रचनात्मक काम में लगे रहने के कारण उसे अपने पुराने कुकृत्य के लिये अपने आपको सदा कोसते रहने के लिये भी अवसर नहीं मिलता और न उस ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। निकम्मा आलसी बालक ही एक ओर अनेक प्रकार के व्यभिचारों में पड़ता है और दूसरी ओर वह अपने कुकृत्य के लिये अपने आपको कोसते रहता है, जिससे उसकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है और वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है।

जिन बालकों को किसी प्रकार की कुटेव पड़ गई हो उन्हें कठिन शारीरिक काम में तथा खेल-कूद में लगाना अत्यन्त आवश्यक है। कामवासना के शोध में जितना शारीरिक परिश्रम तथा अन्य शारीरिक व्यवसाय उपयोगी सिद्ध होते हैं बौद्धिक परिश्रम अथवा व्यवसाय सिद्ध नहीं होते। जो बालक सदा खेल-कूद में लगा रहता है वह दूसरे बालकों से हिला-मिला भी रहता है। जब किसी प्रकार की मानसिक व्यथा ऐसे बालक के मन में उत्पन्न हो जाती है तो वह अपने साथियों को भी उसे कहता है। इस तरह आत्मग्लानि उत्पन्न करनेवाली भावना का रेचन हो जाता है। जो बालक खेल-कूद में भाग नहीं

लेते उनकी मानसिक शक्ति का प्रवाह रुका रहता है और वह अपने प्रकाशन के लिये कोई विकृत मार्ग को ग्रहण कर लेती है। दूसरे, सच्चे मित्रों का अभाव रहने के कारण उसके मानसिक विकारों का किसी प्रकार भी रेचन नहीं होता। इससे उसके मानसिक विकार भयानक रोग का रूप धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि शिष्ट धनी घर के बालकों में मानसिक रोगों का बाहुल्य पाया जाता है।

समलिंगी काम व्यभिचार को रोकने के लिये एक उपाय बालक और बालिकाओं की सहशिक्षा है। जब किशोर बालकों के प्रेम के प्रवाह के लिये प्राकृतिक मार्ग मिल जाता है तो उनमें अप्राकृतिक चेष्टाओं की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। जिस प्रकार का अभ्यास उसके जीवन के आरंभकाल में हो जाता है उसी ओर उसका मन मुड़ जाता है। फिर एकाएक मन के रुख को बदलना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। अतएव पहले से ही मन की शक्ति के प्रवाह को उचित मार्ग की ओर ले जाना बुद्धिमानी है। जो लोग मानसिक शक्ति का सर्वथा दमन करना चाहते हैं, वे मन को वश में करने की मनोवैज्ञानिक विधि से काम नहीं लेते। मानसिक शक्ति का मार्गान्तरीकरण और शोध होना संभव है, उसका दमन होना संभव नहीं। हमारे देश में सहशिक्षा के मानसिक विकास में उपयोगिता पर यथेष्ट विचार नहीं किया गया है पर संसार के प्रमुख मनोवैज्ञानिक सहशिक्षा को बालकों की काम-शक्ति को सुचारु रूप से प्रवाहित होने के लिये आवश्यक समझते हैं।

जिन बालकों में किसी प्रकार की कुटेव के कारण मानसिक ग्रंथि उत्पन्न हो गई है उनके साथ बड़ी सावधानी और सहानुभूति से काम लेना आवश्यक है। कुटेव का दमन करना सरल है किन्तु इस दमन से पैदा हुई मानसिक अवस्थाओं को सुलझाना [illegible] स्वयं बालक की बौद्धिक वृद्धि और उसका [illegible]

अनुचित कामचेष्टाओं को दमन करते हैं। पर इस प्रकार के दमन बालक में आत्मभर्त्सना की भावना उत्पन्न होती है और जब व अपनी आत्मग्लानि को भुलाने की चेष्टा करता है तो अनेक प्रकार पागलपन की उत्पत्ति हो जाती है। जब तक बालक को अपने पुरा कुकृत्य स्मृत रहते हैं और उनके लिये वह आत्मग्लानि का अनुभ करता है तब तक उसको अपनी दयनीय मानसिक अवस्था से मुक्त करना सरल होता है, किन्तु जब उसकी आत्मग्लानि की भावना अचेतन मन में स्थान कर लेती है और वह उनको स्मृत भी नहीं रहती तब मानसिक समस्या जटिल हो जाती है। पहली अवस्था में बालक से सहानुभूति रखने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति उसकी सहायता कर सकता है, किन्तु दूसरी अवस्था में मानसिक-चिकित्सक और मनो विज्ञान के विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है।

जब बालक किसी प्रकार की कामचेष्टा को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और अपने पुराने कुकृत्य के लिए आत्मग्लानि का अत्यधिक अनुभव करे तो उसकी मानसिक कंशट को अन्त करने के लिये यह आवश्यक है कि बालक में आत्मविश्वास बढ़ाया जाय। उसे यह बताना आवश्यक होता है कि जिस कृत्य को वह घोर पाप समझता है वह सामान्य प्राकृतिक क्रिया है और उसके लिये अपने-आपको कोसना व्यर्थ है। कभी कभी बालक के सम्पूर्ण दृष्टिकोण और नैतिक भावनाओं में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के नैतिक परिवर्तन के परिणाम स्वरूप बालक की अचेतन मन की भावनायें उसके चेतन मन के समक्ष आ जाती हैं और उसकी मानसिक व्यथा का अन्त हो जाता है।

नैतिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से यह कदापि न समझ लिया जाय कि बालक को पाशविक जीवन के लिये अथवा व्यभिचार के लिये प्रोत्साहित किया जाय। जो बालक व्यभिचार में लगे हुए हैं उन्हें

व्यभिचार के दुष्परिणाम को दर्शाना आवश्यक है; उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देना चाहिये ताकि वे अपने आपको अपने कुकृत्यों से रोक सकें। किन्तु जो बालक अपने पुराने कृत्यों के लिये अपने आपको कोसते हों उन्हें ऐसा उपदेश देना आवश्यक है जिससे वे अपने आपको कोसना बन्द कर दें। यदि अपने आपको कोसने की प्रवृत्ति का अन्त नहीं किया जायगा तो बालक की इच्छाशक्ति बिल्कुल निर्बल हो जायगी और वह विक्षिप्तता का शिकार हो जायगा। अतएव बालक के समक्ष अनेक उदाहरण देकर यह बताना आवश्यक होता है कि जिस कार्य को वह अप्राकृतिक कार्य अथवा घोर पाप समझता है वह असामान्य कार्य नहीं है। प्रकृति में ऐसे कार्य होते ही रहते हैं और इनके होते हुए भी मनुष्य की प्रतिभा का विकास होता है। इस तरह के विचार से एक ओर बालक की कुकृत्य की प्रवृत्ति शान्त हो जाती है, क्योंकि उसका चेतन मन ही स्वयं इसका विरोधी रहता है और दूसरी ओर उसकी आत्मभर्त्सना की प्रवृत्ति का भी अन्त हो जाता है।

अब प्रश्न यह आता है कि कामवासना सम्बन्धी बातों पर बालकों से क्लास में चर्चा की जाय अथवा नहीं? इस विषय में भी दो मत हैं। कुछ लोगों के कथनानुसार कामवासना सम्बन्धी बातों पर क्लास में चर्चा होनी चाहिये और हमारा विचार है कि कामवासना सम्बन्धी बातों की चर्चा क्लास में करना उचित नहीं है, किन्तु इनके विषय में बालकों को सम्पूर्ण अज्ञात रखना भी ठीक नहीं है। बालक-गण दूसरे बालकों से कामवासना सम्बन्धी अनेक बातें सीख लेते हैं जिसके कारण उनकी भारी मानसिक क्षति होती है। जो बात किसी व्यक्ति को चुपके से कही जाती है उसका खुले आम कहने की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। बालक के मन में काम चेष्टा संबन्धी अनेक प्रकार के भ्रमों की इसी प्रकार उत्पत्ति होती है, जिनके कारण बालक को अनेक प्रकार की मानसिक यंत्रणा भोगनी पड़ती है। अभिभावकों और

शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालकों के ऐसे भ्रमों का उन्हें बड़े तुलाकर निवारण करें। जब किसी बालक के व्यवहार में कोई विचित्र दिखाई पड़े तो उसके अभिभावकों को उसका कारण जानने का प्रयत्न करना चाहिये ताकि आगे चलकर उसका रोग भयंकर रूप धारण न करे। रोग की चिकित्सा उसकी प्रारंभिक अवस्था में करना सरल होता है। जब यही रोग जटिल हो जाता है तो उसकी चिकित्सा बड़ा कठिन होता है। इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक प्रतिभाशाली शिष्ट घर के किशोर बालक में अपने साथियों से अलग रहने की चेष्टा बढ़ती हुई दिखाई दी। इस बालक की माँ उसके शिशुकाल में ही मर चुकी थी और उसके पिता अपने आपको सदा सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में लगाये रहते थे। उन्हें बालक के व्यवहारों की विलक्षणता पर ध्यान देने की फुरसत तक न थी। कुछ काल के बाद बालक का स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। पीछे उसका पढ़ाई में भी मन नहीं लगने लगा। उसने बिना मेट्रिकुलेशन पास किये ही पढ़ना-लिखना छोड़ दिया। उसके पिता ने उसे व्यापार में लगाना चाहा, परन्तु इसमें भी उसका मन न लगा। इसी समय उसमें एक नई आदत आ गई। उसे हाथों को बार-बार धोने की हठ उत्पन्न हो गई। शौच जाने के बाद वह बीसों बार मट्टी से हाथ धोता था। इससे उसके नौकर परेशान हो जाते थे। पर इस बालक की बढ़ती हुई बीमारी का अब भी कोई उपचार नहीं किया गया। उसका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बढ़ता ही गया।

हाल ही में इस बालक को जो अब नवयुवक हो चुका है हिन्दू-मुसलमानों के दंगों का भय उत्पन्न हो गया। वह जहाँ जाता था अपने साथ पिस्तौल ले जाता था। उसे सदा भय रहता था कि कहीं मुसलमान उसपर हमला न कर दें। एक बार वह अपने घर से एक

नगर में गया जहाँ हिन्दू-मुसलमान का दंगा हो रहा था। वहाँ पहुँचने पर उसका भय और चिन्ता सीमा से अधिक बढ़ गये। उसकी चेतना इनका सामना न कर सकी और वह विक्षिप्त हो गया। जिस समय यह लिखा जा रहा है यह युवक विक्षिप्त अवस्था में है।

यदि उक्त युवक के व्यक्तित्व का मनोविश्लेषण विधि से अध्ययन किया जाय तो हम उसकी बीमारी का कारण किशोर अवस्था में कामवासना सम्बन्धी उद्वेगात्मक अनुभव तथा उन अनुभवों के सम्बन्ध में भ्रम को ही पावेंगे। इस समय इस युवक की अवस्था दयनीय है। वह नर घातक पागल बन गया है। और उसकी चिकित्सा करना कठिन है। पर रोग की प्रारम्भिक अवस्था में बालक के भ्रम को हटाकर सरलता से रोग की चिकित्सा की जा सकती थी।

सोलहवाँ प्रकरण

सिगरेट पीने की आदत

सिगरेट की आदत का कारण

सिगरेट पीने की आदत हमारे देश के बहुत से किशोर बालकों में पाई जाती है। जब बालक का बाहरी वातावरण भला होता है, उसके सामने ऊँचे आदर्श होते और उसके अभिभावक बालक के आचार व्यवहार के बारे में सचेत रहते हैं तो यह आदत अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही स्वतः नष्ट हो जाती है। परन्तु जब बालक का वातावरण दूषित रहता है उसके अभिभावक उसके आचरण के विषय में सचेत नहीं रहते अथवा जब बालक के मन में कोई जटिल मानसिक ग्रन्थि रहती है तो यह आदत जब एक बार किसी प्रकार लग जाती है तो छुड़ाये भी नहीं छुटती। जिन माता पिता को अपने संतान की इस आदत का पता देर में लगता है और फिर वे उसे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं तो प्रायः अपने प्रयास में असफल ही होते हैं। उनके इस प्रकार के प्रयत्न से केवल पिता-पुत्र का संघर्ष ही बढ़ता है जिससे अनेक दूसरे प्रकार की जटिलतायें बालक के जीवन में आ जाती हैं।

बालक को सिगरेट पीने की आदत प्रायः अपने दोस्तों साथियों से मिलती है। कभी-कभी अपने अभिभावक की नकल से भी यह आदत पड़ जाती है। यह किसी भी बुराई की जड़ वातावरण में न रहकर उस मानसिक परिस्थिति में ही रहती जो किसी प्रकार के दोष का स्थापन करती है। सिगरेट पीने वाले बालक का मन प्रायः दुःखी रहता है। उसके मन में द्वन्द्व चलते रहता है। मान लीजिये एक

का बालक को उपदेश देना न केवल व्यर्थ ही है वरन् हानिकारक भी है। बालक ऊपरी मन से इस प्रकार के उपदेश को सुनेगा, पर उसका भीतरी मन इस प्रकार के उपदेश से क्रुद्ध ही होगा। इस तरह बालक की मानसिक जटिलता बढ़ती ही जायगी।

यदि बालक की किसी बुराई को उसका अभिभावक निकालना चाहता है तो इसके लिये उसे पहले बालक और उसके बीच के द्वेष भाव को नष्ट करना होगा। उसे बालक को इतना प्यार दिखाना पड़ेगा कि बालक का आन्तरिक मन संतुष्ट हो जाय। पर प्रायः जटिल बालक के अभिभावक स्वयं ही जटिल होते हैं। वे अपने दोषों को देख ही नहीं सकते। किसी भी व्यक्ति को घृणा और कठोरता दिखाकर नैतिकता में ऊँचा नहीं उठाया जा सकता उसके प्रति प्रेम दिखाकर ही उसे नैतिकता में ऊँचा उठाया जा सकता है। जटिल बालक के अभिभावक में प्रायः यह क्षमता ही नहीं रहती कि वह अपने संरक्षित के प्रति प्रेम प्रदर्शन कर सके। इस तरह न तो बालक का सुधार होता है और न उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अन्त होता है। जो पिता अपने आप भारी नैतिकता का अभिमान रखता है और अपने पुत्र को आदर्शवान् व्यक्ति बनाना चाहता है वह किसी की सलाह मानने को भी तैयार नहीं रहता। ऐसे ही पिता की संतान में अनेक प्रकार की जटिलतायें आ जाती हैं और फिर वे किसी प्रकार छुड़ाये नहीं छूटतीं। इनके उपचार के लिये बालक के मानसिक परिवर्तन करने की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि पिता के मानसिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

लेखक के पास एक किशोर बालक हाल ही में भेजा गया। उसका पिता उसकी सिगरेट पीने और चोरी करने की आदत से परेशान हो जाता है। इसके कारण पिता-पुत्र में भारी संघर्ष रहता है। कभी-कभी पुत्र इसके कारण घर छोड़कर भी भाग जाता है। उसका पिता

कुछ दिनों पूर्वतक उसे अपनी बुरी आदतों के लिये पीटा भी करता था। इससे उसकी कोई बुरी आदत न छूटी ; उसने घर से भाग जाना और सीख लिया। इस बालक की माता पहले ही शैशवावस्था में मर गई थी। माता में सिगरेट पीने की आदत थी। पिता इस आदत को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं सिगरेट नहीं पीता था। जब बालक बारह-तेरह वर्ष का हुआ तो उसने सिगरेट पीना प्रारंभ कर दिया। इसका पता जब पिता को चला तो पिता ने पुत्र को डाँट-डपट कर, मार-पीट कर सिगरेट की आदत से मुक्त करना चाहा पर वह इसमें असमर्थ रहा। उसमें चोरी की आदत और लग गई।

यदि हम बालक की सिगरेट की आदत जटिल होने का मनोवैज्ञानिक कारण खोजें तो इसको पिता के सिगरेट पीने के प्रति भावना में पायेंगे। बालक की माँ सिगरेट पीती थी और इसके कारण पिता उनसे रुष्ट ही रहते थे। बालक इसे अपनी शैशवावस्था में देखता है। उसके इस प्रकार के अनुभव के संस्कार उसके अचेतनमन में थे। अतएव बालक के अचेतन मन ने पिता को दुःखी बनाने के लिये ठीक उसी बात को चुना जिससे पिता सबसे अधिक घृणा करता है। जैसे-जैसे पिता पुत्र की सिगरेट की आदत को छुड़ाने का यत्न करता गया वह और भी जटिल होती गई। बालक सिगरेट का पीना उसका अपनी माँ के प्रति अपने प्रेम का प्रतीक है। सिगरेट के द्वारा बालक का अचेतन मन अपनी माँ से एकत्व स्थापित करता है। पिता इस एकत्व को छुड़ाना चाहता है। ऐसी अवस्था में पिता के प्रति विरोध का भाव बढ़ने से अधिक हो [illegible] [illegible] है। जब बालक की माँ [illegible] [illegible] होना है कि उसके प्रति पिता का विरोध प्रेम नहीं था। यदि विरोध प्रेम होता तो [illegible] इसकी [illegible] को अवश्य छुड़ाने में समर्थ होता। बालक [illegible] पिता को [illegible] से ही अधिक प्यार करता है। अतएव

यदि पिता-माता में संघर्ष हो तो यह संघर्ष बालक के चेतन और अचेतन मन के संघर्ष में सरलता से परिणित हो जाता है। फिर यह पिता-पुत्र के संघर्ष में प्रकाशित होता है। बालक के अचेतन मन पर माता का अधिकार रहता है और उसके चेतन मन पर पिता का। बालक में किसी प्रकार का सुधार होना असंभव है जब तक कि हम उसके अचेतन मन को प्रभावित न करें। इसके लिये पिता को माता के प्रेम प्राप्ति की आवश्यकता होती है। जो पिता अपनी पत्नी के पूरे प्यार को प्राप्त नहीं कर सका है वह संतान के प्रेम प्राप्ति में और उनके चरित्र में किसी प्रकार का सुधार करने में भी असमर्थ रहता है।

कितने ही बालकों में सिगरेट पीने की आदत कामवासना के दमन के परिणाम स्वरूप आ जाती है। बालक में काम क्रीड़ाओं में रुचि का कारण प्रायः बालक का दुःखी जीवन ही होता है। पिता-पुत्र के संघर्ष की अवस्था में, अथवा किसी प्रकार जीवन की कठोरता की अवस्था में बालकों में यह आदत लग जाती है और फिर बालक के प्रयत्न करने पर भी यह छुड़ाये नहीं छूटती। जब यह आदत छूटती है तो कोई दूसरी वैसी ही वर्जित आदत बालक को लग जाता है। सिगरेट पीने की आदत वर्जित होने के कारण काम-क्रीड़ा का प्रतीक बन जाती है। यदि पिता इस आदत से बहुत ही रुष्ट हो और बालक को चोरी से सिगरेट पीना पड़े तो यह आदत काम क्रिड़ाओं का पूरा प्रतीक बन जाती है। अतएव इस आदत को छुड़ाने का प्रयत्न करना निरी मूर्खता होती है। जब तक बालक की कामवासना की समुचित तृप्ति नहीं होती, अथवा उसका पूर्णरूपेण शोध नहीं होता इस आदत का छूटना असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

कुछ दिन पूर्व लेखक से एक चालीस वर्ष का सन्यासी अपने मानसिक रोग के विषय में परामर्श कर रहा था। इसके मनमें अनेक प्रकार की जटिलतायें थीं। उसने एक बात जो अपने बारे में बताई और

जिससे वह परेशान था, वह उसकी सिगरेट पीने की आदत थी। उसने लिखा कि इस आदत को, जिस सम्प्रदाय का वह साधु है, उसमें बुरा माना जाता है और दूसरे लोगों से छुपकर ही उसे सिगरेट पीना पड़ता है। वह प्रयत्न करता है कि उसे वह छोड़ दे पर वह सर्वथा इसमें असफल रहा। यह साधु बड़ा त्यागी, परस्वार्थी और विद्वान् है। पर उसकी आदत से वह हार गया। इसका कारण खोजने से पता चला कि यह उसकी दबी कामवासना का प्रतीक है। वह अपने युवा अवस्था में ही किसी काम-कृत्य से घृणा हो जाने के कारण घर छोड़ के भाग गया था। पर उसकी कामवासना शान्त न हुई। उसने उसको दबाने का पूरा प्रयत्न किया और अपने आचार को ठीक भी रखा। उसने अपने चेतन मन के विचारों का नियंत्रण भी करने का पूरा प्रयत्न किया। फिर यह कठोर नियंत्रण मानसिक रोग में परिवर्तित हो गया। उसका सिगरेट पीना उसके किसी वर्जित काम करने का प्रतीक मात्र है। वह इसे छुड़ाने का प्रयत्न करने से छुड़ा नहीं सकता क्योंकि उसकी जड़ उसके अचेतन मन में है और चेतन मन से मनुष्य का अचेतन मन सदा प्रबल रहता है। यदि कोई व्यक्ति अचेतन मन के विरुद्ध काम करने की ठान ही ले तो वह उस काम में कदापि सफल न होगा। वह अनेक भूलें करेगा और यदि उसने संघर्ष जारी रखा तो वह पागल भी हो जायगा। यदि उक्त साधु उस आदत को बुरा मानना छोड़ दे तो संभव है कि वह अपने आप ही छूट जाय। इसी प्रकार यदि किसी बालक में सिगरेट पीने की आदत कामवासना के दमन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो गई है तो उसे हम बुरा न मानकर उस आदत से बालक को मुक्त करने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु जितना ही हम ऐसी आदत को बुरा कहेंगे यह आदत और भी जटिल होती जायगी।

कभी-कभी बालक में सिगरेट पीने की आदत आत्महीनता की

मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रिया होती है। यह आत्महीनता की ग्रन्थि घर में समुचित प्यार न मिलने के कारण किसी प्रकार रूप, रंग, धन, सामाजिक सम्मान में कमी आदि के कारण उत्पन्न हो जाती है। बालक देखता है कि सम्मानित लोग ही सिगरेट आदि पीते हैं। अत एव उसका अचेतन मन सिगरेट पीने को बड़े कहाने और सम्मानित होने का सूचक मान लेता है। जब किसी बालक का पिता अथ उसकी माता स्वयं सिगरेट पीती है, और बालक जब सिगरेट पी आरंभ करता है तो इसे बालक का मन द्वेष के भाव से देखता। ऐसे बालक में यह आदत जटिल बन जाती है। लेखक के एक संरि धनी घर के बालक में सिगरेट पीने की आदत इसी प्रकार आ उसका पिता स्वयं धूम्रपान करता था, पर बालकों को धूम्रपान क की आज्ञा नहीं थी। इस आज्ञा का पालन उसके दूसरे भाइयों ने किया, पर उस बालक ने चोरी से सिगरेट पीना जारी कर दिया। इस आदत के लिये बुरी तरह कई बार पिता के द्वारा पीटा गया। उसकी यह आदत जटिल होती ही गई।

इस आदत की जड़ की खोज करने पर पता चला कि उसे पि का अथवा घर के लोगों का उतना प्यार नहीं मिलता था जित उसके दूसरे भाइयों को मिलता था। बालक की माँ बचपन में, शैशवाव में ही मर गई थी। अब उसे सौतेली माँ के पास रहना पड़ता था। इस ही बालक को पाला था। सौतेली माँ बड़ी कर्तव्यपरायण महिला है। कोई स्त्री कितनी ही भली क्यों न हो वह अपने बालक को तो दूसरे बालक से अधिक प्रेम दिखाती ही है और इसके परिणामस्व बालक के मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता ही है। यही ईर्ष्या भाव आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि बन जाता है। ऐसा बालक दु में भी उतना विकास नहीं कर पाता जितना सामान्य बालक कर पा है, फिर उसमें कोई ऐसी आदत लग जाय जो झूठे महत्व की सूचक

तो वह उसे छोड़ नहीं पाता। प्रत्येक व्यक्ति का अचेतन मन महत्वाकांक्षी रहता है। जब किसी व्यक्ति को सचमुच महत्व रखनेवाली बातों की क्षमता नहीं होती तो वह झूठे महत्व से ही संतोष करता है। अर्थात् जब कोई बालक अपने गुणों से अपने स्वजनों का ध्यान आकर्षित करने और उनका प्रेम प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो वह अपने ऐबों के द्वारा ही उनका ध्यान आकर्षित करता है और प्रेम के बदले उनकी घृणा प्राप्त करने से ही संतोष करता है। प्रेम और घृणा के भाव एक दूसरे के पूरक हैं। जब प्रेम प्राप्ति की मानसिक प्रवृत्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल नहीं होती तो वह प्रतिगामी बनकर घृणा के भाव में परिवर्तित हो जाती है। इस तरह प्रेम का भाव ही रूपान्तरित होकर घृणा के भाव में प्रकाशित होता है। अतएव जब तक बालक की मानसिक परिस्थिति में परिवर्तन नहीं हो जाता अर्थात् जब तक उसकी मानसिक शक्ति को आगामी फिर से नहीं बना दिया जाता, उसकी किसी प्रकार की जटिल आदत का अन्त नहीं होता। इसके लिये बालक को पर्याप्त प्रेम के वातावरण में रखना निश्चित आवश्यक है।

बालक में सिगरेट पीने की आदत उसके अत्यन्त लाड़ रखने के कारण उत्पन्न हो जाती है। माता पिता के पुत्र के प्रति अत्यन्त लाड़ दिखाने के परिणाम उतने ही बुरे होते हैं जितने कि अति कठोरता के परिणाम। दोनों प्रकार के व्यवहार के ही कारण बालक में आत्म-निर्भरता की शक्ति नहीं आती। जब बालक को लाड़ में रक्खा जाता है और उसकी इच्छाओं की पूर्ति तुरन्त कर दी जाती है तो उसमें इच्छाशक्ति की दृढ़ता नहीं आती है। ऐसा बालक न तो किसी प्रकार की बाहरी कठिनाई का वीरता से मुकाबला कर सकता है और न आन्तरिक कठिनाई का। वह किसी भी आवेग अथवा प्रबल इच्छा के प्रवाह में बह जाता है। लाड़ में पले हुए बालक को सरलता से कोई भी बुरा काम करने को प्रलोभित किया जा सकता है। इस प्रसंग

में लेखक से पत्र-व्यवहार करनेवाले एक नवयुवक की सिगरेट पीने की आदत लगने का जो उन्होंने स्वयं लिखा है उल्लेखनीय है—

"मेरे शाला जाने योग्य होने पर मुझे स्थानीय शाला में प्र कराया गया। इसी शाला में मेरे पूज्य पिताजी भी शिक्षक थे। शि का पुत्र होने के नाते शाला का हर एक बालक मुझे सम्मान की ह से देखता था। शिक्षक का भय भी इसका एक कारण था। दू शिक्षकों का व्यवहार भी मेरे प्रति दूसरे बालकों से भिन्न था। शा का प्रत्येक बालक का मुझसे भयभीत सा रहना तथा अपने अनुचि कार्यों का उचित दण्ड न पाने के कारण मुझमें उच्छृंखलता का भा आ गया था। जब मैं ऊँची कक्षा में गया तो बहुत से विद्यार्थी मे कृपा के भूखे रहते थे। वे मुझ से किसी न किसी प्रकार का सम्ब स्थापित कर लिया करते थे। जिन बालकों से मेरी मित्रता रहती थे उन्हें मार खाने का अवसर कम रहता था। ऐसे जितने ही मित्र होते थे सभी अच्छे नहीं होते थे। इनमें से कुछ धूम्रपान करनेवाले भी थे। उन्होंने मित्रता निभाने का एक सरल मार्ग निकाला। वे मुझे बिड़ी पिलाने लगे। बिड़ी मैंने पहले कभी नहीं पी थी। परन्तु धीरे-धीरे मुझमें बीड़ी पीने की आदत पड़ गई। इन मित्रों के रहते हुए मुझे इस आदत के लिए एक पैसा खर्च नहीं करना पड़ा। जब इनका साथ छूटा तब मुझे इस आदत के कारण झूठ बोलने और चोरी करने का आश्रय लेना पड़ा। मैं अपने इन सब ऐबों को इस तरह छिपाये रहा कि घर के लोगों को मेरी आदतों का किंचित् पता न चला।"

उपर्युक्त वृत्तान्त का लेखक घर का इकलौता बेटा है। उसके किसी दोष के प्रति उसके पिता की दृष्टि जाना सम्भव ही नहीं। अतएव उसकी नशाखोरी की आदत बढ़ती ही गई। इस बालक को पीछे इस नशाखोरी की आदत को छोड़ने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ा। जब उसमें सामाजिक भावों का उदय हुआ और वह धूम्रपान के लिए

ाने मित्रों द्वारा ही अपमानित होने लगा तो प्रयत्न करने पर उसकी
गादत छूट गई। साधारणतः लाड़ले बालकों में सामाजिक भावों का
ी समुचित विकास नहीं होता। अतएव जब कोई बुरी आदत ऐसे
ालक में लग जाती है तो उसका छूटना बड़ा मुश्किल होता है।
ाड़ में पले बालकों की इच्छा शक्ति कमजोर हो जाने के कारण उनमें
मनेक प्रकार के मानसिक रोगों का आगमन सरलता से हो जाता है।

सिगरेट पीने की आदत उन बालकों में शीघ्रता से भर जाती है
ेन्हें माँ बाप का समुचित प्रेम नहीं मिलता। जिस बालक के सौतेली
माँ होती है वह किसी न किसी तरह धूम्रपान करने अथवा अन्य प्रकार
की नशाखोरी में पड़ जाता है। माता के बचपन में मर जाने पर
और पिता के कठोर नियंत्रण में रहने से भी बालक में नशाखोरी की
प्रवृत्ति होती है।

धूम्रपान करने का एक प्रमुख कारण बालक की कामवासना का
दमन होता है। कामवासना के दमन से बालक को आन्तरिक असन्तोष
होता है। उसका मन सदा अन्तर्द्वन्द की अवस्था में बना रहता है।
धूम्रपान करने से बालक को इस आन्तरिक असन्तोष की विस्मृति सी
हो जाती है। कामवासना किशोरावस्था में जाग्रत होती है और इसी
समय उसका अधिक दमन भी होता है। अतएव किशोर बालकों में ही
अपने मानसिक क्लेश को भुलाने के लिए धूम्रपान की आदत लगती
है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बीड़ी अथवा सिगरेट आदि पीना
कामवासना को प्रतीक रूप से तृप्त करने का एक साधन है।

बालकों के अचेतन मन का विशेष रूप से अध्ययन करनेवाले
आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डित अलफ्रेड एडलर महाशय का कथन
है कि उन्हीं बालकों में धूम्रपान करने की प्रवृत्ति प्रबल होती है जिनके
आन्तरिक मन में आत्महीनता का भाव रहता है। धूम्रपान करना
बड़े होने का प्रतीक बालक का अचेतन मन मान लेता है। क्योंकि

इसे बड़ी उमर के ही लोग पीते हैं, छोटे नहीं। जिस बालक का व्यक्तित्व दबा हुआ रहता है, उसमें किसी न किसी प्रकार बड़े बनने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। जब ऐसा बालक किसी योग्य काम को करके अपनी योग्यता को सिद्ध करने में असफल रहता है तो वह किसी ऐसे अयोग्य काम को ही करने लगता है जो कि वयस्क लोग शान्ति के साथ करते हैं। इस तरह जिन बालकों की पढ़ने लिखने में अथवा चरित्र में निन्दा होती है उनमें धूम्रपान की आदत शीघ्रता से लग जाती है। और फिर यह आदत उनके यत्न करने पर भी नहीं छूटती।

बालक की अनेक बुरी आदतों का अन्त उसे रचनात्मक कामों में लगाकर हो सकता है। इससे उसकी अवरुद्ध मानसिक शक्ति का शोध होता है। रचनात्मक काम करने से बालक को रचनात्मक आनंद की अनुभूति होती है। जिस बालक को पवित्र आनंद का स्वाद मिल जाता है वह फिर झूठे और दोषयुक्त सुखों के पीछे नहीं दौड़ता। धीरे-धीरे वह ऐसी सभी आदतों से मुक्त हो जाता है जिससे वह समाज में अपना आत्म-सम्मान खोता है। पर बालक को रचनात्मक कार्य में लगाने के लिये प्रोत्साहन देते रहना आवश्यक है। उसके कामों की सहृदयतापूर्ण प्रशंसा करते रहना चाहिये। इस प्रकार प्रोत्साहित होने से बालक अपना खोया हुआ आत्म-विश्वास प्राप्त कर लेता है। इसके साथ-साथ उसका आत्म-सम्मान का भाव भी जाग्रत हो जाता है। फिर उसमें अपने आप पर नियंत्रण रखने की क्षमता भी आ जाती है। इसके आने पर न केवल उसमें एक बुरी आदत का अन्त हो जाता है, वरन् अनेक बुरी आदतों का अन्त हो जाता है। सभी बुरी आदतों का कारण आत्म-नियंत्रण की कमी होती है और सभी भली आदतों का आधार आत्म-नियंत्रण का प्राप्त होना होता है।

सत्रहवाँ प्रकरण

चरित्र-गठन

वंश परंपरा का प्रभाव

चरित्र मनुष्य के वंश परम्परा और वातावरण की प्रतिक्रियाओं का कार्य है। वंशानुक्रम के कारण मनुष्य में कार्य करने की स्फूर्ति तथा शक्ति आती है। जिन बालकों के माता-पिता हृष्ट-पुष्ट तथा बली होते हैं उनकी संतान भी हृष्ट-पुष्ट तथा बली होती है। इसके कारण बालक स्वस्थ रहते हैं। स्वास्थ्य चरित्र-गठन के लिए परमावश्यक वस्तु है। रोगी मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा, निराशामय, कामुक आदि दुर्गुणों से युक्त रहता है। जिस मनुष्य में अपने शरीर को सँभालने की शक्ति नहीं रहती उसमें अपने मन को वश में करने की भी शक्ति नहीं होती। उपनिषद में कहा गया है कि बलहीन मनुष्य को निःश्रेय की प्राप्ति नहीं होती है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। अतएव चरित्रवान् बनने के लिए बल और स्वास्थ्य की परमावश्यकता है। यह बल प्रारम्भ में माता-पिता की देन होती है जो हमें वंशानुक्रम से उपलब्ध होती है।

चरित्र विकास में वंशानुक्रम का उतना प्रभाव नहीं होता जितना कि वातावरण का। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य अपने चरित्र के लिए स्वयं जिम्मेदार है। यदि मनुष्य को भली प्रकार से अपने मन को वश में करने की शिक्षा दी गई है तो वह चरित्रवान होगा, अन्यथा दुराचारी होगा। अतएव किसी बालक को चरित्रवान् तथा चरित्र विहीन बनाना शिक्षा तथा वातावरण पर निर्भर है। प्रायः देखा गया

है कि कुसंगति में पड़कर सदाचारी लोगों के भी बालक दुराचारी हो जाते हैं। क्या हम नहीं देखते कि वीर पुरुषों की सन्तान कायर हुई और कायरों की वीर। यह शिक्षा और संगति का ही प्रभाव है। वास्तव में वंशानुक्रम का जितना प्रभाव शरीर की बनावट और बुद्धि के ऊपर पड़ता है उतना चरित्र के ऊपर नहीं पड़ता। चरित्र-गठन में उन सब वातावरण की प्रतिक्रियाओं का प्रभाव पड़ता है जिनके सम्पर्क में बालक भी आता है। माता-पिता और परिवार के लोगों का आचरण, धर्म संस्थायें, पाठशालायें, बालक की पाठ्य-पुस्तकें और देश के वातावरण का प्रभाव चरित्र-गठन पर पड़ता है। जिस समाज में उपर्युक्त सभी बातों की सुव्यवस्था है वहाँ के लोगों का चरित्र अच्छा है; जहाँ इसका अभाव है वहाँ दुश्चरित्र-मनुष्यों का आधिक्य होता है। यहाँ हम ऐसी कुछ बातों पर प्रकाश डालेंगे जिसके द्वारा माता-पिता और शिक्षक अपने बालकों का चरित्र-गठन कर सकते हैं। बालक के प्रारम्भिक शुभ-संस्कार, कहानियाँ, इतिहास और वीरगाथायें, उपन्यास और सिनेमा तथा रुचि-विकास पर विचार किया जायगा।

प्रारम्भिक-संस्कार

चरित्र गठन में प्रारम्भिक शुभ-संस्कारों का बड़ा महत्व है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो अच्छे घर में पैदा हुए बालक को भाग्यवान् मानना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य का जीवन बचपन के वातावरण से प्रभावित हो जाता है जैसे किसी पेड़ की डाली को जब तक वह नरम है हम जिधर चाहें सरलता से झुका सकते हैं। किन्तु कड़ी हो जाने पर नहीं मोड़ सकते, यही हाल बच्चों के जीवन की है। हम बच्चों को जैसा चाहें बना सकते हैं, किन्तु बड़ों के जीवन में वैसा परिवर्तन करना सम्भव नहीं।

माता-पिता को लड़कपन से बच्चों में सुन्दर संस्कार और आदर्श

रखनी चाहिए। जो बालक सुन्दर वातावरण से घिरा रहता है उसकी रुचियाँ सुन्दर हो जाती हैं। ऐसे बालक में सुन्दर आदतें डालना सरल हो जाता है। प्रारम्भिक संस्कारों का बालक के जीवन में कितना महत्व है यह हमारे पुराणों में वर्णित प्रह्लाद, अभिमन्यु आदि के जीवन से भली भाँति स्पष्ट होता है। प्रह्लाद ने हरिभक्ति और अभिमन्यु ने युद्ध-कुशलता गर्भावस्था में ही प्राप्त कर ली थी। उनके जन्म के बाद के संस्कार उनकी जन्म-जात प्रवृत्तियों को दृढ़ करते हैं। माता-पिता के भले-बुरे विचार बालक के मन को गर्भावस्था में ही प्रभावित करते हैं। लार्ड लिटन ने अपनी न्यूट्रेजर नामक पुस्तक में यह दर्शाया है कि जो बालक माता-पिता की अनिच्छा से पैदा होते हैं उन्हें भावी जीवन में दमा आदि बीमारियों का सामना करना पड़ता है।

बालक को चरित्र से सुगठित होने के लिये प्रथम यह बात आवश्यक है कि माता-पिता घर में किसी प्रकार का कलह न होने दें। जो माता-पिता आपस में लड़ा करते हैं वे अपने बालक के जीवन को कितनी हानि पहुँचाते हैं कहा नहीं जा सकता। कोई कोई बालक घर का ऐसा वातावरण देखकर संसार से ही निराश हो जाते हैं और अपना जीवन सदा ही निराशा में व्यतीत करते हैं। कितने ही बालक क्रूर और आलसी होते हैं।

कहानियों का महत्व

बच्चों के चरित्र-गठन में कहानियों का बड़ा महत्व है। प्रत्येक सभ्य समाज में ऐसी कहानियों का प्रचार रहता है जो एक तरफ तो मनोरञ्जक होती हैं और दूसरी ओर बालकों को सुन्दर शिक्षा देती हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि की कहानियों का इसीलिए निर्माण किया गया है कि उनसे बालकों को लड़कपन से ही नैतिक शिक्षा दी जा सके। बालक जानवरों के किस्से बड़े चाव से सुनते हैं। अभिभावकों को बालक की इस प्रवृत्ति का उपयोग उसके चरित्र-गठन में करना हितकर है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक नामक पुस्तक में इस बात पर जोर दिया है कि बालकों के लिए लिखी गई कहानियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय। अच्छी कहानियों को ही प्रकाशित होने दिया जाय, बुरी कहानियों को कदापि न प्रकाशित होने दिया जाय। जिन कहानियों में यह दिखलाया जाता है कि देवता दुराचार करते हैं तथा महात्मा लोग ईर्ष्या-द्वेष से जलते हैं, ऐसी कहानियाँ बालकों को कदापि न सुनाई जायँ, क्योंकि इससे बालकों के चरित्र पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। साक्रेटीज का कथन है कि या तो देवता हैं ही नहीं या हैं तो सदाचारी हैं। दुराचारी देवताओं की कल्पना करना अपने दुराचारों को छिपाने का एक उपाय है। प्लेटो महाशय आदेश करते हैं—कि राष्ट्र के अधिकारियों को चाहिये कि वे दाइयों को सुन्दर, शिक्षाप्रद कहानियाँ जानने को प्रोत्साहित करें, जिससे वे ऐसी कहानियाँ बालकों को सुनाकर उनके चरित्र को भली भाँति बनावें।

इतिहास का महत्व

जिस प्रकार छोटे बालकों के चरित्र-गठन में कहानियाँ लाभदायक होती हैं उसी प्रकार किशोर बालकों के लिए इतिहास के वीर पुरुषों की गाथाएँ लाभकारी होती हैं। मनुष्य का मन जिस प्रकार के कल्पना जगत में भ्रमण करता है, उसका आचरण तथा चरित्र उसी प्रकार का हो जाता है। रामायण में वर्णित भ्रातृ प्रेम, पितृ-भक्ति, गुरु भक्ति ने जिनके मन पर प्रभाव जमा लिया, क्या ऐसा व्यक्ति किसी स्वार्थ लाभ के लिए अपने भाई और पिता की हत्या करने के लिए तैयार होगा? शिवाजी की माता जीजाबाई ने पुराने वीरों की गाथायें सुना सुनाकर शिवाजी को देशोद्धार करने वाला पुरुष सिंह बना दिया। यदि हम ढूँढ ढूँढकर अपने इतिहास के वीरों की गाथायें किशोर बालकों को सुनावें तो हम 'सतयुग' को फिर एक बार लौटा सकें। मनुष्य स्वभावतः बड़े पुरुषों का आदर किया करता है। जो बालक

इतिहास के पठन-पाठन से हमारे देश के बालकों का कदापि चरित्र-गठन नहीं हो सकता, इसके विपरीत चरित्र का ह्रास ही होता है।

वीरपूजा

चरित्र-गठन में वीर पुरुषों की पूजा का बड़ा महत्त्व है। वे वीर पुरुष चाहे आजकल के हों या पुराने समय के। जिस तरह आग से आग जलती है उसी तरह वीर-पुरुष अपने उदाहरण से अनेक लोगों को वीर बना देता है। हमें अपने देश के प्राचीन काल के वीरों की जयंतियाँ मनानी चाहिये। ऐसे अवसर पर उनके जीवन की मुख्य घटनायें बालकों को सुनायी जानी चाहिये। कृष्ण-जन्माष्टमी, राम-नवमी का महत्त्व इसीमें है कि वे हमारे देश के अद्भुत आदर्श व्यक्तियों की जीवनियों को स्मरण कराती हैं। इसी तरह प्रताप-जयन्ती, शिवाजी-जयन्ती, गुरुगोविंद-जयन्ती आदि देश में मनायी जानी चाहिये। सौभाग्य से हमारे देश में आज-दिन भी ऐसी महान् आत्माएँ जीवित हैं, जिनके ऊपर देश-वासियों को अभिमान हो सकता है।

उपन्यास और सिनेमा

आज उपन्यास और सिनेमा जितना युवकों तथा युवतियों के मन को आकर्षक लगते हैं, उतने आकर्षक और कोई विषय नहीं लगते। इसके लिए उन पर योग्य नियन्त्रण की आवश्यकता है। उपन्यासों द्वारा रूस के लेखकों ने देश में वह आग लगाई, जिसके कारण जारशाही जलकर भस्म हो गई। उन्होंने भाग्य पर अटल रहनेवाले, पुरुषार्थ-हीन व्यक्तियों में साहस और कर्तव्य-परायणता का संचार किया। जो रूस योरोपीय देशों में असभ्य गिना जाता था उसी की कृपा-दृष्टि दूसरे देश चाहने लग गये थे। बँगला में आनन्द-मठ ने जो राष्ट्रीय लहर प्रवाहित की वह सबको विदित ही है। इस प्रकार के उपन्यासों का बाहुल्य यदि देश की प्रत्येक भाषा में होता तो देश और का और हो

| होता। उपन्यासों द्वारा देश के सामाजिक, राजनैतिक तथा
ंक जीवन में सम्पूर्ण क्रान्ति की जा सकती है। किशोर बालक के
त्र गठन का यह बड़ा सुन्दर साधन है।

सिनेमा से भी अनेक प्रकार की प्रशस्त शिक्षायें प्राप्त की जा
ती हैं। कान से सुनी बात की अपेक्षा आँख से देखी बात का
व मनुष्य के हृदय पर अधिक पड़ता है। यदि सिनेमा-संसार का
ा-कल्प करके उससे शिक्षा-प्रद, वीर, त्यागी, देशभक्त, सत्य-निष्ठ
दि पुरुषों के चरित्रों को दिखाया जाय, तो देश में फिर नये प्रभात
आलोक फैल जाय और तुमुल तिमिर के स्थान पर प्रकाश छा
य। इस समय रुपया उगाहने के लिए कुछ वैभवशाली, विलासी
ों के मनोरञ्जन के सामान इनमें अधिक पाये जाते हैं। जो बालक
युवक फिल्मों में प्रदर्शित परिरम्भण, चुम्बन और हाव-भावों को
ाबाजी देखेगा उसके मन में अवश्य ही ये विचार उद्भूत हो जायँगे।
लिकगण चोरी के दृश्य को देखकर चोरी करने के हथकण्डे से परिचित
। जाते हैं।

रुचियों का विकास

जर्मन-शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट का कथन है कि मनुष्य का चरित्र
उसकी रुचियों के विकास और विस्तार पर निर्भर रहता है। शिक्षा का
परम उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए
बालक की रुचियों को विकसित तथा विस्तृत करना चाहिये। मनुष्य
अपनी रुचियों के अनुसार संसार के अनेक प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त
होता है और उसका आचरण ही उसके चरित्र का निर्माण करता है।
रुचियाँ मनुष्य के ज्ञान पर निर्भर रहती हैं। जो मनुष्य मन में जिस
प्रकार की बातें सोचा करता है, उसकी रुचि भी उसी प्रकार की हो
जाती है, और यह रुचि के अनुसार आचरण भी करने लगता है।
सुन्दर चरित्र के लिए ज्ञान-विस्तार अति आवश्यक है।

जाता है। अब हमें देखना है कि बालक में मानसिक दृढ़ता और संयम की वृद्धि कैसे हो सकती है।

बालकों में संयम का उदय धीरे-धीरे हो सकता है। एकाएक नियन्त्रण करने से उनका चरित्र-बल दृढ़ न होकर निर्बल हो जाता है। बालकों के खाने खेलने की इच्छा की अवहेलना हमें कभी न करनी चाहिये। ऐसा करने से बालकों का व्यक्तित्व सदा के लिए निर्बल हो जाता है। वही बालक अपने आप पर नियन्त्रण रख सकता है, जिसकी साधारण शारीरिक भूख तृप्त हो गई है। जिस बालक को मिठाई खाने को ही नहीं मिलती, वह मिठाई मिलने पर अपने को कैसे रोक सकता है?

बालकों में आत्म-नियन्त्रण बढ़ाने का सुन्दर उपाय मारगन और गिल्बर्ट महाशयों ने यह बताया है कि बालक की किसी भी इच्छा का पूर्ण दमन न कर उसकी तृप्ति का समय हटा दिया जाय। मान लीजिए, बालक आपके साथ बाजार जाता है, वह बहुत-सी वस्तुएँ देख कर उन्हें लेने की इच्छा प्रकट करता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालक की चाही हुई वस्तुओं को खरीद लें, पर उससे कह दें कि घर पहुँच कर खावे। इस प्रकार बालक कुछ काल तक अपने ऊपर नियन्त्रण करना सीख जाता है। इसी तरह यदि कोई बालक किसी खिलौना के खेल को देखना चाहता है तो उसे आदेश दे कि 'दूसरे दिन जाना'। इस प्रकार बालकों में अपने आप पर नियन्त्रण करना आ जाता है। जिन बालकों की इच्छाओं की तृप्ति बिल्कुल नहीं होती और जिनकी इच्छाओं की तृप्ति तुरन्त हो जाती है वे दोनों बालक अभागे ही हैं। दोनों में आत्म-नियन्त्रण और चरित्र-विकास नहीं होगा।

बालकों के दुर्गुणों के हटाने का सुन्दर उपाय उन्हें अच्छे काम में लगाये रखना है। जिस [illegible] के [illegible] [illegible] कोई [illegible] नहीं। [illegible] [illegible] है। [illegible]

अपना भला कर सकता है और न दूसरों का। निकम्मे मनुष्य को दुनियाँ बुरी ही बुरी दिखाई देती है। उसमें कायरता, क्रूरता, ... आदि अनेक दुर्गुण आ जाते हैं। बेकार समय में वह इन्हीं विषयों ... सोचा करता है।

प्रोत्साहन

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हमें बालकों को सदा उद्योगशील बनाना चाहिये। इसीसे उनमें मानसिक दृढ़ता आती है। यहाँ पर ... बताना आवश्यक है कि मनुष्य के पुरुषार्थ के उदय में आदर्श और प्रोत्साहन का बड़ा महत्व है। अभिभावकों को अपने बालकों के समक्ष योग्य आदर्श रखना चाहिये। वह आदर्श बालकों द्वारा प्राप्त हो सकने वाला हो। अति उच्च आदर्श से बालक के चरित्र का गठन नहीं होता है। जब आदर्श बहुत ऊँचा होता है तब वहाँ तक पहुँचने की चेष्टा बालक का मन नहीं करता। इस तरह वह अपने आपको निश्चेष्ट बना लेता है। आदर्शवादी व्यक्ति प्रायः अपनी असफलता का दोष दूसरों के सिर मढ़ देता है। हमें बालकों के समक्ष सदा ऐसे आदर्श रखने चाहिये जिनकी प्राप्ति के लिए वे प्रयत्न कर सकें।

बालकों के छोटे से छोटे प्रयत्न में हमें प्रोत्साहन देते रहना चाहिये। बालकों की निरी नुक्ताचीनी करनेवाला अभिभावक या शिक्षक उन्हें कदापि भला नहीं बना सकता। अँग्रेजी में कहावत है—"सफलता ही सफलता की जननी है।" कोई भी व्यक्ति अपना सुधार तभी कर सकता है जब उसमें आत्म-विश्वास हो। इस आत्म-विश्वास के खोने पर किसी भी व्यक्ति के जीवन में सुधार नहीं हो सकता। बालकों को कदापि हतोत्साह होने का अवसर नहीं देना चाहिये।

उनमें वीरता का विकास हम उनका उत्साह बढ़ाकर ही कर सकते हैं। कोई भी बालक जन्म से कायर नहीं होता। कायरता तो एक प्रकार की आदत है जो असफलता के वातावरण में रहने से

लड़कों में अपने आप आ जाती है। कितने पिता और शिक्षक ऐसे हैं जो अपनी संतानों एवं शिष्यों के दुर्गुणों का ही चिन्तन करते रहते हैं और उनके पुरुषार्थ की उनके समक्ष निन्दा करते हैं। इस प्रकार वे बालकों को कोई लाभ नहीं पहुँचाते। वे उन्हें कायर और अनुद्योगी बना देते हैं। बालकों को वीर और पुरुषार्थी बनाने के लिए हमें उनके सद्गुणों को ढूँढ़ना और उनकी दृष्टि आकर्षित करना चाहिये।

बालक के आचरण में सुधार करने के लिये हमें बालक के प्रतिदिन के जीवन के विषय में जानकारी रखना आवश्यक है। उसके प्रति सच्ची सद्भावना रखकर और उसे अपना सच्चा प्रेम दिखाकर ही हम बालक का सुधार कर सकते हैं। जब हम बालक को प्यार करते हैं तो वह भी हमारा आदर करने लगता है। प्रेम के कारण हमारी बालक के दोषों के ऊपर ही दृष्टि नहीं जाती, वरन् हम उसके गुणों को ही देखते हैं और यदि ये गुण इतने स्पष्टतः न दिखाई दें तो उन्हें खोजने की चेष्टा करते हैं। बालक को अपने ही सच्चे सद्गुणों का ज्ञान नहीं रहता। जब हम उसकी इनके प्रति दृष्टि ले जाते हैं तो वह और भी सद्गुण प्राप्त करने की चेष्टा करता है। बालक के चरित्र सुधार के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके दुर्गुणों को प्रसिद्ध न किया जाय। दुर्गुणों के विज्ञापन हो जाने पर उसके आस पास दूषित मानसिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो उसके चरित्र को ऊँचा न कर नीचा गिराता है।

किसी बालक से अधिक से अधिक काम लेने के लिये और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये उसके गुणों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होता है। जब बालक देखता है कि उसमें वास्तव में कोई ऐसी योग्यता है जिसके कारण वह दूसरों की अच्छी प्रशंसा का पात्र हो सकता है तो उसका आत्मविश्वास बढ़ जाता है और उसके चरित्र में अनेक प्रकार के सुधार अपने आप हो जाते हैं।

लेखक के मित्र पंडित रामनारायण मिश्रजी के एक दो प्रयोग प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

एक बार दसवीं कक्षा के एक शिक्षक ने एक लड़के का आगामी एडमीशन परीक्षा में जाने से रोकने के लिये भेजा। लड़के को स्वयं राममारायण मिश्रजी जानते थे। वह हट्टा कट्टा था और गंगा में खूब तैरता था। गंगा में डूबते हुये लोगों को कई बार बचाया था और पानी में डूबते हुए लोगों को बचाने में दक्षता प्राप्त की थी। उस लड़के की डूबते हुए लोगों की जान बचाने के लिये ख्याति हो चुकी थी और पंडितजी भी इस बात को जानते थे। इस सेवा-भाव के लिये पंडितजी उस बालक को अपने स्कूल का एक रत्न मानते थे, और उनकी इच्छा थी कि वह बालक विद्याध्ययन भी वैसे ही मनोयोग से करे, जैसे मनोयोग से वह दूसरे लोगों की सेवा करता था।

जब शिक्षक ने इस बालक का नाम परीक्षा में न भेजने के लिये पंडितजी के पास भेजा तो पंडितजी ने उसकी पढ़ाई में योग्यता बढ़ाने का विशेष प्रयत्न किया। वह त्रैमासिक और षट्-मासिक परीक्षाओं में अधिक विषयों में फेल हो चुका था। उसे पंडितजी ने अपने आफिस में बुलाया और उसके गंगा में तैरने और व्यायाम के विषय में चर्चा की। फिर उन्होंने उससे गंगा में डूबते हुए लोगों के बारे में पूछा। कुछ बातचीत के बाद उन्होंने उससे कहा, "तुम तो दूसरे लोगों को डूबने से बचाने में बहुत ही कुशल हो, अब तुम स्वयं डूब रहे हो तुम्हें कौन बचायेगा!" इसके बाद उन्होंने उसके शिक्षक की सिफारिश के बारे में कहा। उससे पूछा कि उसका नाम परीक्षा के उम्मेदवारों में भेजा जाय अथवा नहीं। जब उसने कहा कि वह परीक्षा के लिये अपने आपको तैयार कर लेगा और उसका नाम भेज दिया जाय तो पंडितजी ने उससे कहा—"एक महीना बाद तुम्हारा एक टेस्ट होगा और उसमें

पास होने पर तुम्हारा नाम परीक्षार्थियों में भेज दिया जायगा।" एक महीने बाद जब इस विद्यार्थी की योग्यता की जाँच की गई तो देखा कि वह परीक्षा के अधिक विषयों में पास हो गया है। अन्त में उसका नाम परीक्षा के लिये भेज दिया गया। जब परीक्षा-फल निकला तो उसका नाम द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होनेवाले बालकों में पाया गया। वह दिन प्रतिदिन पढ़ने लिखने में अपनी उन्नति करता गया और अब वही लड़का भारत सरकार में एक उच्च पदाधिकारी है।

कुछ वर्ष पहले एक तालुकदार का लड़का हिन्दू स्कूल में पढ़ता था। यह लड़का स्कूल के छात्रावास में ही रहता था। यह बड़ा ही स्वाभिमानी था और प्रधान अध्यापक को छोड़ स्कूल के किसी शिक्षक का उचित आदर नहीं करता था। एक बार उसके ट्यूटर ने उसकी इस प्रकार के आचरण के विषय में पंडितजी से बहुत कुछ शिकायत की। पंडितजी ने इस बालक को अकेले में बुलाया और उससे अपनी दिनचर्या के विषय में पूछा। उसने अपनी प्रति दिन की दिनचर्या कह सुनाई। तब उन्होंने पूछा, "तुम रविवार के दिन क्या करते हो?" उसने रविवार की भी दिनचर्या कह डाली। अब उससे पूछा "यदि उस दिन एकादशी हो तो क्या करते हो?" उसने जवाब दिया "मैं गंगाजी स्नान करने जाता हूँ और उस दिन एक ही बार रात्रि में भोजन करता हूँ।" पंडितजी को यह बात ज्ञात थी, पर वे उसे उसी बालक से जानना चाहते थे। अब उन्होंने इस बालक से कहा, "जो कुछ तुम एकादशी के दिन करते हो वह बहुत ही अच्छा है। इसे अवश्य करते जाओ। इतना और करो—जब गंगा स्नान करने जाओ तो अपने साथ एक दो रुपये के पैसे लेते जाओ और जो लँगड़े, लूले, अँधे, गरीब भिखारी मिलें उन्हें पैसा बाँटते जाओ तो तुम्हें एकादशी व्रत का और भी अधिक पुण्य होगा।" यह आदेश उस बालक के मन में बैठ गया। उसने ऐसा ही करना आरम्भ किया। जब वह मोटर में बैठकर

गंगा स्नान करने जाता था तो वह लंगड़े लूलों के लिये इधर उ
देखते रहता था। जब कोई लँगड़ा लूला व्यक्ति दिखाई पड़ता
वह मोटर रुकवाता और उसे पैसे देने के लिये नौकर को भेजता
पीछे वह स्वयं ही मोटर से उतर कर पैसा देने जाने लगा। कुछ दि
में ही उसके आचरण में चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हो गया। वह अ
अपने शिक्षकों का भी आदर करने लगा।

कुछ दिन के पश्चात् पण्डितजी ने उस बालक को अपने पास बु
बुलाया। अब उसकी प्रशंसा सभी शिक्षक करने लगे थे। वह ब
बड़ा दयावान और दानी बालक के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उ
बालक को कहा कि हमारे पास एक ब्राह्मण का बालक आया है। व
बहुत गरीब है किन्तु पढ़ने-लिखने में होशियार है। तुम्हारे भोजनाल
में बहुत से लोगों का भोजन बनता है, यदि उस ब्राह्मण बालक को
भी प्रतिदिन भोजन कराओ तो अच्छा हो। उसने तुरन्त ही पंडितजी
की आज्ञा स्वीकार कर ली और उस विद्यार्थी को प्रेम से रखने
लगा। थोड़े ही दिनों में उसका आचरण दूसरों के लिये अनुकरणीय
बन गया।

जब लेखक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल का अध्यापक था तो उसकी कक्षा
में पन्नालाल नामक एक ऐसा बालक पढ़ता था जो चरित्र में बड़ा
सुन्दर और शिक्षक का आज्ञाकारी था। पर यह बालक प्रायः सालाना
परीक्षाओं में फेल हो जाया करता था। दूसरे शिक्षक उसे बुद्धू समझकर
उसकी उपेक्षा करते थे। यह बालक अपनी कापी में बहुत सुन्दर अक्षर
लिखता था। उसकी इस खूबी को देखकर लेखक ने उसे काम करने
में प्रोत्साहित करना आरंभ किया। उसने ड्राइंग का विषय लिया
था। उसने एक दिन अपने चित्र दिखाये। वे चित्र बड़े सुन्दर थे
और लेखक ने उनकी उचित प्रशंसा की। उसको कहा कि तुम एक
अच्छे चित्रकार हो सकते हो, तुम ड्राइंग में अपनी योग्यता और भी

थी। वे लक उसकी कापियों को और सावधानी से देखने लगा। कभी किसी काम को करना भूलता नहीं। अन्त में जब वह मिशन की परीक्षा में बैठा तो द्वितीय श्रेणी में पास हो गया। इसके द वह लखनऊ के आर्ट स्कूल में गया और चित्रकला को मनोयोग साथ अध्ययन करने लगा। वह पीछे प्रथम श्रेणी में पास हुआ र आज यह बालक एक सफल व्यापारी है। उसे एक-एक चित्र लिये सैकड़ों रुपया मिलता है।

बहुत से सदाचारी बालकों का प्रोत्साहन के अभाव में पढ़ाई में र नहीं लगता। वे अपना पाठ याद करना चाहते हैं, किन्तु जब वे सी पुस्तक को पढ़ने लगते हैं तो उनका मन इधर-उधर दौड़ने लगता । मन को एकाग्र करने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि नुष्य की उसे एकाग्र करने की इच्छा हो। यह इच्छा चेतन मन ही च्छामात्र हो सकती है। जब तक मनुष्य का अचेतन मन उसके तन मन की सहायता करता है तब तक चित्त की एकाग्रता नहीं होती। ोई कोई बालक जोर-जोर से पुस्तक को पढ़ते रहते हैं किन्तु घंटों इस कार पुस्तक पढ़ने के पश्चात् जब आत्म निरीक्षण करते हैं तो देखते हैं कि उन्हें पढ़े हुए पाठ का स्मरण कुछ भी नहीं रहा। इस प्रकार वे हतोत्साह हो जाते हैं और फिर उनका मन पढ़ने में और भी नहीं लगता। जब बालक का मन पढ़ने में नहीं लगता तो वह दुराचारी हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति का कारण बालक का अधिक नुक्ता-चीनी किया जाना तथा प्रोत्साहन का अभाव होता है। प्रोत्साहन से आत्मविश्वास आता है और आत्मविश्वास ही मन को एकाग्र करता है। प्रोत्साहन चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करता है और जिस काम को व्यक्ति प्रसन्न चित्त से करता है उसमें ही उसे सफलता मिलती है। आत्मविश्वास और प्रसन्नता के अभाव में जब बाहरी मन किसी विषय पर केन्द्रित किया जाता है तो भीतरी मन की धारायें किसी दूसरी ओर

ही बहती रहती हैं। जब व्यक्ति इनको सम्हालने में लगता है
पठित-पाठ को भूल जाता है। मन की अन्तर्द्वंद्व की अवस्था
भी काम भली प्रकार से नहीं होता। जब मन की सभी शक्ति
ओर हो जाती है तभी मनुष्य अपनी उन्नति करता है।

हतोत्साह और काम से जी चुराना

कितने ही बालकों में काम से जी चुराने की आदत होती है
हतोत्साहन की आदत का दूसरा रूप है। जो बालक प्रत्येक पर
भले बुरे पर विचार करता है, जो किसी काम में सफलता की
नहीं देखता, वह काम से जी चुराता है। ऐसा बालक जिस तरह
निकम्मा रहता है उसी तरह दूसरों को भी निकम्मा बनाने की चेष्टा
है। इस आदत का प्रमुख कारण बालक को शिशुकाल में प्रे
का अभाव है। प्रत्येक बालक कुछ-न-कुछ काम करना चाहता
उसका मन सदा क्रियाशील रहता है। प्रौढ़ लोग बालक को उ
गलतियों के लिए डाँटा करते हैं और उसकी अनेक प्रकार से बुराई
करते हैं। इससे बालक की आत्म-स्फूर्ति जाती रहती है। बाल
मन में यह धारणा हो जाती है कि वह किसी काम में सफलता
नहीं कर सकता। इसलिए वह सदा काम से जी चुराता रहता है।

काम से जी चुरानेवाले बालक को जबरन काम में लगाया जा
है। उसे अपना काम पूरा न करने के लिए दण्ड भी दिया जाता
इसके परिणाम स्वरूप बालक में अपने मन से काम करने की व
खुची शक्ति भी नष्ट हो जाती है। उसकी मनोवृत्ति गुलाम की ही
जाती है। जितना उससे कहा जाता है, वह उतना ही करता है। ऐ
बालकों से समाज का किसी प्रकार का कल्याण होने की आशा न
रहती। जो व्यक्ति अपना भार स्वयं नहीं ढो सकता, वह दूसरों का म
कैसे ढो सकता है।

हतोत्साहन की आदत बालक के बार-बार निराश होने से

ता है। जो बालक हतोत्साह हो जाता है, उसको काम करने में आनन्द नहीं आता। जबरदस्ती किये गये काम से मनुष्य की शक्ति का अपव्यय होता है। हतोत्साहन का निवारण धीरे-धीरे ही हो सकता है। बालक को छोटे छोटे काम पहले देने पड़ेंगे। जब वह ऐसे कामों को करने में समर्थ हो जाय, तो उसे कठिन काम देना चाहिए। उत्तरोत्तर कठिन काम करने से बालक की इच्छा शक्ति दृढ़ होती है, उसका उत्साह बढ़ता है और वह नये काम को आनन्द के साथ करता है। जब मनुष्य की आदत सफलता की पड़ जाती है, तो वह किसी भी काम को सरलता से प्रसन्नता के साथ करता है। उसमें उस समय वीर-भाव जाग्रत होता है। जो बालक बार-बार असफल होता है, जिसकी नुक्ताचीनी बहुत अधिक होती है, वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। ऐसा बालक कायर हो जाता है। जो व्यक्ति बालकों के सुधारने में जितना अधिक उत्साह दिखाते हैं, वे प्रायः उनका उतना ही अधिक चारित्रिक नुकसान करते हैं। बालक के सुधारने का सबसे सुन्दर उपाय उसमें आत्म-विश्वास का बढ़ाना है। कोई भी बालक जन्म से कायर नहीं होता है। बार-बार असफलता मिलने पर अपने आप बालक में काम से जी चुराने का स्वभाव पड़ जाता है। इनको हटाने के लिए बालक का आत्म-विश्वास बढ़ाना आवश्यक है।

हतोत्साहन धीरे-धीरे एक मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। इसके निवारण के लिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉक्टर होमरलेन के प्रयोग का उल्लेख करना आवश्यक है।

डाक्टर होमरलेन के रिफार्मेटरी में एक ऐसा बालक आया, जो गणित से जी चुराता था। अध्यापक के लाख प्रयत्न करने पर भी वह गणित के प्रश्न हल करने की कोशिश ही न करता था। डाक्टर होमरलेन समझ गये कि इस बालक के मन में गणित के प्रति हतोत्साहन की ग्रन्थि है, जो उसके पुराने गणित शिक्षक की असावधानी और

बालक के मनोविज्ञान की अज्ञानता के कारण उसमें यह गाँठ ... उन्होंने उस बालक को दूसरे दिन सबेरे अपने पास आने के लिए ... दिया। जब बालक ने यह समाचार सुना कि उसे गणित सि... बुलाया जा रहा है, तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। डॉक्टर होमरलेन ... यह बहुत प्यार करता था और वह उनके स्वभाव से परिचित ... परन्तु इस समय डॉक्टर साहब को शिक्षक के सम्बन्ध से बालक ... मस्तिष्क में बनी हुई मानसिक ग्रन्थि का ध्यान था। अतएव उ... बालक के साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा उसका पुराना ग... शिक्षक करता था। उन्होंने आते ही उस बालक को उसके अशिष्ट... और गंदे हाथों के लिए डाँटा और हाथ साफ करके आने के ... कहा। इससे बालक का उत्साह नष्ट हो गया। इस समय डॉ... साहब बालक के अचेतन मन में उसके पुराने शिक्षक के प्रति बने ... बुरे संस्कारों को हटाने की चेष्टा कर रहे थे।

अब डॉक्टर होमरलेन ने बालक को एक प्रश्न दिया। इस स... बालक के मन की दशा दूसरी ही थी। वह उस प्रश्न को न कर स... वह डरते डरते उनके पास पहुँचा और बोला, "मुझसे प्रश्न ... होता।" उन्होंने बालक को सहायता देने के पहले ही डाँटना प्रा... कर दिया, "तुमसे इतना सरल प्रश्न भी नहीं निकलता, तुम बड़े ... हो। आओ, मैं तुम्हें बताता हूँ।" ऐसा कहकर वह बालक ... सामने उस प्रश्न को करने लगे। साथ-ही-साथ बालक से प्रश्न को करने में सहायता लेते जाते थे। बीच-बीच में वह जानबूझ... गलतियाँ करते जाते थे, जिन्हें बालक सुधारता जाता था। अन्त ... वह प्रश्न उन्होंने अधूरा ही छोड़ दिया और बालक से बोले, "... देर हो रही है। हम इस प्रश्न को कल करेंगे।" बालक समझा ... वास्तव में डॉक्टर साहब प्रश्न करने में असमर्थ हैं और उससे पी... छुड़ाने के लिए बहानेबाजी करके भाग रहे हैं। उसे यह ज्ञात हो ग...

लगा, उसकी आत्मसम्मान की भावना जाती रही। जब अध्यापिका ने बालक की तुकबन्दी में रुचि दिखायी थी तो वह बड़ी शीघ्रता से उन्नत होने लगा था। उसके माता पिता उसकी उन्नति में उतनी लगन से काम नहीं करते थे, जितनी उस अध्यापिका ने दिखायी। वे बालक की त्रुटियों पर ध्यान देते रहते थे। बालक अपनी त्रुटियाँ सुनते सुनते हतोत्साह हो गया था और इससे उसमें निकम्मापन आ गया था। जब बालक को उत्साहित किया गया तो उसका निकम्मापन और काम से जी चुराने की आदत जाती रही।

• • •

दण्ड का स्थान

चरित्र गठन में दण्ड का क्या स्थान है, इस पर बहुत से मतमतान्तर प्रचलित हैं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में दण्ड को जितना कम हो सके दिया जाने का प्रयत्न किया जा रहा है। पर बालकों की शिक्षा में दण्ड का कोई स्थान न रखना एक बड़ी मनोवैज्ञानिक भूल है। दण्ड के बिना बालकों को चरित्र के उन दोषों से मुक्त नहीं किया जा सकता, जो उनके भावी जीवन में उन्नति के मार्ग में कण्टक बन जाते हैं। प्रकृति भी बालकों को अपनी भूलों के लिए दण्ड देती है। अभिभावकगण भी बालकों को दण्ड देकर प्रकृति का ही कार्य करते हैं।

बालक को दण्ड देने का लक्ष्य बालक का सुधार होना चाहिये। क्रोध में आकर उसे पीटना तथा बदले की भावना से पीटना बहुत बुरा है। यदि बालक की यह धारणा हो गई है कि उसे अपने दुराचार के लिए ... वरन् द्वेष-वश पीटा जा रहा है तो उसमें दण्ड से कुछ भी ... न होगा। दण्ड लाभकारक तभी होता है जब उसे बालक न्याय-

है। इसके लिये यह आवश्यक है कि दण्ड विचारपूर्वक दिया
सा अपराध हो वैसा ही दण्ड हो। दण्ड अपराध के समय
य जिससे बालक के मन में यह जम जाय कि दुष्कर्म का
भावी परिणाम दुःख होता है। बालक को अधिक दण्ड देना
ही। दण्ड बालक के जीवन में भय और ग्लानि उत्पन्न करता है।

अट्ठारहवाँ प्रकरण

मनोराज्य का विचरण

मनोराज्य क्या है ?

पिछले प्रकरण में हमने जिन आदतों की चर्चा की है उन
जानना अभिभावक के लिये सरल है। अब एक ऐसी आदत की च
की जाती है जिसके बारे में अभिभावक को कुछ भी जानना बड़ा
कठिन है परन्तु जिसका प्रभाव बालक के समस्त जीवन पर भारी पड़
है। यह आदत मनोराज्य के विचरण की आदत है। यह आ
प्रत्येक किशोर बालक में थोड़ा अथवा अधिक मात्रा में पाई जाती है।
हम सभी अपनी किशोरावस्था में काल्पनिक संसार की सृष्टि की
और उसमें हमने खूब मौज उड़ाई है। परन्तु हम अधिक देर तक उस
जगत में नहीं रह पाये अतएव कुछ खाने पीने और कुछ कमाने के
लिये उपयोगी काम कर सकें। जो बालक काल्पनिक जगत में ही अधि
अधिक समय व्यतीत करता है वह जीवन में अपने आपको निकम्मा
बना लेता है। यदि इस आदत का प्रभाव उसकी युवावस्था में भी
रहा तो वह अपने जीवन को भारी दुःखमय बना लेता है।

मनोराज्य कल्पना का एक प्रकार है। जो कल्पना किसी रचना-
त्मक कार्य में प्रकाशित नहीं होती उसे मनोराज्य कहा जाता है।
कल्पना का आधारस्वरूपतः वास्तविकता से रहता है। इसमें
[illegible] बिना बाहरी वस्तु की सृष्टि करना अथवा विदित वस्तु
[illegible] ज्ञात में [illegible] अन्तःकरण में परिवर्तन करना होता है।

मनोराज्य का विचरण स्वतः लक्ष्य बन जाता है। मनोराज्य में विचरण करनेवाला व्यक्ति जानता है कि यह जो कुछ सोचता है वह उसे प्राप्य नहीं है। उसकी काल्पनिक सृष्टि कभी भी वास्तविकता में परिणत नहीं हो सकती तब भी वह अपने कल्पना जगत में विचरण करना और वहाँ नये-नये पदार्थों को प्राप्त करना नये ढंग से अपने आपको देखना पसंद करता है। उसे इसी कार्य में आनंद मिलता है। मनोराज्य में विचरण करनेवाले व्यक्ति की बड़ी महत्त्वाकांक्षायें होती हैं। वह इनकी पूर्ति अपनी कल्पना में ही करते रहता है। मनोराज्य में विचरण करनेवाले व्यक्ति का जीवन बड़ा भावात्मक होता है। वह नित्य संसार से विमुख होकर अपने आदर्श संसार में ही रहना चाहता है। यहाँ अपने एक गृह त्यागी मित्र की किशोरावस्था के मनोराज्य के विचरण के अनुभव का उदाहरण दिया जाता है जिससे मनोराज्य के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। इसे कुछ मानसिक रोग हुआ था और उसके उपचार हेतु यह आत्म कथा उससे लिखाई गई थी। यह निम्न लिखित है—

मेरे मनोराज्य के मुख्यतया दो भाग हैं—एक भोगी भाग और दूसरा त्यागी। अपने भोगी भाग में मैं अपने आपको संसार की सब विभूतियों से युक्त समस्त ऐश्वर्यवान् की कल्पना करता था और मेरे मनोराज्य के महल की परिधि सैकड़ों मीलों में विस्तृत होती थी और उसमें सभी प्रकार के पहाड़ी, तालाबी, मैदानी, जंगली तथा सामुद्रिक भाग होते थे। स्थान स्थान पर विविध वैभवपूर्ण महल होते थे, जिनमें सैकड़ों देवियाँ निवास करती थीं। उन सबका जीवन केवल मेरे आनंद की वृद्धि के लिये होता था। उस कल्पित कोट के अन्दर नाना प्रकार के विहार लीलाओं में रमण करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती थी। मेरे इस मनोराज्य का दूसरा भाग इस मनोराज्य के अन्दर इससे भी अधिक विस्तृत होता था। परन्तु इस दूसरे भाग का वास्तव इस

प्रत्यक्ष परिचित जगत से होता था। इसमें मैं अपने आपको स- न्यायकारी तथा दानी के रूप में देखता था। दान की अनेक नाओं में से एक कोटि यज्ञ की योजना भी थी। इसके पंडाल की सीमा भी कई मील की होती थी, जिसमें सहस्र ब्राह्मण गीता सहस्र रुद्री पाठ, सहस्र ही चंडी पाठ तथा अन्य बहुत से प विभागों में भी सहस्र ब्राह्मण होते थे। इन सब के मध्य में हजार ब्राह्मणों का केन्द्रीय मंडल होता था, जिसमें चारों के मन्त्रों द्वारा आहूतियाँ दी जाती थीं। इन ब्राह्मणों के भरण के लिये अन्न भण्डार तथा गोशालायें चारों तरफ निर्मित होतीं। संक्षेप में मैं कभी-कभी ध्यानादि से निवृत्त होकर भोजन के प कागज कलम लेकर उसका हिसाब तथा नक्शा बनाने बैठता था मीलों जमीन घिर जाती थी तथा करोड़ों का हिसाब लगाया करता। परन्तु दो ही तीन दिनों में यह योजना फिर छोटी मालूम होने लग थी तथा उससे भी अधिक विस्तीर्ण योजना के बनाने में मुझको पु मनोरञ्जन प्राप्त होता था। नाना प्रकार की वस्तुओं के दान की वि योजनायें हुआ करती थीं। यह सम्पूर्ण वैभव मुझे देवताओं द्वारा प्र होता था और देवताओं की कृपा मुझे उनकी पूजा द्वारा प्राप्त हो थी। यह कार्य अपने मनोराज्य की दिनचर्या के पूर्व भाग में ही सम हुआ करता था। मेरा पूजा गृह काशी विश्वनाथ की पुरी में गंगा त पर विश्वकर्मा द्वारा विशेष रूप से निर्मित त्रिलोकी को आश्चर्य प्रदान करनेवाला होता था। उसमें सभी देवता प्रत्यक्ष उपस्थित होते थे। शिव, पार्वती, गणेश तथा महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती उसमें प्रमुख थे।......

"इस कल्पना का प्रभाव इतना हर्षोत्पादक और उत्तम हुआ था ... चार दिनों तक इसमें विभोर होकर बैठा रहता था और ... आने का भान मुझे बहुत कम हो पाता था।"

जब किसी पुस्तक को पढ़ता है तो उसका आधा मन पुस्तक
में लगता है और आधा स्वच्छन्द कल्पना में विचरण करते र
वह बार-बार पुस्तक में मन लगाने की चेष्टा करता है और उस
बार-बार दूर भाग जाता है।

मनोराज्य का विचरण कामवासना को उत्तेजित करता है।
जैसा सोचता है उसके अनुरूप उसका आचरण भी हो जाता है
बालक कामवासना के मनोराज्य में विहार करते रहता है वह स
पूर्व ही प्रेम-सम्बन्ध में पड़ जाता है। इस प्रकार के प्रेम में उसे
प्रकार की निराशा सहनी पड़ती है। कभी-कभी वह कामातुर
नैतिकता के विरुद्ध भी आचरण कर बैठता है। इससे उसे पीछे
आत्म-भर्त्सना होती है।

मनोराज्य में विचरण का एक परिणाम इच्छाशक्ति का
हो जाना है। जो व्यक्ति अपने मन में सुखद कल्पनाओं के प्रव
बहने देता है, वह इस प्रकार की कल्पनाओं का आदी हो जाता
जब मनुष्य मनोराज्य का गुलाम हो जाता है तो वह अपने विचार
नियंत्रण खो देता है। ऐसे व्यक्ति को आगे चलकर अभद्र कल्प
सताने लगती हैं। जो सुखद कल्पनाओं पर अपना नियंत्रण नहीं र
वह दुःखद कल्पनाओं पर स्वभावतः नियंत्रण खो देता है। मनोर
में अत्यधिक विचरण करने वाला किशोर बालक आगे चलकर म
सिक रोग का शिकार बनता है। उसे अकारण भय, निराशा, बु
विचार, क्रूद आदि घेर लेते हैं। जैसे जैसे वह इनसे मुक्त होने
चेष्टा करता है, वे और भी उसे जकड़ते जाते हैं। ऐसे लोग क
कभी अपने जीवन से ही निराश हो जाते हैं और समय के पूर्व अप
जीवन यात्रा को समाप्त कर देते हैं।

मनोराज्य में विचरण करने वाले बालक बड़े भावुक होते हैं
परन्तु उनकी भावुकता क्रियाशील नहीं होती। वे दूसरों के दुःखों प

बहुत आँसू बहा सकते हैं, पर जहाँ कुछ काम करने की बात आती है, जहाँ गरीब लोगों के लिये कुछ कष्ट सहने की बात आती है तो वे कुछ भी नहीं करते। इस प्रकार के बालक समाज के उपकारी नागरिक न बनकर उसकी कोरी नुक्ताचीनी करनेवाले व्यक्ति बन जाते हैं। वे समाज की किसी भी परिस्थिति से संतुष्ट नहीं रहते। पर उस परिस्थिति को बदलने की चेष्टा भी नहीं करते। वे सदा प्रयत्न न करने का बहाना मन में सोच लेते हैं। उनके आदर्श इतने ऊँचे रहते हैं कि उन्हें प्राप्त करना किसी व्यक्ति के लिये सम्भव ही नहीं। कोरी भावुकता किस प्रकार निकम्मी होती है इसका एक उदाहरण जो विलियम जेम्स महाशय ने अपनी *प्रिन्सिपल्स आफ साइकालाजी* नामक पुस्तक में दिया है उल्लेखनीय है। यह उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी के धनी लोगों के निकम्मेपन को दर्शाता है—

रूस देश में धनी घर की महिलायें प्रायः रात को नाटक देखने जाती थीं। ये जाड़े के दिनों में अपनी सुन्दर गाड़ियों में बैठकर जातीं और कभी-कभी रात भर नाटक देखती रहती थीं। नाटक में अनेक प्रकार के दुःखद घटनाओं का अभिनय किया जाता था। ये महिलायें इतनी भावुक होती थीं कि उन घटनाओं के अभिनय को देखकर आँसुओं के मारे अपने मलमल की ओढ़नी भिगो देतीं। परन्तु इस प्रकार का भाव-प्रदर्शन गरम नाटक घरों में ही होता था। ये जब इन गरम घरों में जाती तो अपने कोचवान को बाहर ही छोड़ जाती थीं। बेचारे कोचवान के पास इतने कपड़े नहीं रहते थे कि वह अपना शरीर ठंड से बचा सके। कुछ महिलायें उसे गाड़ी के भीतर भी बैठने की आज्ञा नहीं देती थीं। वे जब उक्त नाट्यशालाओं से लौटतीं तो देखतीं कि कोचवान बर्फ से ठंड खाकर मर गया है। ऐसा कई बार हो जाया करता था। उनकी भावुकता उन्हें यह प्रेरणा नहीं देती थी कि नाट्यशाला में कल्पित पात्रों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन में व्यर्थ के आँसू न बहाकर

उन बेचारे गरीब कोचवानों को कुछ कम्बल देकर शीत से मरने से बचा लें।

मनोराज्य में विचरण के कारण

शिक्षक और अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों में मनोराज्य में विचरण करने की आदत न पड़ने दें ताकि वे उक्त रूसी महिलाओं की तरह निकम्मे राष्ट्र के नागरिक न बनें और अपने शक्ति को समाजोपयोगी कार्यों में खर्च करें। इसके लिये हमें बालकों के मनोराज्य में विचरण के कारणों को जानना होगा। मनोराज्य में विचरण के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं—

(१) बचपन का कठोर वातावरण
(२) अति लाड़ का जीवन
(३) आत्महीनता की दबी भावना
(४) कामवासना की उत्तेजना
(५) बाहरी काम की कमी
(६) उपन्यास और सिनेमा में रमण करना।

बचपन का कठोर जीवन बालक को स्वभावतः मनोराज्य में विचरण करने के लिये आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न करता है। मानसिक क्रियाओं में सदा समीकरण का नियम कार्य करता है। जिस बालक को बाहरी जगत से सुखद संवेदनाओं की अनुभूति नहीं होती, जिसे घर का तिरस्कार सहना पड़ता है वह स्वभावतः मनोराज्य में विचरण के लिये आन्तरिक प्रेरणा की अनुभूति करता है और इसलिये वह मनोराज्य में विचरण करने का आदी हो जाता है। सभी बालक भौतिक सुख की इच्छा करते हैं। जब उन्हें अपने घर के वातावरण से यह सुख नहीं मिलता तो वे काल्पनिक जगत की सृष्टि कर लेते हैं और जो सुख वे स्थूल जगत में खोते हैं वही वे मानसिक जगत में प्राप्त कर

होते हैं। जब बालक को घी चीनी के लड्डू नहीं मिलते तो वह मन-मोदक ही क्यों न खाये। जिन बालकों के पिता पुत्र को बात-बात में डाँटते डपटते हैं, अथवा जिनके घर में विमाता है वे प्रायः मनोराज्य के आदी हो जाते हैं। प्रायः देखा गया है कि गरीब घर के बालकों में मनोराज्य में विचरण करने की आदत उतनी नहीं पाई जाती जितनी धनी घर के बालकों में पाई जाती है। इसका कारण धनी घर के बालकों के मन में बड़ी बड़ी आशाओं का आ जाना और फिर उनकी पूर्ति का मार्ग न देखना ही होता है। दूसरे धनी घर के बालकों को अपनी आजीविका की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी गरीब घर के बालकों को रहती है। अतएव धनी घर के बालकों को मनोराज्य में विचरण करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। जब माता पिता उन्हें डाँटते डपटते हैं तो उनकी यह प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती है।

जिस तरह कठोरता का जीवन बालक को मनोराज्य में विचरण करने के लिये प्रेरणा उत्पन्न करता है, इसी प्रकार अति लाड़ का जीवन भी बालकों को मनोराज्य में रमण करने के लिये प्रोत्साहित करता है। आधुनिककाल में बालक की शिक्षा में कठोरता की हो अधिक निंदा की गई है, पर लाड़का जीवन उनके चरित्र का उतना ही विनाशक है जितना कठोरता का जीवन। संसार के अधिकतर लड़के लाड़ से ही नष्ट होते हैं। बालकों में मनोराज्य में विचरण करने की आदत तो अधिकतर बालकों के प्रति माता-पिता के अधिक लाड़ दिखाने से ही आती है। लाड़ में पले बालकों को सुख के संसार में रहने की और कठोर जीवन से भागने की आदत पड़ जाती है। उन्हें सब प्रकार के आराम मिलते हैं और अपने हाथ से कुछ भी नहीं करना पड़ता। इसके कारण उन्हें मनोराज्य में विचरण करने का अवसर भी पर्याप्त मिल जाता है। फिर उनकी, लाड़ में रहने के कारण, इच्छाशक्ति भी निर्बल हो जाती है, अतएव वे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी मनोराज्य में ही अपने-

आपको जाते हुए पाते हैं। लाड़ में पले बालक ही मनोराज्य में विच के कारण अधिक दुःखी होते हैं।

मनोराज्य का विचरण बालक में आत्महीनता की भावना कारण भी आता है। जिस बालक में आत्म-हीनता की भाव मानसिक ग्रन्थि का रूप ले लेती है उसमें मनोराज्य में विचरण का की आदत अवश्य ही पड़ जाती है। मनोराज्य में विचरण की आद एक प्रकार की अति पूर्तिकरण की प्रवृत्ति का परिणाम है। जि बालकों के मन में किसी कारणवश अपने भाई, बहिनों, मित्रों अथव अन्य सम्बन्धियों के प्रति ईर्ष्या की दबी भावना रहती है वे मनोराज्य में विचरण करने लगते हैं। इस कथन की सत्यता लेखक के उस मित्र के बचपन के संस्मरण से प्रमाणित होती है जिसके मनोराज्य का चित्रण हम पहले कर आये हैं। अपने बचपन के संस्मरण लिखते हुए यह मित्र कहता है—

"माता-पिता का स्वभाव कठोर और नैतिक उग्रता लिये होने के कारण लाड़ प्यार मुझे तो क्या हमारे में किसी भाई बहिन को नहीं मिल पाया था। पिताजी तो नैतिक आज्ञाओं के उल्लंघन होने पर इतने उग्र हो जाया करते थे कि माताजी भी उनके समक्ष बोलने का साहस नहीं करती थीं। मुझे मेरे बड़े भाई बदसूरत भी कहा करते थे। मेरी मामी मेरा पक्ष लेकर मुझे उत्साहित किया करती थीं। यद्यपि मैं इतना बदसूरत न था और न इतना काला; परन्तु उस समय का यह कालेपन का प्रचार मुझे इतना प्रभावित कर चुका है कि अब भी जब कोई मेरे सम्बन्ध में कदाचित् वर्णन करते समय मुझे गोरा कह देता है तो मुझे आश्चर्य होता है।"

उक्त व्यक्ति को घर में अपने बड़े भाई जैसा सम्मान नहीं मिला यद्यपि यह बुद्धि में अपने बड़े भाई से अपने शिक्षा काल में अधिक प्रवीण था। इससे जो मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न हुई उसीके परिणाम-

सम्भव उसमें मनोराज्य में विचरण करने की आदत विशेष रूप से बढ़ गई और इसीके कारण उसका सारा जीवन एक विशेष रीति से प्रभावित होने लगा।

कामवासना का जागरण और उसकी उत्तेजना भी बालकों का मनोराज्य में विचरण का प्रधान कारण होती है। वास्तव में मनोराज्य के विशेष सौन्दर्य का कामवासना ही निर्माण करती है। बिना सुन्दरता न तो वास्तविक जगत प्रिय लगता है और न काल्पनिक। सुन्दरता कामवासना का आकर्षक रूप है। स्त्री पुरुष की सुन्दरता का निर्माण कामवासना द्वारा होता है, इसे सभी लोग स्वीकार करेंगे। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति का सौन्दर्य व्यापक कामवासना का कार्य है। यदि किसी भी नवयुवक के अथवा किशोर बालक के मनोराज्य की पूरी सामग्री को हम जान लें तो हम देखेंगे कि उसके अधिक पदार्थ कामवासना द्वारा ही बनाये गये हैं। अतएव जिन बालकों में कामवासना का जितना दमन होता है उनमें मनोराज्य में विचरण करने की प्रवृत्ति भी इतनी ही अधिक पाई जाती है। यदि बालकों की कामवासना की शक्ति उपयोगी कामों में खर्च हो जाय, अर्थात् उसका मार्गान्तरीकरण अथवा शोध हो जाय तो उसकी शक्ति व्यर्थ की क्रियाओं में प्रकाशित न हो।

मनोराज्य का विचरण शारीरिक कार्य की कमी के कारण विशेषतः होता है। प्रतिदिन के आहार से जो बालक को शक्ति प्राप्त होती है उसका उपयोग किसी न किसी प्रकार के शारीरिक काम में होना आवश्यक है। जब इस शक्ति का उपयोग शारीरिक काम में नहीं होता तो वह या तो अनेक प्रकार की कामवासना सम्बन्धी कुटेवों में प्रदर्शित होती है अथवा वह काल्पनिक जगत की सृष्टि और उसके विचरण में खर्च होती है। बालक का स्वभाव सदा अपने आपको व्यवस्थित कार्य में लगाये रखने का है। जब तक बालक भौतिक जगत में कोई

रचना कर सकता है वह काल्पनिक जगत की रचना से संतुष्ट नहीं होता। परन्तु जब उसे वास्तविक भौतिक जगत में रचना करने का अवसर नहीं मिलता तो वह काल्पनिक जगत की रचनाओं में लग जाता है। बालकों के कल्याणहेतु उन्हें सदा ऐसे काम देते रहने चाहिये जिन्हें वे सफलतापूर्वक कर सकते हैं। किशोर बालकों में इधर-उधर घूमने की भी प्रबल प्रवृत्ति होती है। अतएव उन्हें देशाटन करने के लिए पर्याप्त अवसर देना चाहिये। बालकों के मनोराज्य में विचरण करने से रोकने के लिये स्काउटिंग की शिक्षा बड़ी उपयोगी होती है। इसके द्वारा बालकों की अनेक प्रकार की प्राकृतिक प्रवृत्तियों का शोध हो जाता है और बालक की घूमने की इच्छा भी संतुष्ट हो जाती है।

यदि बाहरी वास्तविक जगत के कार्य बालक की मनोराज्य में विचरण करने की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं तो उपन्यासों का पढ़ना और सिनेमा घरों में जाना उस प्रवृत्ति को उत्तेजना देते हैं। आधुनिक काल में न तो उपन्यासों को ही बालकों की उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाता है और न सिनेमा की फिल्में इस दृष्टि से बनाई जाती हैं। हमारे देश के पढ़े लिखे अभिभावक भी बालकों को मनमानी पुस्तकों को पढ़ने की छूट दे देते हैं। इसी प्रकार वे उन्हें किसी भी सिनेमा के चित्र को देखने की अनुमति दे देते हैं। उपन्यासों और सिनेमा के चित्रों में कामवासना को उत्तेजित करनेवाले ही अधिक दृश्य विषय किये जाते हैं। इनमें अनेक प्रकार के प्रेम सम्बन्ध को दिखाया जाता है। इनमें बालक जब रमण करने लगता है तो उसका अपने आपके ऊपर से नियंत्रण उठ जाता है। कितने ही किशोर बालकों के लिये सिनेमा का देखना अथवा उपन्यासों का पढ़ना एक प्रकार का नशा सा बन जाता है। बिना इस प्रकार का नशा किये उन्हें नींद नहीं आती। सिनेमा देखने की आदत जब बढ़ जाती है तो वह जीवन भर

बनी रहती है। लेखक के एक बूढ़े मित्र यदि सिनेमा देखने न जायँ तो कुछ लेख भी नहीं लिख सकते। उन्हें सदा मानसिक बेचैनी बनी रहती है। जब सिनेमा के आदी व्यक्तियों के समक्ष सिनेमा फिल्म के काल्पनिक चित्र नहीं रहते तो वे मनोराज्य के काल्पनिक चित्रों को अपने मानस-पटल पर उपस्थित कर लेते हैं और उनमें रमण करने लगते हैं। अतएव बालकों के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्हें सभी सिनेमा फिल्मों को न देखने देना और मनमाने उपन्यास अथवा कहानियाँ न पढ़ने देना आवश्यक है।

मनोराज्य में विचरण से रोकने के उपाय

उपर्युक्त मनोराज्य में विचरण के कारणों के जानने से बालकों को उसमें विचरण करने से रोकने के उपाय स्पष्ट हो जाते हैं। बालकों को न तो अति लाड़ में और न अति कठोर अनुशासन में रखना चाहिये। जिस प्रकार जीवन के सभी कार्यों में मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का मार्ग प्रशस्त होता है इसी प्रकार बालकों के लालन-पालन और शिक्षण में बीच का मार्ग ही प्रशस्त होता है। बालकों के प्रति इतनी ही कठोरता रखनी चाहिये जितनी उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाये रखने के लिये आवश्यक है और उनके प्रति इतना ही लाड़ दिखाना चाहिये जितना उन्हें अपने काम में प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक है। अरक्षितता तथा एकान्तता सदा हानिकारक होती है। अतएव अभिभावकों को कठोरता के आधिक्य और लाड़ के आधिक्य दोनों से ही अपने आपको रोकना चाहिये।

बालकों की दूसरे लोगों के समक्ष निंदा करना अथवा भर्त्सना करना हानिकारक होता है। अतएव बालक को उतनी ही शिक्षा देनी चाहिये जिससे वह अपने मनमें आत्महीनता की भावना न लावे। बालक मनोराज्य में तभी विचरण करने लगता है जब वह अपना सम्मान प्राप्त कर लेने का विश्वास खो देता है। जिस बालक को

विश्वास होता है कि वह वास्तविक जगत में अनेक प्रकार का आचरण करके आत्म-सम्मान की रक्षा कर सकता है वह मनोराज्य में कदापि विचरण नहीं करता।

बालकों की कामवासना उत्तेजित करने वाली सभी बातों को अलग रखना आवश्यक है। जिन बालकों की कामवासना पहले अधिक उत्तेजित हो जाती है और फिर उसका एकाएक दमन किया जाता है तो उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। साधारण दमन से भी मनोराज्य में विचरण की आदत पड़ जाती है। धनी घर के बालकों की कामवासना की उत्तेजना उनके नौकर ही करते हैं, फिर संगी-साथी भी वैसे ही मिल जाते हैं। बार-बार सिनेमा को जाना और उपन्यासों का पढ़ना भी कामाग्नि को और प्रज्वलित करता है। अतएव इन सभी से बालकों को मुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

बालकों को रचनात्मक कार्य में लगाये रखना उनकी सभी मानसिक कमजोरियों को दूर रखने का सर्वोत्तम उपाय है। जिस बालक की मानसिक शक्ति रचनात्मक कार्य में लगी रहती है उसे मनोराज्य में उस शक्ति को खर्च करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। ऐसा बालक सदा अपने लिये और दूसरों के लिये उपयोगी कार्य करते रहता है। वह एकान्त-प्रिय नहीं होता। वह सब के साथ मिलता-जुलता और खेलता है। जो बालक व्यावहारिक जगत में सफलता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते वे एकान्त-प्रिय बन जाते हैं और फिर वे मनोराज्य में विचरण करने की आदत अपने आप में डाल लेते हैं। मनोराज्य का विचरण और वास्तविक जगत में कार्य करना एक दूसरे के विरोधी हैं; जहाँ एक की उपस्थिति होती है दूसरे का अभाव होता है। अतएव बालक को सदा रचनात्मक काम में लगाये रखना, उसे दूसरे बालकों से मिलने-जुलने तथा बोलने-चालने में प्रोत्साहित करते रहना मनोराज्य में विचरण करने से उसे रोकने का सर्वोत्तम उपाय है।

उन्नीसवाँ प्रकरण

सफल शिक्षण

सफल शिक्षण क्या है ?

सफल शिक्षण वह है जो बालकों के लिये प्रिय हो जिसमें बालकों का मन लगे और जिसे बालक बार-बार अपने-आप ही याद करें। अपने सुख के अनुभव हमें बार-बार याद आते हैं और दुःख के अनुभवों को हम भूल जाते हैं। यह हमारे जीवन के सामान्य संचालन के लिये आवश्यक भी है यदि ऐसा न हो तो हम अपने सुख के अनुभवों को तो भूल जायँ और हमें केवल दुःख के अनुभव ही याद रहें तो हम अधिक दिन तक जीवित ही न रह सकेंगे। हमारा सभी प्रकार का उत्साह भंग हो जाय और हम किसी का कोई कल्याण करने में समर्थ न हों। अतएव प्रकृति ही हमारे जीवन की रक्षा के लिये सदा हमारे दुःखद अनुभवों को हमारे मन से अलग करती रहती और सुखद अनुभवों का संचय करती रहती है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हमें सफल शिक्षण की कुंजी देता है। हम बालक को जो कुछ सिखाना चाहते हैं वह ऐसे सिखाना चाहते हैं कि वह उसे देर तक याद रहे और उसके जीवन में काम में आवे। परन्तु जो वस्तु बालक को अरोचक होती है वह उसे देर तक याद रह ही नहीं सकती। अरोचक बात को बालक अवश्य ही भूल जायगा। इतना ही नहीं अरोचक बात यदि बालक के मन में कोई गहरा संस्कार डालती है तो वह बालक के मन में एक मानसिक

ग्रन्थि के रूप में स्थित होगी जिसके कारण न केवल बालक उस विशेष बात को भूल जावेगा वरन् उससे सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों को भी भूल जावेगा। जो पाठ बालक को रोचक बनाकर पढ़ाया जाता है वह बालक को देर तक याद रहता है और वह समय पर काम आता है। इसके प्रतिकूल जो पाठ बालक को मार-पीटकर, गाली देकर पढ़ाया जाता है वह उसके सदा के लिये अप्रिय हो जाता है। ऐसा पाठ बालक को स्मरण नहीं रहता। यदि सारे स्कूल का ही वातावरण ऐसा हो कि बालक को मार-पीट कर ही सब विषय पढ़ायें तो ये सभी विषय बालक को अप्रिय हो जायँगे। ऐसे स्कूल में पढ़े हुए बालक विद्या से विमुख हो जाते हैं और सभी पुस्तकों को तथा शिक्षा-प्रचार करने वाले लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं।

इस पुस्तक के पिछले प्रकरणों में अनेक ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जहाँ पर बताया गया है कि शिक्षक व अभिभावक की अपने बालक को समय के पूर्व ही पंडित बनाने की चिन्ता ने उसे किस प्रकार विद्याध्ययन से विमुख कर दिया। कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये गये हैं जिससे सफल शिक्षण कैसे किया जाता है यह प्रत्यक्ष होता है। यहाँ हम पूर्व कथित सिद्धान्तों को बालकों के कल्याणहेतु दुहराना आवश्यक समझते हैं।

सफल शिक्षण के साधन

हम ऊपर कह आये हैं कि सफल शिक्षण वह है जो बालक को रोचक हो। सफल शिक्षण के साधन वे हैं जो पाठ को रोचक बनाने के साधन हैं। जो शिक्षण बालकों का पढ़ाई में ध्यान एकाग्र करने में जितना ही समर्थ है उतना ही सफल शिक्षण बालकों का ध्यान उन्हें मार-पीट कर, चिल्ला-गुर्राकर एकाग्र नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बालकों को काठ के पुतलों जैसा चुप बैठाया जा सकता है। बालक शिक्षक की बातों को डर के मारे सुनते हैं और उनकी करामातों

को देखते हैं पर जब उनकी आँखें शिक्षक की ओर रहती हैं और जब उनके कानों में शिक्षक के शब्दों की ध्वनि आती रहती है तब ही उनका मन दूर-दूर की सैर-सपाटे के लिये चला जाता है। उनके मन के दो भाग हो जाते हैं—एक भाग शिक्षक के साथ रहता है और दूसरा भाग खेल-कूद में तथा अन्य प्रकार की मौज उड़ाना अथवा किसी दुःखी व्यक्ति से बदला लेने में लगा रहता है। जैसे जैसे बालक की उमर बढ़ती जाती है उसका यह अभ्यास भी बढ़ता जाता है। कई दिनों के अभ्यास से बालक में एक आदत-सी पड़ जाती है कि वह अपना कोई भी काम पूरे मन से नहीं कर पाता। पूरे मन से काम न कर पाने के कारण बालक को अपने काम में पढ़ाई-लिखाई में बराबर असफलता मिलती है जिससे उसकी मनोराज्य में विचरण की प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि जिन बालकों को डाँट-डपट कर पढ़ाया जाता है वे अधिक प्रतिभाशाली नहीं निकलते ; ऐसे कई एक बालक विक्षिप्त हो जाते हैं।

यदि किसी बालक का पिता ही शिक्षक हो और उसे अपने सफल शिक्षक होने का गर्व हो तो यह उसके पुत्रों के लिये बड़े दुर्भाग्य की बात होती है। जिस पिता को सफल शिक्षक होने का गर्व हो जाता है वह स्वयं ही अपने बालकों का शिक्षण करने लगता है। वह घर पर बालकों को अपने आप पढ़ाने की चेष्टा करता है। वह बाहरी शिक्षक से सन्तुष्ट नहीं होता। बाहरी शिक्षक किसी बड़े पदाधिकारी के बालक के प्रति कठोरता का व्यवहार नहीं करते। इससे अपने-आपको योग्य शिक्षक समझने वाला पिता बाहरी शिक्षक से असंतुष्ट रहता है। जब वह स्वयं बालक का शिक्षण करने लगता है तो वह आशा करता है कि बालक उसके शब्द को पूरे मन से सुने और जल्दी से ही सभी बात समझ जाय। जब बालक अपना ध्यान देने में असमर्थ पाता है तो वह पिता की डाँट-फटकार सुनता है। इससे उसकी भूलों की संख्या

बढ़ जाती है। फिर सब बात में बालक भूल करने लगता है तो पिता उसे मूर्ख, मन्द-बुद्धि और निकम्मा व्यक्ति समझने लगता है बारबार डाँट-डपट पड़ने से बालक का आत्म-विश्वास भी चला जाता है। फिर जो बात यह याद कर सकता है वह भी उसे याद नहीं रहती। उसे पढ़ाई के सभी विषय अप्रिय हो जाते हैं।

जब बालक को पढ़ाई में आनन्द नहीं मिलता तो वह दूसरे स्थान में इस आनन्द की खोज करता है। यदि आनन्द की खोज के लिये बालक को बाहर जाने की स्वतंत्रता, खेल-कूद की स्वतंत्रता हुई तो बालक उन बातों में आनन्द को खो जाता है। परन्तु जब इन बातों में बालक को स्वतंत्रता नहीं रहती तो वह मनोराज्य में ही विचरण करने लग जाता है। जिन बालकों का घर का जीवन कठोर रहता है उन्हींको मनोराज्य में विचरण करने की आदत पड़ जाती है। फिर ऐसे बालकों को अपने आस-पास का वातावरण निरस हो जाता है। जब ऐसा बालक स्कूल में जाता है तो दूसरे लोगों को देखने में वह मास्टर के सभी बातों को सुनता और देखता है पर उसका भीतरी मन दूसरी ही ओर रहता है अतएव शिक्षक की पढ़ाई से बालक का विशेष काम नहीं होता ऐसे बालक असफल नागरिक बनते हैं। वे किसी काम को लगन के साथ नहीं कर पाते। परीक्षा के समय उन्हें ऐसे विचार सताने लगते हैं जिन्हें वे अपने मन में आने नहीं देना चाहते। मनोराज्य का विचरण थोड़े ही समय तक सुखद होता है। यह कुछ काल में ही दुखद हो जाता है। जो व्यक्ति जितने सुहावनिक काल्पनिक जगत की सैर करता है वह उतना ही चिन्तायुक्त विचारों का शिकार बन जाता है। कभी ऐसे बालक अपने मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को खो देते हैं।

लेखक को एक विद्वान् प्रोफेसर के दो लड़कों का अनुभव प्राप्त हुआ। प्रोफेसर महाशय अपने विषय के अद्वितीय विद्वान हैं।

नि अनेक पुस्तकें लिखी हैं जो विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं
ढाई जाती हैं। ये बड़े कठोर अनुशासक हैं। इनके भय से न
त कालेज के विद्यार्थी ही डरते हैं वरन् सभी बच्चे भी डरते हैं।
ने लड़कों को ये बड़ी कड़ाई के साथ पढ़ाते हैं। लड़के इनके सामने
प्रकार दब कर रहते हैं जिस प्रकार बिल्ली के सामने चूहे रहते हैं।
सर महाशय के लड़कों की स्मरण शक्ति अच्छी है। परन्तु प्रोफेसर
व को हर समय शिकायत रहा करती कि वे बड़े ही निकम्मे हैं।
तब से इनके लड़कों का आत्मविश्वास जाता रहा। एक लड़का
अपना शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को खो
ा है। और दूसरा समय समय पर अपने आपको भूल जाया करता
। कोई थोड़ी सी भूल हो जाने पर ये लड़के काँपने लगते हैं। भूल
जाने के भय से ये किसी नये काम में हाथ ही नहीं डालते। उन्हें
ने-लिखने की सुविधा है पर ये अपने ध्यान को जैसा एकाग्र रखना
हिये नहीं कर पाते। छोटे लड़के की अपेक्षा पिता बड़े लड़के के
ा अधिक कठोर है। अतएव छोटा लड़का जितना अपनी आजीविका
पार्जन करने में सफल हुआ बड़ा लड़का उतना सफल न हो सका।

कठोर नियंत्रण में रहने वाले बालक शरीर से तो एक स्थान पर रहते
पर मन से सारे संसार में विचरण करते रहते हैं और जब उन्हें यह
ी नहीं करने दिया जाता तो वे रोग-ग्रस्त हो जाते हैं। इस तरह जिन
लकों की रुचि को समझे बिना उन्हें शिक्षा देने की चेष्टा की जाती
; वे निकम्मे हो जाते हैं। बहुत से विद्वान अपनी पढ़ी सभी विद्या
ो बालक के मस्तिष्क में ठूंस देना चाहते हैं। इसके परिणामस्वरूप
ालकों को बौद्धिक कुपच हो जाता है। बालकों को किसी पाठ को रटा
कर पढ़ाने का यही परिणाम होता है।

ऐसी बातों को बालक बिना समझे अपने मस्तिष्क में रखने की
चेष्टा करता है। इस प्रकार के कामों बालक के मस्तिष्क के लिये ऐसा

बन जाती हैं और इसके कारण बालक की स्वतंत्र सोचने की शक्ति का विनाश हो जाता है। जिस बालक को सदा नई बातें सिखाई व रटाई जाती हैं उनका मस्तिष्क उस श्यामपट के समान हो जाता है जिस पर अनेक बातें एक के ऊपर एक लिख दी जाती हैं और अन्त में श्यामपट के ऊपर निरर्थक रेखाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। केवल रटाकर बालकों को पाठ पढ़ाने का यही परिणाम होता है। इस प्रकार की पढ़ाई से हम पठित मूर्खों की संख्या बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों में कुछ भी बातें न तो सोचने की शक्ति होती है और न अपने प्राप्त ज्ञान को उपयोग में लाने की क्षमता रहती है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि बालकों की रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार उन्हें ज्ञान दिया जाना चाहिये। बालकों की रुचि अवस्था के अनुसार बदलती रहती है और जैसे जैसे ये रुचियाँ बदलती हैं उनके पढ़ाई के विषय बदलते रहना चाहिये तथा उनकी जटिलता अधिकाधिक होनी चाहिये। बालमनोविज्ञान का अध्यापन बालकों की रुचियों के विकास का ज्ञान कराता है। शैशवकाल में बालकों की रुचि वस्तुओं के छूने, उनके तोड़ने-फोड़ने और बनाने में रहती है। बालक का मन सदा विकासात्मक होता है। बालक प्रतिदिन अपना सम्पर्क संसार से बढ़ाते रहता है और अपनी शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करते रहता है। शैशवकाल में बालक में बोलने की शक्ति नहीं रहती अतएव बालक स्वभावतः हाथ से कुछ वस्तुओं के बनाने बिगाड़ने में लगा रहता है। इस काल में बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति प्रबल रहती है। अतएव इस प्रवृत्ति से सबसे अधिक काम लेना उचित है।

शैशवावस्था के बाद के समय में बालक में बोलने की इच्छा प्रबल होती है। इस समय वह संसार का ज्ञान बातचीत करके प्राप्त करता है। बालक इस समय अनेक प्रश्न अपने आप अपने अभिभावकों और शिक्षकों से पूछता है। अतएव इस काल में बालक की जिज्ञासा का

सकी शिक्षा में उपयोग करना सबसे महत्त्व की बात है। बालक को
सी काल में कहानी सुनने की इच्छा होती है। वह सभी असम्भव
हानियों को ध्यान से सुनता है; एवं बालकों की अधिक शिक्षा
हानियों के द्वारा इस काल में होना आवश्यक है।

बालक की किशोरावस्था में वह गम्भीर प्रश्नों पर विचार करता है।
सकी भ्रमण करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, उसे घर अच्छा
हीं लगता। उसकी कामवासना भी जाग्रत हो जाती है। अतएव इस
ाल में बालक को ऐसे काम दिये जाने चाहिये जिससे उसकी भ्रमण
ी इच्छा तृप्त हो और उसकी काम शक्ति का शोध हो। कठिन मान-
िक परिश्रम, कविता तथा कला आदि इस काल में देना आवश्यक है।

सफल शिक्षण के लिये शिक्षक को बालक के साथ अपना आत्म
ान करना पड़ता है। इसके लिये शिक्षक को अपनी कल्पना में बालक
नना आवश्यक होता है। विरले ही मनुष्य में यह योग्यता रहती है।
अतएव वे सफल शिक्षक होने में असमर्थ रहते हैं। बालक जितना छोटा
होता है उसका पढ़ना उतना कठिन होता है। यहाँ प्रश्न बुद्धि और
ज्ञान में कमी का नहीं है वरन् अपने-आपको बालक की मनोवृत्ति में
रखने की क्षमता का है। बहुत से मनोवैज्ञानिक भी जो बाल-मनोविज्ञान
की अनेक बातों पर महत्त्व का प्रकाश डाल सकते हैं सफल शिक्षक होने
में असमर्थ रहते हैं। इसका कारण उनमें बुद्धि की कमी नहीं
है। विश्लेष बुद्धि का मुख्य कार्य विश्लेषणात्मक होता है। अतएव
बुद्धि के वृद्धि से मनुष्य किसी भी जटिल समस्या के विभिन्न पहलू को
अलग-अलग करके समझ सकता है। परन्तु सफल शिक्षण के लिये
इतना ही पर्याप्त नहीं है इसके लिये कलाकार की रचनात्मक योग्यता
की आवश्यकता होती है। कलाकार अपनी कला के विषय से तादात्म्य
स्थापित कर लेता है। अतएव वह सफलता पूर्वक उसमें सुन्दरता लाने
में समर्थ होता है। इसी प्रकार जब शिक्षक बालक से तादात्म्य स्थापित

करता है तो उसे योग्य नागरिक बनाने में समर्थ होता है। छोटे बालकों के लिये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इसलिये अधिक उपयुक्त होती हैं कि उनमें वह भावुकता रहती है जिसके कारण वे बच्चों से तादात्म्यता शीघ्रता से स्थापित कर लेती हैं। उनके मृदु शब्द बालकों के हृदय को प्रमुदित करते हैं और बालक उनमें अपनी माता के स्नेह को प्राप्त कर लेते हैं।

बालकों के पढ़ाने में सबसे महत्व की बात बालकों को आत्म-प्रकाशन का अवसर देना है। जो शिक्षक जितना ही कम अपने-आप कष्ट करके बालकों से अधिष्ठान कराता है वह उतना ही सफल शिक्षा है। हमारे साधारण शिक्षालयों में शिक्षक प्रधान अभिनेता होता और बालक दर्शक का स्थान लेते हैं। परन्तु सफल शिक्षण में ठीक इसकी उल्टी परिस्थिति रहती है। बालक का स्नेहभाजन बनने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक बालक को अधिक से अधिक बोलने और काम करने का अवसर दे। जिस व्यक्ति के समक्ष बालक अपना हृदय खोल सकता है जिसे वह अपनी योग्यता दर्शा सकता है और जो उसकी प्रत्येक बात को ध्यानपूर्वक सुनता और समझाता तथा उसे उचित कामों के लिये प्रोत्साहन देता है तो वह बालक का स्नेहभाजन बन जाता है। जब बालक के हृदय पर शिक्षक का अधिकार हो जाता है और जब शिक्षक बालक की श्रद्धा को प्राप्त कर लेता है तो बालक-शिक्षण सरल कार्य हो जाता है।

सफल शिक्षण बड़े धैर्य का कार्य है। एक ही बात को बालक को कई बार समझाना पड़ता है और उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनना पड़ता है। जिस व्यक्ति को अपने काम में जल्दी लगी रहती है वह सफल शिक्षक नहीं बन सकता। जिस प्रकार कोई सुन्दर चित्र जल्दी में तैयार नहीं हो सकता उसी प्रकार बालक का मन भी जल्दी जल्दी में उचित ढंग पर नहीं लाया जा सकता। धैर्य से कार्य करने से शिक्षण

ा कार्य बालक और शिक्षक दोनों के लिये आनन्ददायक हो जाता । जिस काम में आनन्द की अनुभूति होती है उसे सभी लोग र-बार करना चाहते हैं। जो शिक्षक सहज भाव से शिक्षा का कार्य ता है वह शिक्षा को, बालकों को तथा अपने-आपको प्रिय बनाता । उसका पढ़ाया हुआ पाठ बालकों को हर समय याद रहता है। जिस ठ के पढ़ने में बालकों को सच्चे आनन्द की अनुभूति होती है उससे क का भी बौद्धिक और आध्यात्मिक लाभ होता है।

उत्तम शिक्षण सीखने का एक प्रमुख साधन क्रिया के साथ योग है। यदि यह क्रिया हाथ के काम की हुई तो बहुत ही अच्छा । हाथ के काम का और मस्तिष्क के काम का सहयोग होने से ही ता है। हमारे ज्ञानात्मक और क्रियात्मक मस्तिष्क के स्नायुओं बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब एक प्रकार के स्नायु क्रियाशील होते हैं दूसरे प्रकार के भी स्नायु क्रियाशील होते हैं। इस प्रकार के क्रिया सुचारुरूप से करने से ज्ञान की वृद्धि होती है अर्थात् बालकों का न ठोस होता है और ज्ञान के दृढ़ हो जाने से वह क्रिया का योग्य संचालन करने में समर्थ होता है। ज्ञान के संस्कार कभी न कभी क्रिया में प्रकाशित होते हैं। यदि ज्ञान और क्रिया का सहयोग पहले से ही कर दिया जाय तो दोनों की वह विषमता मिट जाय जिसके कारण मनुष्य के मस्तिष्क में अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है ध्यान को एकाग्र करने का सबसे उत्तम उपाय क्रिया में मन को लगाना है। क्रिया का सफल संचालन बिना ध्यान की एकाग्रता के संभव नहीं। यह क्रिया प्रारम्भ में स्थूल होती है और पीछे वह सूक्ष्म हो जाती है। अतएव शिक्षण के प्रारम्भ काल में बालकों के हाथ के काम ही अधिक कराना चाहिये। इन कामों का बालक की दृष्टि में प्रयोजन होना आवश्यक है। जो काम बालक अपने प्रश्नों के हल करने के लिये करता है वह उसके लिये दिलचस्प

होते हैं। आधुनिक काल में अमेरिका में समस्या हल विधि का प्रयोग छोटे बालकों के शिक्षण में हो रहा है। यह विधि बालकों के ध्यान को एकाग्र करने में उपयोगी सिद्ध हुई है।

जो बालक अपनी समस्या को हल करने के लिये प्रयत्न करता है उसे वह देर तक स्मरण रखता है। इससे बालक में आत्मविश्वास आता है और उसका चरित्र-संगठन होता है। बालकों से हाथ से काम कराने से उनके मन में काम के प्रति आदर का भाव भी आता है। इस प्रकार वह कोरे कल्पना के प्रति विरत हो जाता है और वास्तविक जीवन की सफलता को अपनी योग्यता का मापदण्ड बना लेता है।

सफल शिक्षण का ध्येय

सफल शिक्षण का ध्येय बालक को स्वावलम्बी बनाना है। यह स्वावलम्बन तीन प्रकार का होता है। बालक को हमें ज्ञान की, क्रिया की तथा भावों की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना है। ज्ञान की दृष्टि से उस बालक को हम सुशिक्षित कहेंगे जो पोथियों में लिखी बातों पर अपने-आपको निर्भर नहीं करता वरन् अपने अनुभव पर विचार करके कुछ उपयोगी निष्कर्ष अपने पथ-प्रदर्शन के लिये निकाल सकता है। यदि उसे किसी नये ज्ञान की आवश्यकता हुई तो वह अपने पुस्तक की रटी बातों को ही नहीं याद करता वरन् संसार के असीम ज्ञान-भाण्डार से लाभ उठाता है। दूसरे लोगों के विचारों को सदा जानते रहना अपने ज्ञान को उन्नत बनाने का श्रेष्ठतम उपाय है। इसके लिये सुशिक्षित बालक उत्तम पुस्तकों को खोज लेता है और उनमें जो उसके लिये उपयोगी ज्ञान है उसे लेता रहता है। जितना ही बालक अपने-आप पढ़ने में मन लगाता है और शिक्षक की ज्ञान-वृद्धि के लिये उपेक्षा रखता है वह उतना ही सुशिक्षित बालक है।

क्रिया की दृष्टि से वह बालक स्वावलम्बी कहलाया जा सकता है। जो समय पड़ने पर अपने जीवन-पोषण और आत्म-रक्षा के सभी काम

पर देता है। जिन बालकों की आदत केवल पुस्तकों को पढ़ने की हो जाती है उनमें शारीरिक परिश्रम करने की क्षमता जाती रहती है। ऐसे व्यक्ति शारीरिक परिश्रम से अपना जी चुराते हैं। वे समय पड़ने पर भूखे ही रह जाते हैं। पर अपना भोजन पका कर नहीं खा सकते, उन्हें सदा नौकरों की आवश्यकता रहती है। ऐसे लोग दूसरों के ऊपर भार बन कर जीते हैं। उनमें गरीबों के प्रति सहानुभूति का भाव नहीं रहता। जब गरीबों के परिश्रम पर जीवित रहने की प्रवृत्ति समाज में बढ़ जाती है तो भारी-भारी सामाजिक क्रान्तियों का बीजारोपण हो जाता है। फिर ये लोग घर के और न घाट के अर्थात् कहीं के नहीं रहते। अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि बालक को पहले ही क्रिया की दृष्टि से स्वावलम्बी बनावें। आधुनिक समाजवादी देशों की शिक्षा प्रणालियों में बालकों के शारीरिक श्रम के ऊपर उतना ही ध्यान दिया जाता है जितना उनकी बौद्धिक शिक्षा पर।

भावात्मक दृष्टि से हम उन व्यक्तियों को सुशिक्षित मानते हैं जो सदा किसी महान लक्ष्य में अपनी सारी मानसिक शक्तियों को लगाये हुए हों। हमारे साधारण युवकों के मन में सदा आन्तरिक संघर्ष की आवश्यकता रहती है। इसका कारण यह है कि उन्हें उचित भावात्मक शिक्षा नहीं मिली, उनकी इच्छा शक्ति इसके कारण विलीन हो कर निर्बल ही बनी रही। ऐसे लोग निराशा से मरनेवालों की संख्या को बढ़ाते हैं। जिन बालकों की श्रद्धा बचपन से ही उचित आदर्शों अथवा व्यक्तियों के प्रति हो जाती है वे बचपन काल से बड़े काम में लगे रहते हैं। जो बालक बचपन काल से अपना काम करते वही सुशिक्षित हैं। जिन बालकों का जीवन एकांगी होता है उनमें एक ओर असहायता की भावना रहती है और दूसरी ओर अनेक प्रकार के आडम्बर की प्रवृत्ति रहती है। सभी काम को बचपन प्यार तथा स्वावलम्बन से करना सीखना शिक्षा पाने का सर्वोत्तम तरीका है।

बीसवाँ प्रकरण

बालकों का उचित अनुशासन

शिक्षण में अनुशासन की आवश्यकता

बालकों की शिक्षा की प्रमुख समस्यायें दो हैं—बालकों को क्या सिखाया जाय और उनमें अनुशासन कैसे रखा जाय। इन समस्याओं का हल एक दूसरे पर भी निर्भर करता है। यदि बालकों को वही ज्ञान दिया जाय जो उनके लिये उपयुक्त है और जिसके वे भूखे हैं तो अनुशासन का प्रश्न बहुत कुछ अपने आप ही हल हो जाये। जब बालक किसी विशेष कार्य में पूरे मन से लगा रहता है तो उसे उत्पात करने की बात सूझती ही नहीं। उसे अनुशासन के नियमों के जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। बालक को बार-बार नियमों का स्मरण दिलाते रहना अनुशासन की कमी का सूचक है। इसका अर्थ है कि बालक का मन अपने काम में नहीं लगता और उससे बाध्य होकर काम कराया जाता है। बाध्य होकर बालक तभी तक काम करता है जब तक बाध्य करानेवाली सत्ता सचेत रहती है। जब कभी यह सत्ता असावधान होती है तो बालक फिर मनमानी करने लगता है। काम का अनुशासन ही सच्चा अनुशासन है। अभिभावक के भय का अनुशासन झूठा अनुशासन है। वह ऊपर से लादा जाता है। बालक उसे भय की स्थिति में रखनेवाले व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से देखता है। वह जब कभी अवसर पाता है ऐसे व्यक्ति के शासन से मुक्त होने की चेष्टा करता है।

जिस प्रकार बालक के किसी विषय के ठीक से सीखने के लिये

अनुशासन की आवश्यकता होती है और बालक के पाठ्य विषय के उचित चुनाव से अनुशासन के बहुत से प्रश्न हल हो जाते हैं, इसी प्रकार यदि बालक अपने आपको अनुशासन में रखने की क्षमता प्राप्त कर लें तो वे किसी विषय के पढ़ने में सफल हो सकते हैं। जिस बालक में आत्म-नियंत्रण की शक्ति है वह जिस किसी विषय को पढ़ेगा उसमें वह सफलता पावेगा। यहाँ प्रमुख प्रश्न हमारे सामने बालकों के उचित अनुशासन का है। हमें देखना है कि बालकों का उचित अनुशासन क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

बालकों का उचित अनुशासन वह है जिससे बालक में आत्म-सम्मान का भाव उदय हो और वह अपने आपको ऊँचा बनाने की चेष्टा में लग जाय। इससे बालक का आत्म-ज्ञान बढ़ता है और उसमें आत्म नियंत्रण की शक्ति आती है। बालक में आत्म-नियंत्रण की शक्ति को जाग्रत करना ही उचित अनुशासन का ध्येय है। यह शक्ति बालक में तभी आती है जब वह अपने जीवन को ऊँचा उठाना चाहता है। इसके लिये भविष्य के सुन्दर आदर्शों का होना आवश्यक है। वर्तमान काल में बालक चाहे जैसा ही क्यों न हो, यदि वह सदा सोचता है कि उसका भविष्य उज्वल है और उसे भविष्य में एक महान् व्यक्ति बनना है तो वह आत्म-नियंत्रण करने में अवश्य ही समर्थ होगा। जिस बालक की अपने भविष्य की कल्पना अच्छी नहीं होती उसमें आत्म-नियंत्रण का भाव भी नहीं आता। भविष्य की कल्पना मनुष्य को वर्तमान काल के अनेक प्रलोभनों में पड़ने से रोकती है। जिस व्यक्ति का भविष्य उज्वल नहीं रहता उसका वर्तमान भी उज्वल नहीं होता। अपने भविष्य की कल्पना बालक में उसके संगी साथियों और अभिभावकों से आती है। जब बालक चारों ओर से भले निर्देश पाता है, जब वह देखता है कि सभी लोग उसके भविष्य के विषय में भला सोच रहे हैं तो वह अपने भविष्य के बारे में भी अच्छा

सोचने लगता है। बालक के विचार ही उसके आचरण के जन्मदाता होते हैं। जब बालक के अपने आपके विषय में विचार भले बना दिये जाते हैं; जब उसे सुझाया जाता है कि उसमें महान शक्ति निहित है; तो वह अपने भविष्य की भली कल्पना करने लगता है और फिर वह भला आचरण स्वतः करने लगता है।

बालक तबतक भला आचरण करने योग्य नहीं होता जब विचार भूलों से बचने के ऊपर केंद्रित रहते हैं। बालक के आचरण त्रुटियों का एक प्रमुख कारण बालक को बार-बार अपनी कमजोरियों को याद दिलाना है। कमजोरियों की चर्चा और उनके विषय में चिन्तन करने से वे न तो अपने आपके चरित्र से और न बालक के चरित्र से जाती हैं, कमजोरियाँ तभी जाती हैं जब हम किसी रचनात्मक काम में अपने मन को लगा देते हैं। अतएव बालक का मन किसी रचनात्मक काम में लगा देना उसे अपनी कमजोरियों से मुक्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। भले आचरण की जड़ सदा रचनात्मक विचार में होती है। जब मनुष्य केवल अपने लक्ष्य को ध्यान में रखता है और उसकी भलाई अथवा बुराई के विषय में चिन्तन करना छोड़ देता है, तभी वह भला आचरण करने में समर्थ होता है। मनुष्य में स्थायी भलाई प्रयत्न के द्वारा नहीं आती, वह दूसरे काम को करते-करते सहज में आ जाती है। मनुष्य का मुख्य लक्ष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति होती है। जब बालक की अपने उद्देश्य में लगन हो जाती है, तो उसके चरित्र से ये दुर्गुण अपने आप ही चले जाते हैं जो उसके उद्देश्य प्राप्ति में बाधक होते हैं। अतएव बालक का उचित अनुशासन वह है जिसमें न तो अभिभावक को और न बालक को चरित्र सुधार करने की चिन्ता रहती है। बालक हर समय अपने लक्ष्य के बारे में सोचता है और उसपर पहुँचने की सदा चेष्टा करता रहता है।

अनुशासन-हीनता के कारण

बालक में अनुशासन-हीनता दो कारणों से आती है—पहले तो अभिभावक की बात को बालक ठीक न माने तो उसमें अभिभावक की आज्ञा भंग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अपने आपको अनुचित अनुशासन में रखना इच्छा शक्ति की कमजोरी का द्योतक है। अनुचित अनुशासन में बालक भय के कारण ही रहता है, वह प्रेमवश अनुचित अनुशासन में नहीं रहता। जब बालक में भय की मनोवृत्ति का अन्त हो जाता है तो ऐसे अनुशासन का भी अन्त हो जाता है। भय से प्रेरित अनुशासन अस्थायी होता है। सच्चे अनुशासन के लिये बालकों के समक्ष उसका औचित्य सिद्ध करना नितांत आवश्यक है। यदि बालक को अनुशासन भंग करने के लिये दण्ड दिया जाय तो उस दण्ड का औचित्य बालकों के समक्ष सिद्ध करना नितांत आवश्यक है। फिर बालक को दण्ड देनेवाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये जिसके विषय में बालक की धारणा अच्छी है, जिसे बालक श्रद्धा अथवा प्यार की दृष्टि से देखते हैं। यदि पिता बालक को किसी अनुचित कार्य के लिये दण्ड दे और माता बालक का पक्ष ले तो इस प्रकार के दण्ड से बालक का कल्याण न होकर उसका अकल्याण ही होता है। बालक के दण्ड-औचित्य के विषय में माता और पिता की एक राय होनी चाहिये।

मान लीजिये माता मूर्ख है, उसे उचित अनुचित का ज्ञान ही नहीं। वह पति की बातों का बात-बात में विरोध करती है। पिता शिक्षित और कार्यसंचारी व्यक्ति है। वह बालक को अपने ही जैसे चरित्र का बनाना चाहता है। इस कार्य में जब तक वह बालक की माँ का सहयोग प्राप्त नहीं कर लेगा, अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। माता के विरोधी होते हुए बालक को दण्ड देना बालक को अपना शत्रु बनाना है। जो बालक माता का विरोध रहते

हुए पिता से दण्ड पाते हैं वे पिता की चिन्ता का कारण बन जाते हैं।

दण्ड सभी लोगों को अप्रिय होता है। दण्ड से बचने के लिये हम कुछ न कुछ कारण खोज लेते हैं। हम चेष्टा करते हैं कि अपने ऊपर आये दण्ड को अनुचित सिद्ध करें और अपने आचरण को उचित सिद्ध करें। जब प्रौढ़ व्यक्तियों की यह मानसिक अवस्था रहती है तो बालक की मानसिक अवस्था का तो कहना ही क्या है। बालक से बार बार भूल होती हैं और वह इन भूलों के परिणाम से बचने का अर्थात् दण्ड पाने से बचने के उपाय भी सोचा करता है। यदि कोई व्यक्ति उसे सुझा दे कि जो दण्ड उसे दिया जाता है वह अनुचित है तो उसे यह बात तुरंत ठीक जँच जाती है। फिर ऐसा बालक दण्ड पाते समय अपने अभिभावक के प्रति बदला लेने के भाव मन में लाता है। ऐसी मानसिक अवस्था में वह बार-बार जान बूझ कर अथवा अनजाने ही ऐसा आचरण करता है जिससे अभिभावक को कष्ट हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति उसी बालक में होती है जिसमें कुछ व्यक्तित्व का बल है। समाज के अधिक बालकों में उचित अनुचित पर विचारने की योग्यता ही नहीं होती। ये केवल भय के कारण पिता की अथवा अभिभावक की आज्ञा का पालन करते हैं।

बालक के उचितानुचित सोचने के मापदण्ड उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न होते हैं। बालक के शैशव काल में माता के विचार ही उचित अनुचित का मापदण्ड बनते हैं, उसकी किशोरावस्था में अपने साथी बालकों के विचार उचित अनुचित का मापदण्ड बनते हैं, इसके बाद समाज के बड़े बूढ़े और सम्मानित लोगों के विचार उचित अनुचित का मापदण्ड बन जाते हैं। बालक अपने अभिभावक की बातों को उसकी विभिन्न अवस्था में उक्त भिन्न-भिन्न कसौटियों पर कसता है। यदि इन कसौटियों पर कसने पर अभिभावक के विचार ठीक सात हुए तो वह उन्हें ठीक मानता है अथवा वह उन्हें अभि-

भावक की स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन मात्र मानता है। अतएव बालक को ठीक अनुशासन में लाने के लिये और उसका नैतिक विकास करने के लिये यह आवश्यक है कि अभिभावक बालक की *मानसिक* स्थिति से भली भाँति परिचित हो और वह जाने कि बालक किस व्यक्ति अथवा समाज के विचारों को अपने आचरण का मापदण्ड बनाये हुए है। बालक की मानसिक स्थिति जाने बिना उसको अनुशासन में लाने की चेष्टा करना अपनी हठधर्मी को प्रश्रय देना है। इस प्रकार की हठधर्मी से बालक में भी हठधर्मी का भाव जाग्रत होता है। इससे उसमें प्रति-निर्देश की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। फिर जैसा जैसा हम बालक को सुधारने की चेष्टा करते हैं वह दिन प्रतिदिन और भी बिगड़ते जाता है। जो बालक अपने उचित अनुचित विचारों के प्रतिकूल किसी अनुशासक की बात मानने की आदत डाल लेते हैं वे संसार में कोई भी स्मरणीय कार्य नहीं कर पाते। वे अपने जीवन को भार रूप ढोते हैं।

ऊपर हमने बालक की अनुशासनहीनता का एक कारण बालक के नैतिक विचारों का पिता के विचारों से असामञ्जस्य बताया है, पर बालक की अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण उसकी इच्छाशक्ति की दुर्बलता होती है। जब बालक में आत्म-नियंत्रण की शक्ति का अभाव होता है तो वह नियम पालने की इच्छा रखते हुए भी नियम का पालन नहीं कर पाता। बालक में इच्छा शक्ति की दृढ़ता अभ्यास से आती है। बालक को आत्म नियंत्रण का अभ्यास कराना उसकी इच्छाशक्ति को बली बनाने का एकमात्र उपाय है। महात्मा सुकरात के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जिस व्यक्ति में चरित्र का एक सद्गुण है उसके चरित्र के सभी सद्गुण रहते हैं। सभी सद्गुणों में भाईचारा रहता है; इसी तरह सभी दुर्गुणों में भी भाईचारा रहता है। सभी सद्गुणों का आधार इच्छाशक्ति की दृढ़ता है और सभी दुर्गुणों का आधार

इच्छाशक्ति की निर्बलता। बालक की इच्छाशक्ति कैसे बढ़ाई जाय, यही उनके चरित्र निर्माण का प्रमुख प्रश्न है। इसी प्रश्न के हल करने से अनुशासन की सभी समस्यायें हल हो जाती हैं।

बालक की इच्छाशक्ति धीरे-धीरे बढ़ती है। इसके लिये बालक की प्राथमिक इच्छाओं की पूर्ति होना नितांत आवश्यक है। जिस बालक की प्राथमिक इच्छायें पूरी नहीं होती उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति का उदय नहीं होता। बालक की प्राथमिक इच्छायें खाने और खेलने की होती हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति होने पर उसमें उच्चकोटि की इच्छाओं का आविर्भाव होता है। यदि बालक की प्राथमिक इच्छाओं को तृप्त न होने दिया जाय तो उसमें उच्चकोटि की इच्छा का उदय ही नहीं होता। ये अतृप्त इच्छायें बालक के व्यक्तित्व को सदा नीचे ढकेलती रहती हैं। वे उसे आगे बढ़ने से रोकती रहती हैं। निम्नकोटि की इच्छायें वे हैं जो तुरंत के सुख की प्राप्ति से सम्बन्ध रखती हैं, अर्थात् उनका ध्येय तुरंत का सुख प्राप्त करना होता है। उच्च कोटि की इच्छाओं में वर्तमान काल के सुख का त्याग और भावी सुख की प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। इनके उदय के लिये वर्तमान काल के सुख से बालक को विरत करना और उसका ध्यान भावी लक्ष्य पर जमाना आवश्यक है। जब वर्तमान काल की इच्छायें अति प्रबल होती हैं तो भावी सुख की इच्छाओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं होता अतएव बालक नीची अवस्था में ही बना रहता है।

जब वर्तमान काल की इच्छाओं का कठोरता के साथ दमन होता है तो वे अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों का कारण बन जाती हैं। ये मानसिक ग्रन्थियाँ बालक के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न करती हैं। इनके कारण बालक की मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। फिर बालक में भला बुरा सोचने की शक्ति ही नहीं रहती। जो कुछ

चार एक बार उसके मन में आ जाता है वह फलित होकर रहता। बालक में उस विचार को रोकने की शक्ति नहीं रहती।

बालक में आत्म-नियंत्रण की योग्यता आना अभ्यास का परिणाम। अभ्यास आदत बनती है। जब किसी प्रकार के काम करने की लक में आदत पड़ जाती है तो फिर उसे उस काम को करना सरल जाता है। इस प्रकार कठिन से कठिन कार्य सरल हो जाता है। तु प्रत्येक आदत की जड़ बालक की इच्छा में होती है। जिस काम बालक नहीं करना चाहता उसके करने की आदत उसमें नहीं ती। अतएव बालक में भले बनने की इच्छा उत्पन्न करना ही उसे काम करने और भली आदतें डालने का प्रमुख साधन है। जिस बालक के मन में मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं उसमें किसी प्रकार की कुटेव में पड़ जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जिन बालकों को माता-पिता का सहज प्रेम नहीं मिलता उनमें ऐन्द्रिक सुख की ओर जाने की सहज प्रवृत्ति होती है। अच्छे अनुशासन में वही बालक रह सकता है जिसका मन स्वस्थ है और जो अपने भीतर से ऊँचे उठने की सहज प्रेरणा पाता है। अतएव अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों की प्राथमिक इच्छाओं को कठोरता से दबा कर उनके जीवन को क्लेशमय न बनावें। यदि बालक स्वस्थ मन के होंगे तो उनमें सदाचार की सहज प्रवृत्ति होगी। यदि उनका मन अस्वस्थ रहेगा तो वे स्वभावतः स्वार्थी, क्रूर, आलसी और निकम्मे हो जावेंगे। फिर किसी भी प्रकार का अनुशासन उन्हें सुधार नहीं सकता।

इक्कीसवाँ प्रकरण

बालक की स्मृति का उपयोग

स्मृति की मानसिक विकास में महत्ता

बालक के मानसिक विकास में उसकी स्मृति की बड़ी महत्ता है। जिस बालक की स्मृति अच्छी होती है वह प्रायः सभी ओर उन्नति करता है और जिसकी स्मृति खराब होती है वह अनेक बातों में दूसरे बालकों की अपेक्षा पिछड़ने लगता है। देखी सुनी बातों को स्मरण रखना उन पर विचार करने के लिये आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने एक क्षण के अनुभव को दूसरे क्षण भूल जाता है वह उस पर विचार कैसे कर सकता है। ऐसे व्यक्ति का बौद्धिक विकास नहीं होता। अतएव स्मृति में निम्न कोटि के बालक बुद्धि में भी निम्न कोटि के पाये जाते हैं। फिर बुद्धि के ऊपर मनुष्य के चरित्र के गुण भी निर्भर करते हैं। साधारणतः बुद्धिमान लोगों के चरित्र में ये गुण पाये जाते हैं जो उन्हें जीवन में सफल बनाने के लिये आवश्यक हैं। चरित्र के अनेक दोष मनुष्य में दूरदर्शिता की कमी के कारण उत्पन्न होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह समझ जाये कि प्रत्येक बुरे काम का परिणाम बुरा होता है और प्रत्येक भले काम का परिणाम भला होता है, चाहे इन परिणामों के मिलने में देर कितनी ही लगे, तो वह किसी बुरे काम को न करे और भले ही काम करे। फिर जैसा उसका आचरण होगा उसका चरित्र भी वैसा ही बन जायगा।

संसार के जितने महान् पुरुष हुए हैं उनकी स्मृति अच्छी थी। स्मृति के अच्छे न होने पर मनुष्य अपनी जिम्मेदारियों को ठीक से

नहीं निभा सकता। मान लीजिये हमें किसी व्यक्ति ने अपने यहाँ आमंत्रित किया। उसने हमारे लिये बहुत कुछ आयोजन किया। परन्तु हम आमंत्रण का समय ही भूल गए। फिर हमारे विषय में वह क्या सोचेगा। आपस का लेन देन, आना जाना, वचन का निबाहना सभी स्मरण शक्ति पर निर्भर करता है। हमारा लेख लिखना, दूसरों के सामने बोलना, चीजों वस्तुओं को रखना आदि स्मृति के ऊपर ही निर्भर करता है। इन छोटे छोटे कामों को ठीक से करने से ही व्यक्ति महान् होता है।

आधुनिक काल में सभी लोगों की महानता उनके अध्ययन और विचार पर निर्भर करती है। बिना अध्ययन और विचार के सामर्थ्य के संसार में किसी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की ख्याति नहीं मिल सकती। जिन लोगों की अच्छी स्मृति नहीं वे न तो विद्या अध्ययन और विचार कर सकते हैं और न अपनी बातों से दूसरे लोगों को प्रभावित कर सकते हैं। समाज के नेता वे ही लोग होते हैं जिनका अध्ययन अच्छा है और जिनकी विचारशक्ति अच्छी है। जब मनुष्य की स्मृति बिगड़ जाती है तो वह अपना सभी कुछ खो देता है—

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धि नाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

स्मृति किन बातों पर निर्भर करती है ?

बालक की स्मृति प्रधानतः दो बातों पर निर्भर करती है—एक उसकी जन्मजात योग्यता पर और दूसरे उसकी रुचि पर। कोई बालक जन्म से ही अच्छी स्मृति वाले होते हैं और कोई कम स्मृति के होते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालकों की जन्मजात स्मृति की योग्यता बढ़ाई अथवा घटाई नहीं जा सकती। यह उसके मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर करती है। मस्तिष्क की बनावट [illegible] की शारीरिक बनावट पर निर्भर करती है। जिन बालकों के [illegible]

अच्छी स्मृति के होते हैं वे स्वयं भी अच्छी स्मृति के होते हैं और जिनके माता पिता की स्मृति अच्छी नहीं होती उनकी भी स्मृति अच्छी नहीं होती।

परन्तु जन्मजात स्मरण शक्ति अच्छी होते हुए भी यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो उसका विकास नहीं होता। स्मरण शक्ति के दुरुपयोग से उसका ह्रास हो जाता है। बालक और प्रौढ़ व्यक्ति के स्मृति में जो भेद पाये जाते हैं वे प्रायः उसकी शिक्षा के परिणाम होते हैं। जिस बालक की शिक्षा उचित ढंग से की जाती है वह अच्छी स्मरण शक्ति का बालक बन जाता है; वह अपनी स्मृति के चमत्कार संसार को दिखाने में समर्थ होता है; और जिस बालक की शिक्षा अच्छे ढंग से नहीं होती वह अपनी स्मृति से विशेष लाभ नहीं उठाता। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालक की स्मृति की विशेषताओं, उसके विकास के उपायों, बिगड़ने के कारणों और सुधार के उपायों को भलीभाँति जानें। बालक का उचित शिक्षण भी तभी हो सकता है।

बालक की स्मृति की विशेषतायें

बालक की स्मृति और प्रौढ़ व्यक्ति की स्मृति में कुछ महत्व के भेद होते हैं। बालक की धारणा शक्ति प्रायः अच्छी होती है, परन्तु उसकी याद की हुई बात को मन में ले आने की शक्ति कम होती है। धारणा शक्ति मस्तिष्क की जन्मजात बनावट पर निर्भर करती है और याद की हुई बात का फिर से चेतना के स्तर पर आना, जिसे पुनः स्मरण कहा जाता है व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है। इसके लिये अपने अनुभव पर बार बार विचार करना पड़ता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने अनुभव पर विचार करता है वह उतना अपने जीवन में उतना ही अधिक प्रगतिशील भी हो सकता है। इसी

अनुभव पर बार-बार विचार करने से उसके संस्कार दृढ़ ही नहीं होते वरन् एक अनुभव का दूसरे अनुभव से सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। इस प्रकार के सम्बन्धीकरण से जब कभी एक अनुभव को हम याद करते हैं तो दूसरे अनुभव भी याद आ जाते हैं।

अब विचार करना रुचियों के विकास के ऊपर निर्भर करता है। बालक की रुचियाँ इन्द्रिय संवेदनाओं और सुखों तक ही सीमित रहती हैं; अतएव वह इन्हीं बातों का चिन्तन करता है। इसके कारण उसकी स्मृति अस्थायी होती है। जो व्यक्ति इन्द्रिय ज्ञान के जगत में विचरण करता है उसकी स्मृति भी अस्थायी होती है और जो विचार के जगत में रमण करता है उसकी स्मृति क्रमबद्ध और देर तक रहने वाली होती है।

बालकों को जो बातें याद कराई जाती हैं उन पर वे विचार नहीं करते। अतएव उनके संस्कार उनके मस्तिष्क में तो रहते हैं परन्तु वे संस्कार आपस में सम्बन्धित नहीं होते। इसके कारण बालकों की रट कर याद करने की शक्ति जितनी अच्छी होती है उतनी अच्छी किसी बात को सोच-विचार कर याद करने की शक्ति नहीं होती। फिर बालक का ध्यान सूक्ष्म बातों पर नहीं जमता; उसका ध्यान इंद्रिय संवेदनाओं पर लगता है। अतएव जो बात जितनी ही अधिक इन्द्रियों के उपयोग के द्वारा सिखाई जाती है वह बालकों को उतनी ही अधिक याद रहती है। बालकों को किसी पाठ को पढ़ाते समय उनकी अनेक इन्द्रियों का उपयोग करना आवश्यक है।

बालक उसी बात को देर तक स्मरण कर सकता है जिसके ऊपर वह ध्यान देता है। बालक में स्वाभाविक चंचलता होती है। वह ज्ञान का उतना इच्छुक नहीं रहता जितना आत्मप्रकाशन का अर्थात् क्रिया का इच्छुक रहता है। अतएव जो बातें बालक किसी प्रकार का काम करते हुए सीखता है वे उसे बहुत दिन तक याद रहती हैं।

बालक यदि किसी अनुभव को याद नहीं कर पाता तो हमें यह न समझना चाहिये कि वह उसे भूल गया। आवेगात्मक अनुभव बालक के मानस पटल पर अंकित हो जाता है। वह उसके अचेतन मन का अंग बन जाता है। इसके कारण बालक की रुचि और उसका जीवन विशेष ओर मुड़ता है। जिन व्यक्तियों को बचपन में अच्छी तरह रखा जाता है, वे समाज के योग्य नागरिक बनते हैं। और जिनका बचपन में भली प्रकार लालन-पालन नहीं होता, उनके मन में अनेक प्रकार की अवांछनीय मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। ये ग्रन्थियाँ अप्रिय अनुभव की स्मृतियों के कारण होती हैं। ये स्मृतियाँ व्यक्ति के चेतन मन पर न आते हुए ही उसके स्वभाव को विशेष प्रकार का बना देती हैं। यदि किसी व्यक्ति ने बालक को बचपन में ताड़ना दी है तो वह इस व्यक्ति का स्मरण न करते हुए भी उसी प्रकार के सभी व्यक्तियों के प्रति साशंक रहता है; उसकी ऐसे लोगों से नहीं पटती और किसी न किसी बात पर वह उनसे झगड़ा कर लेता है।

मनुष्य के जीवन की सफलता उसकी शैशव काल की स्मृतियों पर उतनी ही निर्भर करती है जितनी कि पीछे की स्मृतियों पर। एक व्यक्ति के अचेतन मन का अंग बनती हैं और दूसरे उसके चेतन मन का। दोनों के सहयोग से जीवन सफल होता है।

स्मृति-विकास के उपाय

बालक की स्मृति का विकास उसके सदुपयोग से होता है। बालक की स्मृति के सदुपयोग के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) बालक को पाठ उसकी रुचि के अनुसार पढ़ाया जाय।

(२) उसे बातचीत करते हुए किसी पाठ को पढ़ाया जाय।

(३) उससे अनेक प्रकार के व्यवहारिक काम कराये जायँ।

(४) सुन्दर, उपयोगी बातों को उसे सूत्रों और कविताओं के रूप में याद करा दिया जाय।

(५) याद करनेवाली बातें थोड़ी रहें और उन्हें बार-बार दुहराया जाय।

अब इन बातों पर एक-एक करके विचार कर लेना आवश्यक है—

बालक को वही पाठ याद रहता है जो उसे अच्छा लगता है अर्थात् जो उसकी रुचि के अनुसार होता है। जो बात बालक को डाँट डपट कर पढ़ाई जाती है, वह उसे स्वभावतः अरोचक हो जाती है। किसी बात को कैसे रोचक बनाना इसी में शिक्षा के कार्य का रहस्य है। जो इस रहस्य को समझ जाता है वही बालक की मानसिक शक्तियों को भली प्रकार से विकसित करता है।

जब बालक के कोई दो अनुभव एक साथ होते हैं तो एक अनुभव सम्बन्धित आवेग दूसरे अनुभव से सम्बन्धित हो जाता है इससे जब पहले प्रकार के अनुभव की आवृत्ति बालक के मन में होती है तो दूसरे प्रकार के अनुभव की भी आवृत्ति होने लगती है। अब यदि पहला अनुभव अप्रिय रहा तो दूसरा अनुभव भी अप्रिय हो जाता है। अप्रिय अनुभव को बालक स्मरण नहीं करना चाहता। इससे उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी अनुभवों को वह भूलने लगता है। यदि कोई अनुभव प्रिय है तो उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी अनुभव प्रिय हो जाते हैं। यही कारण है कि डाँटने-डपटनेवाले शिक्षक का पढ़ाया हुआ विषय बालक को याद नहीं रहता, [illegible] याद की गई कविता याद नहीं रहती और [illegible] कुशल शिक्षक का पढ़ाया सबक बालक को याद रहता है तथा आनन्दपूर्वक याद की गई कविता भी बालक को सदा याद रहती है।

प्रत्येक अनुभव अपने सभी अन्य अनुभवों के लिये कारण है। और [illegible] अपने आदर का ध्यान रखना है। [illegible] अपने आदर का [illegible] [illegible] कार्य [illegible] बना देना है। बालक के मस्तिष्क के

विषय में सोचने की क्षमता नहीं रहती। अतएव उससे वही काम कराना चाहिये जो उसे वर्तमान काल में आनंद दे। जो पाठ बालक को प्रसन्न करता है वह उसे याद रहता है। अतएव शिक्षक का कर्तव्य है कि वह सदा इस बात को देखे कि किसी पाठ में बालक को कहाँ तक आनंद आया। जिस कविता में बालक को आनंद नहीं मिलता वह उसके लिये नीरस है। ऐसी कविता उसे याद नहीं रहती। इसी प्रकार प्रत्येक काम की बात है।

बालक को बातचीत के द्वारा किसी पाठ को पढ़ाना चाहिये। जो पाठ बालक को बातचीत के द्वारा पढ़ाया जाता है वह उसे देर तक याद रहता है। बातचीत करने में बालक केवल शिक्षक की विद्वता को नहीं सुनता और न पुस्तकों के विचारों के संस्कार ही अपने मन में डालता है। बातचीत करते समय उसे अपने पुराने अनुभव को स्मरण करना पड़ता है। अपनी बात को प्रभावित बनाने के लिये उसे पुराने अनुभव की पुनरावृत्ति करनी पड़ती है। उसे अनुभव की अनेक बातों में से चुनाव भी करना पड़ता है। अच्छी स्मृति वह नहीं है जो अनावश्यक बातों को भी चेतना की सतह पर ले आती है; वरन् अच्छी स्मृति वह है जो केवल उपयोगी बातों को चेतना की सतह पर लाती है। उपयोगी बातों के चेतना की सतह पर आ जाने से क्रमबद्ध विचार में बाधा पड़ती है। ऐसी स्मृति बुद्धिविनाश की सूचक है। उपयोगी बातों का स्मरण होना अभ्यास का परिणाम है। यह अभ्यास बालक बातचीत करने में और उपयोगी काम करने में करता है। अतएव बालक से उसकी देखी-सुनी बातों के बारे में पूछना और उसे अपने अनुभव को कहने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। बालकों से उनकी पढ़ी कहानियों का अनेक प्रकार के प्रश्न पूछ कर कहलवाना चाहिये। बालकों को कहानियों के सुनने और कहने में रुचि होती है। अतएव वे बालक की कल्पना और स्मृति दोनों को विकसित करती हैं।

बालकों से व्यवहार में उपयोगी काम करने से भी उनकी स्मृति का विकास होता है। मान लीजिये, किसी बालक को बाजार से सौदा लाना है। अब उसे अपने गणित का, वस्तुओं के गुणों का तथा विभिन्न प्रकार के लोगों की प्रकृतियों का ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार उसका पुराना अनुभव उसके काम आता है और उसका यह काम उसकी स्मृति को बढ़ाता है। बालक जितना ही अधिक अपने पुराने अनुभव की उपयोगिता को समझता है वह उसे उतना ही अधिक स्मरण रखने में समर्थ होता है। जिस अनुभव की बालक को प्रतिदिन के व्यवहार में आवश्यकता नहीं होती वह अनुभव बालक भूल जाता है। इस प्रकार उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है। जब बालक समय पर अपने पुराने अनुभव को स्मरण करता है तो उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। इसके बढ़ने पर उसकी स्मरणशक्ति भी बढ़ जाती है।

बालक की सम्बन्धित-ज्ञान की स्मृति अच्छी नहीं होती, परन्तु उसकी संस्कारों पर निर्भर रहनेवाली स्मरणशक्ति अच्छी रहती है। अतएव जीवन की बहुत सी उपयोगी बातें इस काल में बालकों को सूत्रों के रूप में याद करा देना अच्छा है। सुन्दर-सुन्दर कवितायें भी बालक को रटा कर याद कराना बुरा नहीं है। बचपन में बालक भाषा अच्छी तरह सीख सकता है। भाषा के लिये जितनी अधिक संस्कार-स्मृति की आवश्यकता होती है उतनी अधिक संबन्धित-ज्ञानवाली स्मृति की आवश्यकता नहीं होती। परंतु रट कर याद कराई जाने-वाली बातों की संख्या अधिक न होनी चाहिये। जिन पाठशालाओं में दिनभर बालकों को सभी विषय रटा कर याद कराये जाते हैं वे पाठ-शालायें बालकों की स्मरणशक्ति को बिगाड़ देती हैं। जिस प्रकार किसी श्यामपट पर बार-बार लिखने से उसपर लिखी कोई बात पढ़ी नहीं जा सकती, उसी प्रकार बालक को बार बार सभी बातें याद कराने से उसकी स्मरणशक्ति समय पर काम नहीं करती। रटकर सभी बातों को

याद करने से बालक की चिन्तन करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है इसलिये पोथी-पढित मूर्ख बन जाते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बालक को सभी बातों को याद कराने की चेष्टा न करानी चाहिये। कुछ थोड़ी ही बातों को बालक को याद कराना चाहिये। इन बातों को बार-बार दुहराते रहना चाहिये। बालक जितनी बार अपनी याद की गई बात को सफलतापूर्वक स्मरण कर लेता है, वह उतना ही अधिक आत्मविश्वास प्राप्त कर लेता है। आत्मविश्वास की वृद्धि होने पर बालक की सभी प्रकार की योग्यताओं का विकास होता है। जब बालक को बहुत सी बातें एक साथ याद कराई जाती हैं तो एक बात के स्मरण करते समय दूसरी बातें भी मन में चली आती हैं। ऐसी अवस्था में बालक की मनोवृत्ति संशय की हो जाती है। संशययुक्त मनोवृत्ति का बालक सभी बातों को समय पर भूल जाता है। जब बालक कई बार याद की हुई बातों को भूलता है और उसके लिये वह डाँटा-डपटा जाता है तो वह अपना आत्मविश्वास खो देता है। ऐसे बालक को चाहे जिस विधि से पढ़ाया जाय वह पढ़ाई में दक्ष नहीं होता। सफलता की मनोवृत्ति ही सफलता लाती है और विफलता की मनोवृत्ति विफलता लाती है। बालक थोड़ी ही बातों को जाने पर यदि उनपर बालक का पूरा अधिकार है तो वे बातें उसके मानसिक बल को सभी प्रकार से बढ़ाती हैं। इसके प्रतिकूल अधिक बातों का अधूरा ज्ञान देना उसकी मानसिक शक्ति का ह्रास करना है। बालकों को धीरे-धीरे एक-एक बार याद कराने की चेष्टा करानी चाहिये।

स्मृति बिगड़ने के कारण

बालकों की स्मृति दो कारणों से बिगड़ती है—शारीरिक अथवा मानसिक रोग और बुद्धि पर अधिक बोझा लादने से। साधारणतः जिन बालकों की शिक्षा उचित ढंग से चलती है उनकी स्मृति बढ़ती जाती है।

जिस प्रकार अभ्यास से बालक की विभिन्न मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं उसी प्रकार उसकी स्मरणशक्ति भी अभ्यास से बढ़ती है। अभ्यास के अभाव में किसी भी मानसिक शक्ति का बढ़ना संभव नहीं। परन्तु अभ्यास के होते हुए भी मानसिक शक्तियों का ह्रास होना संभव है। स्मृति का भी इसी प्रकार ह्रास होता है।

स्मृति के ह्रास का पहला कारण रोग कहा गया है। रोग शारीरिक अथवा मानसिक होता है। जब बालक को कोई घातक रोग हो जाता है तो उसकी जन्मजात धारणाशक्ति की कभी-कभी क्षति हो जाती है। इस तरह देर तक रहनेवाली बीमारियाँ बालक के मस्तिष्क को हो सदा के लिये हानि कर देती हैं। चेचक, महामारी, मोतीझरा (टाइफाइड) आदि रोगों से बालक की स्मरणशक्ति का कभी-कभी ह्रास हो जाता है।

परन्तु इन शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानसिक रोग बालक की स्मृति को अधिक हानिप्रद होते हैं। मानसिक रोग बालक के मन में किसी प्रकार के आवेगों के दमन से उत्पन्न होते हैं। जिन बालकों का दैनिक जीवन दुःखमय रहता है वे एक ही बात को देर तक सोचते रहते हैं और उनके सारे आवेग उसी बात पर केन्द्रित हो जाते हैं। ऐसे बालक अपनी सामान्य स्मरणशक्ति को खो देते हैं।

जिन बालकों को पाठ को याद करते समय हतोत्साह किया जाता है वे अपना आत्मविश्वास खो देते हैं। ऐसे बालकों की भी स्मृति बिगड़ जाती है। कई एक बालकों का मन सदा संशययुक्त रहता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति एक तरह का मानसिक रोग है। इससे मुक्त करना बालक की स्मृति सुधारने के लिये आवश्यक है।

स्मृति सुधारने के उपाय

बालक की स्मृति रोग के हटने पर स्वाभाविक रूप से सुधर जाती

है। जब बालक का स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है तो उसकी मानसिक योग्यतायें भी अपने आप ही बढ़ जाती हैं। अतएव बालक के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि करना उसकी स्मृति सुधारने के लिये आवश्यक है।

जो बालक अपना काम नित्य नियम के साथ करते हैं वे अपनी स्मरणशक्ति को नहीं खोते। सभी उत्तेजनापूर्ण अनुभवों को बालक के जीवन से अलग करते रहना उसकी स्मृति बढ़ाने के लिये आवश्यक है। जब बालक कोई बात स्मरण करता हो तो उसके काम में प्रोत्साहन देना चाहिये। स्मरण करते समय किसी प्रकार का विघ्न ले आना ठीक नहीं है।

बालक की स्मरणशक्ति बहुत कुछ उसके आत्मनिर्देश पर निर्भर करती है। जो बालक सदा अपने आपको शुभ-निर्देश देते रहता है वह अपनी स्मरणशक्ति को नहीं खोता। यदि किसी बात को स्मरण करते समय हमें संदेह उत्पन्न हो जावे तो फिर वह भूल जाती है। इसी प्रकार जब बालक किसी बात को भूलने लगता है तो वह भूलते ही जाता है और यदि वह स्मरण में सफल हुआ तो सफल होते जाता है।

स्मरणशक्ति के सुधारने के लिये स्मरणशक्ति का नित्याभ्यास करना आवश्यक है। इसके लिये बालकों को उनकी पढ़ी, देखी, सुनी बातों को प्रश्न पूछ कर दुहरवाना चाहिये। बालक की स्मरणशक्ति पर इतना ही बोझ लादना चाहिये जितना कि वह सह सकती है। बालक को दिन भर न पढ़ा कर उसे पर्याप्त खेल का और रचनात्मक काम करने का अवसर देना चाहिये। वादविवाद की प्रतियोगिता में भाग लेने से बालकों की स्मृति का सुधार होता है।

स्मरणशक्ति दूसरी मानसिक शक्तियों से भिन्न नहीं है। जैसे-जैसे बालक की दूसरी मानसिक शक्तियों का विकास होता है, बालक की स्मरणशक्ति भी विकसित होती जाती है अथवा उसका सुधार होता है।

अतएव बालक की निरीक्षण शक्ति, कल्पना और विचारशक्ति के विकास होने पर ही स्मरणशक्ति का सुधार होता है। बालक की उक्त योग्यताओं का व्यायाम स्मरणशक्ति के लिये लाभकारी होता है।

किसी भी बालक को पहले से ही यह न सुझा देना चाहिये कि उसकी स्मृति खराब है। ऐसा करने से वह अपनी जन्मजात योग्यता का भी पर्याप्त लाभ नहीं उठा पाता। जिस बालक की स्मृति अच्छी न हो उसे भी सदा प्रोत्साहित करते रहने से वह चमत्कारिक स्मृति के कार्य दिखाने लगता है।

बाईसवाँ प्रकरण

बालक की अन्यमनस्कता

अन्यमनस्कता की व्यापकता

जिन व्यक्तियों को बालकों के अध्यापक अथवा अभिभावक होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है उन्होंने बालकों के जीवन में एक व्यापक कठिनाई को देखा होगा। यह कठिनाई बालक की अन्यमनस्कता की है। इसके कारण बालक जीवन में नितान्त दुःखी और असफल हो जाता है। वह जब एक काम करता रहता है तो उसका मन दूसरे काम में लगा रहता है। वह कक्षा में उपस्थित रहता है परन्तु उसका मन किसी पुरानी घटना के चिन्तन में लगा रहता है अथवा वह किसी काल्पनिक जगत में विचरण करते रहता है। बालक के हाथ में पुस्तक रहती है, वह चेष्टा भी करता है कि वह उसको पढ़े परन्तु उसके प्रयत्न करने पर भी मन उससे दूर भाग जाता है। वह पुस्तक को जितनी ही पढ़ने की चेष्टा करता है, उसका मन उतना ही अधिक दूसरी बातों का चिन्तन करता है। कभी-कभी पुस्तक को न पढ़ने का हठ उसके मन में आ जाता है। ऐसी अवस्था में बालक की सारी शक्ति मन को दूसरी ओर से खींच कर एकाग्र करने में लग जाती है और उसके पास पढ़ने-लिखने की कोई शक्ति ही नहीं रह जाती।

यह मानसिक परिस्थिति प्रायः सभी उम्र के बालकों में होती है। छोटी उम्र के बालकों को अपने आप से उतना डरना नहीं पड़ता है जितना कि बड़ी उम्र के बालकों को अपने आप से डरना पड़ता है। छोटी उम्र के बालकों में जो खींचातानी शिक्षक और बालक में होती

है यही खींचातानी बड़ी अवस्था के बालक के मन के दो भागों में होने लगती है—एक आन्तरिक मन और दूसरा बाहरी मन। जैसे-जैसे बालक को शिक्षा-दीक्षा मिलती है वैसे-वैसे बालक के मन का एक भाग सुशिक्षित, कर्त्तव्यपरायण तथा आगे पीछे सोचनेवाला बन जाता है और उसका दूसरा भाग खिलाड़ी, कामचोर और वर्तमान में मौज उड़ानेवाला रह जाता है अर्थात् बालक के मन का एक भाग प्रौढ़ हो जाता है और दूसरा भाग नन्हा बच्चा-सा ही बना रहता है। फिर मन के इन दो भागों में एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष कभी-कभी जीवन भर बना रहता है और इसके कारण मनुष्य न केवल जीवन से कोई महत्त्व का काम नहीं कर पाता, वरन् रोगी, निराशावादी अथवा विक्षिप्त हो जाता है।

अन्यमनस्कता का परिणाम

हम कितने ही बालकों को प्रारम्भ में पढ़ाई-लिखाई में बड़ी उन्नति करते पाते हैं परन्तु पीछे देखते हैं कि वे पढ़ने-लिखने में पिछड़ने लगते हैं, वे परीक्षा में बार-बार फेल होते हैं। यदि उन्हें कुछ पाठ याद करना हो तो वे उस पाठ के याद करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह पाठ बार-बार भूल जाता है। किसी काम को करने में उनसे अनेक भूलें होती हैं। कभी पुस्तकें भी भूल जाते हैं इसके लिये उन्हें माता-पिता अथवा अभिभावकों की फटकार सुननी पड़ती है। वे उन्हें निकम्मा, बेवकूफ, कामचोर इत्यादि कहते हैं परन्तु इससे उनमें कोई सुधार नहीं होता। उन्हें इस प्रकार की बातें सुनने से मानसिक क्लेश तो बहुत होता है परन्तु उनमें वह योग्यता नहीं आती कि वे अपने ध्यान को एकाग्र कर सकें और पढ़ने-लिखने में अथवा साधारण प्रतिदिन के कामों के करने में भूलें न करें। पूरी सावधानी रखने पर भी भूलें हो ही जाती हैं। माता पिता अथवा शिक्षकों की बार-बार फटकार सुनने का दो

प्रकार का परिणाम बालक के मन में होता है। इससे या तो बालक आत्म-भर्त्सना की भावना अपने मन में लाने लगता और इसी कारण अपने आपको बार-बार कोसता है और दुःखी बनाता है अथवा बालक अभिभावकों की बातों को कोई महत्त्व नहीं देता और जितना ही अधिक उसे डाँटा-डपटा जाता है वह उतना ही अधिक लापरवाह और उद्दण्ड हो जाता है। इस प्रकार बालक के अनेक प्रकार की अयोग्यता का जन्म बालक के अपने आपको सुधार न सकने की मनोवृत्ति में होता है। आत्म-भर्त्सना करनेवाले बालक और उद्दण्ड बालक दोनों में ही आत्मविश्वास का अभाव रहता है। वे यह विश्वास नहीं कर पाते कि वे अपने मन को वश में कर सकेंगे और उसे सत्पथ पर लगा सकेंगे।

जब बालक का अपने काम को कर सकने की योग्यता में विश्वास चला जाता है तो वह बार-बार बीमार होने लगता है। बीमार होने की मनोवृत्ति काम से बचने की मनोवृत्ति का परिणाम है। जब कोई मनुष्य किसी अप्रिय काम को नहीं करना चाहता तो वह स्वस्थ रहते हुए भी उसे करने के लिये अनिवार्य रोगी बनने की कल्पना करने लगता है। वह अपने आपको ऐसे रोग में पड़ा हुआ देखने लगता है जिससे कि वह अप्रिय काम करने से बच जाय। पीछे वह काम को तो भूल जाता है और रोग का ही स्मरण करने लगता है। जब रोग की कल्पना व्यक्ति के आन्तरिक मन में चली जाती है तो व्यक्ति सचमुच में रोगी हो जाता है। बालक जितनी जल्दी अपनी कल्पना के कारण बीमार हो जाते हैं, उतनी जल्दी कल्पना के कारण प्रौढ़ व्यक्ति रोगी नहीं होते। अतएव प्रौढ़ व्यक्तियों को यह समझना कठिन होता है कि बालक की कल्पनायें कहाँ तक उसके रोग का कारण हैं। जो बालक किसी अप्रिय परिस्थिति में पड़ता है वह बार-बार उसकी कल्पना की प्रबलता के कारण रोगी होता है। जब बालक पढ़ाई में पिछड़ने लगता है तो अभिभावकों को उसके रोगी हो जाने से

भी सावधान हो जाना चाहिये। बालक उसी समय तक स्वस्थ रहता है जब तक कि वह रचनात्मक काम में लगा रहता है और अपने कर्त्तव्य को पूरा कर सकने के सामर्थ्य की अनुभूति अपने आप में करता है।

अन्यमनस्कता के हटाने के उपाय

बाल मनोविज्ञान का ज्ञान न रखनेवाले लोग बालक की अन्य-मनस्कता हटाने के लिये जिन विधियों को काम में लाते हैं वे सर्वथा अयोग्य और बालक के लिये हानिकर होती हैं। कितने ही माता-पिता और शिक्षक बालक को अपना काम न करने पर डाँटते-डपटते अथवा झिड़कते हैं इससे उसी समय तक बालक को लाभ होता है जब तक कि बालक ने अपना आत्मविश्वास नहीं खोया। जिस बालक को बार-बार झिड़का जाता है, वह उत्साहहीन हो जाता है और फिर उसके प्रयत्न करने पर भी अपने मन को वह एकाग्र नहीं कर पाता। बार-बार झिड़का जानेवाला बालक अपने अभिभावकों को कभी कभी मूर्ख समझने लगता है और फिर वह उद्दण्ड हो जाता है। बालक में किसी प्रकार का नैतिक अथवा चरित्र का सुधार तभी तक हो सकता है जब तक कि बालक की श्रद्धा अपने अभिभावक अथवा शिक्षक के प्रति बनी हुई है और उसने अपने सुधार में भी आत्मविश्वास को नहीं खोया। शिक्षक अथवा अभिभावक के प्रति श्रद्धा नष्ट हो जाने पर उनके झिड़कने का उलटा ही परिणाम होता है। इसी प्रकार आत्मविश्वास के चले जाने पर भी बालक में कोई सुधार नहीं होता।

बालक की अन्यमनस्कता को हटाने का दूसरा उपाय जो काम में लाया जाता है वह बालक को अनेक प्रकार के उपदेश अथवा नैतिक शिक्षा देने का है। इस प्रकार की उपचार की मौलिकता भी बहुत थोड़ी है। जब थोड़ी मात्रा में बालक को उपदेश अथवा नैतिक शिक्षा दी जाती है तो यह लाभप्रद सिद्ध होती है, इसके कारण बालक अपने

कर्त्तव्य को समझने लगता है अथवा उसका कर्त्तव्य उसके ध्यान के सामने आ जाता है। सामर्थ्यवान् बालक अपने कर्त्तव्य को अपने सामने देख कर उसके करने में लग जाता है। यदि वह खेल-कूद में लगा हुआ है तो खेल-कूद का विचार उसके मस्तिष्क से अलग हो जाता है और वह पढ़ने-लिखने के बारे में चिन्तन करने लगता है। फिर जिस बात की बालक चिन्ता करता है वह बात अनायास ही उसके द्वारा होने लगती है। मनोविज्ञान का यह सहज नियम है कि प्रत्येक प्रकार का विचार विरोधी विचार के अभाव में स्वतः ही कार्यान्वित होने लगता है। यदि किसी बालक के सामने हम सजीव रूप में जो कुछ उसे करना है उसका चित्रण करें और इस कल्पना को बालक ग्रहण कर ले तो हमें बालक को काम में लगाने के लिये और अधिक कुछ करने की आवश्यकता न होगी। बालक फिर स्वतः ही अपने काम में लग जायगा। इस तरह कल्पनाओं को उकसाता हुआ जो नैतिक उपदेश बालक को दिया जाता है वह उन्हें काम में लगाने में बड़ा ही लाभप्रद सिद्ध होता है। परन्तु जब बालक को बार बार यही कहा जाता है कि तुम्हें अमुक काम करना चाहिये और अमुक नहीं करना चाहिये तो इससे बालक के मन में केवल नकारात्मक विचारों की जागृति होती है। जितना ही बालक को फिर नैतिक उपदेश दिया जाता है, बालक उतना ही अधिक निकम्मा बनने लगता है। कहा जाता है कि सोते को जगाना ठीक है, जागते को जगाना क्या। कितने ही बालक अपने कर्त्तव्य को तो समझते हैं, परन्तु उसे कर सकने की क्षमता अपने आप में नहीं पाते। वे ज्योंही कोई काम करने बैठते हैं, उनका मन इधर-उधर भागने लगता है। ऐसे बालकों को नैतिक उपदेश देने से उनका आत्मविश्वास और कम हो जाता है। नैतिक उपदेश से ऐसे बालकों से केवल आत्म भर्त्सना की भावना बढ़ती है। इससे बालकों का मन दुर्बल होता है और उन्हें

अनेक प्रकार की बुरी आदतें सरलता से लग जाती हैं। यदि कोई बुरा विचार मन मे घुस गया तो वह ऐसे बालकों के मन से जाता नहीं। वे जितना ही अधिक उसे बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं वह उतना ही प्रबल हो जाता है।

कितने ही लोग बालकों का पढ़ाई में मन प्रलोभन देकर लगाने की चेष्टा करते हैं। यह उपाय छोटे बालकों को पढ़ाई में लगाने के लिये सफल होता है। परन्तु जब बालक को बार बार प्रलोभन के द्वारा पढ़ाई में लगाया जाता है तो वह पढ़ाई का आदी न बनकर प्रलोभन का आदी बन जाता है। जब कभी वह पढ़ाई के लिये सोचता है तो उसकी कल्पना में प्रलोभन चित्रित होने लगते हैं। ये प्रलोभन बालक को काम की ओर न ले जाकर उससे दूसरी ओर उसे हटाते हैं। इससे बालक की इच्छाशक्ति निर्बल होती है और बालक इसके कारण रचनात्मक आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता। संसार का सर्वोच्च काम वे ही लोग करते हैं जो काम को उसके रचनात्मक आनन्द के लिये करने का अभ्यास अपने-आपमें डाल लेते हैं। जो लोग बचपन से ही प्रलोभन के कारण किसी काम को करने के आदी बन जाते हैं, वे कभी भी संसार का कोई महत्व का काम नहीं कर पाते। ऐसे लोगों का मन स्वभावतः दो भागों में बँट जाता है। उनका आधा मन अपने काम की चिन्ता करता है और दूसरा आधा मन प्रलोभनों की। जिन बालकों में अपने मन को इस प्रकार दो भागों में विभक्त करने का अभ्यास हो जाता है वे किसी काम को एक मन से देर तक नहीं कर पाते। जब कभी उन्हें किसी कठिन काम का सामना करना पड़ता है तो उन्हें उस काम की सफलता में विश्वास नहीं होता। इससे वे एक मन से कोई काम नहीं कर पाते। प्रलोभन के द्वारा बालकों से काम कराने से उनकी अन्यमनस्कता का अन्त न होकर वह और भी बढ़ जाती है।

बालकों की अन्यमनस्कता का अन्त करने का एक उपाय है जिसे कुछ अभिभावक अपने बालकों से परेशान होकर काम में लाते यह बालकों को अपने-आप पर छोड़ देना। इससे बालकों में कभी कभी सुधार हो जाता है। जब बालक और अभिभावक में किसी प्रकार का मानसिक खिंचाव पैदा हो जाता है तो जितना ही अभिभावक बालक को सुधारने की चेष्टा करते हैं, बालक उतने ही बिगड़ते जाते हैं। बालक कभी-कभी ऊपरी मन से अभिभावक की बात तो मानता है परन्तु उसका भीतरी मन स्वयं उसके प्रतिकूल ही विद्रोह कर डालता है इससे बालक का मन अभिभावक के बताये हुए काम में नहीं लगता। जब अभिभावक बालक को अपने-आप पर छोड़ देता है और यदि वह बालक को यह विचार देते रहे कि वह अपने-आपको सुधार लेगा तो बालक अपने साथियों के प्रभाव से प्रभावित होकर कभी-कभी अपने खोये हुए आत्मविश्वास को प्राप्त कर लेता है और अपने मन को उचित कामों में लगाने में समर्थ होता है। किन्तु जब बालक के संगी-साथी भले नहीं होते तो बालक को अपने-आप पर छोड़ देने से उसकी बड़ी हानि हो जाती है। जिस बालक को निकम्मा समझकर अपने-आप पर छोड़ा जाता है और जिसे माता-पिता बार-बार कहते रहते हैं कि यह बर्बाद हो जायेगा, वह वास्तव में बर्बाद हो जाता है।

बालक की अन्यमनस्कता का उचित उपचार मनोवैज्ञानिक विधि को काम में लाने से ही होता है। अन्यमनस्कता की मनोवैज्ञानिक उपचार विधि वही है जो प्रौढ़ व्यक्तियों के मानसिक रोगों की उपचार विधि है। यदि हम बालक की अन्यमनस्कता का वैज्ञानिक ढंग से निवारण करना चाहते हैं तो हमें बालक के व्यक्तित्व को भली प्रकार से जानना होगा। उसकी अन्यमनस्कता का कारण समझने की चेष्टा करनी पड़ेगी। फिर बालक के बाहरी और भीतरी मन में से संघर्ष हटाने का प्रयत्न करना पड़ेगा और बालक को उसकी रुचि और योग्यता के

अनुसार काम में लगाना होगा। जिन बालकों में अन्यमनस्कता पायी जाती है उनके भीतरी और बाहरी मन में संघर्ष रहता है। इस प्रकार का संघर्ष किशोर बालकों में अत्यधिक पाया जाता है। यह संघर्ष इच्छा और कल्पना के संघर्ष के रूप में प्रकाशित होता है। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक को बालकों की अन्यमनस्कता का उपचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के संघर्ष का प्रधान कारण बालक के भीतरी और बाहरी मन में विरोध का भाव है। जब तक मन के इन दो भागों में एकत्व स्थापित नहीं होता तब तक बालक का मन पूरी तरह से किसी काम में नहीं लग सकता।

बालक का मन उसके अनुभवों का बना होता है। इनमें कुछ अनुभव प्रिय होते हैं और कुछ अप्रिय। कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जिन्हें स्मरण करने से बालक को प्रसन्नता होती है और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें स्मरण करने से बालक को दुःख होता है। जिन अनुभवों के स्मरण करने से बालक को दुःख होता है उन्हें बालक भुलाने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा के परिणामस्वरूप बालक के मन के दो भाग हो जाते हैं और इन दो भागों में आपस में विरोध उत्पन्न हो जाता है। जिन अनुभवों को बालक भुलाने की चेष्टा करता है वे सदा चेतना के स्तर पर आने की चेष्टा करते रहते हैं। यदि उन्हें भली प्रकार से चेतना के स्तर पर आने दिया जाय तो मन के दो भागों में विरोध न रहे। परन्तु जब किसी अप्रिय अनुभव को बालक भुलाने की चेष्टा करता है तो वह मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। यह मानसिक ग्रन्थि मन के भीतरी भाग में पड़ी हुई क्रियाशील रहती है। मन का कोई भी भाग कभी भी निष्क्रिय नहीं होता, उसमें सदा क्रिया चलती ही रहती है। मनुष्य का प्रत्येक प्रकार का अनुभव उसके व्यक्तित्व को बनाता है। किसी अनुभव के संस्कार कभी इतने [illegible] के कारण निष्क्रिय नहीं होते, वे प्रकाशित होना [illegible]

रूप से मनुष्य की क्रियाओं को प्रभावित करते रहते हैं। इस तरह बालक के भूले हुए अनुभव उसके आचरण और विचार को प्रभावित करते हैं। भले अनुभव के संस्कार भले आचरणों और विचारों की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं और बुरे अनुभव के संस्कार बुरे आचरणों की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं। इस तरह कोई भला काम करते समय अथवा कोई शुभ विचार करते समय अचानक अभद्र कल्पनायें अथवा विचार बालक के मन में आ जाते हैं और वे उसे भले काम करने से रोकने लगते हैं। वह जितना ही अपने काम में लगे रहने का प्रयत्न करता है, उसके पुराने संस्कार उतनी ही प्रबलता के साथ दूसरी ओर खींचते हैं। ये संस्कार कल्पनाओं का रूप धारण कर लेते हैं। कल्पनायें वह इच्छाशक्ति का विरोध करती हैं और जब इच्छाशक्ति कल्पना को दबाने का प्रयत्न करती है तो वह अपनी बहुत सी शक्ति को खो देती है। इससे अवाञ्छनीय विचारों का बल और बढ़ जाता है।

जिन बालकों का घरेलू जीवन कटुतामय होता है, जिन्हें सौतेली माँ अथवा कठोर पिता के नियन्त्रण में रहना पड़ता है उनके मन में प्रायः इस प्रकार की कल्पना और इच्छा का संघर्ष पाया जाता है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही वे किसी वर्जित काम में लगे हुए अपने आपको पाते हैं। वे पढ़ने-लिखने का प्रयत्न करते हैं परन्तु अपने मन को किसी दूसरी ओर ही जाते हुए देखते हैं, उनके मन में अपने मां के शाप देनेवाले लोगों से बदला लेने की अनेक प्रकार की कल्पनायें उठती रहती हैं। ये कल्पनायें उनके काम में बाधा डालती हैं। जब वे इन कल्पनाओं को भुलाने की चेष्टा करते हैं तो दूसरी अप्रिय कल्पनायें उनका स्थान ले लेती हैं। जिस बालक का मन इस प्रकार दुःखी हो जाता है वह किसी प्रकार के व्यभिचार अथवा दुराचार में लग जाता है। इनमें जो विषय सुख होता है उससे भूलने की बालक चेष्टा करता है। फिर ये सुख की कल्पनायें ही बालक के मन में घर

कर लेती है। अपने वातावरण से दुःखी बालक अनेक प्रकार के मनोराज्य में विचरण करता है। वह जितना ही अधिक मनोराज्य में विचरण करता है उतना ही वास्तविक जगत् के कार्यक्षेत्र में अपने आपको निकम्मा बनाते जाता है और जैसे-जैसे उसका निकम्मापन बढ़ता है उसका मनोराज्य का विचरण भी बढ़ते जाता है।

बालक की अन्यमनस्कता को हटाने के लिये बालक के मन के दो भागों में एकत्व स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये आधुनिक मनोविज्ञान ने दो प्रकार की विधियाँ बताई हैं, एक रेचन विधि और दूसरी निर्देश विधि। इन दोनों विधियों का उपयोग प्रत्येक शिक्षक कर सकता है। बालकों की कुछ जटिलताओं का उपचार तो मानसिक चिकित्सा के विशेषज्ञ पर ही छोड़ना पड़ता है परन्तु साधारण कठिनाइयों का उपचार प्रत्येक शिक्षक कर सकता है। स्वयं लेखक ने अनेक बालकों की अन्यमनस्कता का उपचार बड़ी सरल विधि से किया है। इस विधि का प्रयोग करने के लिये किसी विशेष प्रकार की तैयारी की आवश्यकता नहीं है, केवल सहानुभूतिपूर्ण हृदय की आवश्यकता है।

जिस बालक में अन्यमनस्कता पायी जाय उसके प्रति सहानुभूति का भाव प्रदर्शित करना उसके उपचार की प्रथम आवश्यकता है। अन्यमनस्क बालक भीतर से दुःखी रहता है, वह अपने आपको अपने स्वजनों और गुरुओं के प्रेम से वंचित [illegible]। यदि ऐसे बालक को कुछ प्रेम [illegible] पनी ओर आकर्षि[illegible] [illegible] उसके साथ अनेक

लिख डालने पर बालक का मन और भी हलका हो जाता है। जो बातें बालक हमारे समक्ष अपने मुँह से नहीं कह सकता है वही वह लिख कर कह सकता है। इससे एक ओर बालक के दबे हुए भावों का रेचन होता है, उसकी भूली हुई स्मृतियाँ चेतना के पटल पर आ जाती हैं और दूसरी ओर उसका हमारे प्रति स्नेह बढ़ जाता है। इससे हमें बालक के भावों के ऊपर अधिकार प्राप्त हो जाता है। बालक का मन किसी ओर ले जाने के लिये उसे विशेष प्रकार का उपदेश देना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि अपने कल के द्वारा उसके भावों को किसी विशेष ओर मोड़ देना है। बालक के भाव जिस ओर मुड़े रहते हैं उस ओर उसके विचार भी चले जाते हैं।

बालक के मन को वश में करने के लिये बालक के गुणों को खोजना नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक बालक में कुछ दुर्गुण होते हैं और कुछ गुण। बालक के दुर्गुणों को जानने से हमें उसके प्रति विकर्षण होता है और उसके गुण जानने से प्रेम और आकर्षण होता है। जब हम बालक के गुणों पर विचार करते हैं तो सहज में ही एक ओर हम उससे प्यार करने लगते हैं और दूसरी ओर वह हमें प्यार करने लगता है। बालक को उसके इन गुणों को बता कर उसे और आगे बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये। मनुष्य का उत्कर्ष अपने अवगुणों पर विचार करने से नहीं होता, अपने गुणों पर ही विचार करने से होता है। बालक के विचार नकारात्मक न बनाकर सकारात्मक बनाने चाहिये अर्थात् उसका ध्यान जिन बुरी बातों को उसे छोड़ना है उन पर केन्द्रित न कर जिन्हें उसे करना है उन पर केन्द्रित करना चाहिये। बालक जो कुछ कर सकता है उसी काम को उसे देना चाहिये। जब बालक का आत्मविश्वास एक काम में बढ़ जाता है तो उसमें चित्त की एकाग्रता आ जाती है। एक काम को सफलतापूर्वक कर लेने पर बालक दूसरे काम को सफलतापूर्वक कर लेता है।

पहले-पहल बालक को ऐसे काम देने चाहिये जो बालक कर सकता है और जो जल्दी से समाप्त हो जाते हैं। फिर धीरे-धीरे उसे कठिन काम देना चाहिये। बालक की अन्यमनस्कता हटाने के लिये हाथ के काम बहुत उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार खेल-कूद के काम, अभिनय, वार्तालाप आदि काम बालक की अन्यमनस्कता के हटाने में उपयोगी होते हैं। प्रारम्भ में बालक को किसी ऐसे काम में लगा देना चाहिये जो बालक पूरे मन से कर सकता है फिर पीछे उसे ऐसे काम में लगाया जा सकता है जो उसकी रुचि के अनुकूल न हो, वरन् जिसका करना उसके लिये नितान्त आवश्यक हो।

लेखक का एक छात्र पढ़ने-लिखने में बहुत कमजोर था, उसकी उम्र कोई सोलह वर्ष की थी। वह परीक्षा में बार बार फेल हो जाता था। लेखक ने इसमें किसी प्रकार की योग्यता की खोज करने की चेष्टा की। वह व्यवहार में बड़ा ही सुशील था और इसका हस्तलेख बहुत ही सुन्दर था। बार-बार परीक्षा में फेल होने से वह हताश-सा हो गया। लेखक ने उसे हस्तलेख के द्वारा ही प्रोत्साहित किया। उसे अनेक उपयोगी बातें सुन्दर लेख में अपनी नोट बुक में लिखने को कहा। उससे बताया गया कि वह बड़ा ही योग्य लिखकार होगा। वह विद्यार्थी बड़े मनोयोग के साथ सभी बतायी हुई [illegible] लिख डालता था। लेखक को कुछ [illegible] सुन्दर लेख में [illegible] अपने नोट-बुक में लिख लेता था। [illegible] काम [illegible]

अपने व्यवसाय में सफल होने के लिये वह कभी-कभी चौदह घंटे प्रति-दिन लगातार काम करता था।

लेखक का एक दूसरा विद्यार्थी जो पहले विद्यार्थी का सहपाठी था, उसी विद्यार्थी के समान पढ़ाई में पिछड़ा हुआ था। वह भी परीक्षा में बार-बार फेल होता था। इसका हस्तलेख बहुत ही खराब था। परीक्षा में फेल होने का एक प्रमुख कारण उसका हस्तलेख था। उसे शब्दों के हिज्जे भी याद नहीं रहते थे। परन्तु उसमें सोचने की शक्ति थी और वह अपने विचारों को स्पष्टता से प्रकाशित कर सकता था। इस बालक को अपने विचारों को बोल कर और लिख कर प्रकाशित करने में प्रोत्साहन दिया गया, उसके शब्दों की बनावट में भूल की परवाह न करके और हस्तलेख की परवाह न करके उसे लेख में नम्बर दिये जाते थे, इससे उसका उत्साह बढ़ गया। जब वह अपने आपको सफल होते हुए देखने लगा तो मन लगा कर पढ़ने लगा। अब वह सावधानी से लिखने भी लगा। धीरे-धीरे उसका लेख और शब्दों की बनावट सुधर गई। वह उसी साल द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास कर गया। उसने विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और अब वह एक सफल समाजसेवी व्यक्ति बन गया है।

उक्त दो उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यदि हम बालक के गुणों की खोज करके उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें रचनात्मक कामों में लगावें तो वे अवश्य ही उत्तरोत्तर अपने आप में उन्नति करते जायँ और उनकी अन्यमनस्कता सदा के लिये उनके मन से चली जाय।

तेईसवाँ प्रकरण

अपराधी बालक का सुधार

सुधार गृहों का उद्देश्य

अपराधी बालक के सुधार के लिए प्रत्येक सभ्य देश में सुधार गृह होते हैं। इनमें अपराधी बालक उनके आचरण के सुधार के लिये रखे जाते हैं। जब कोई बालक समाज के विरुद्ध कोई अपराध करता है तो उसे सुधार गृह में भेजा जाता है। साधारणतः जो कार्य प्रौढ़ लोगों के लिये जेल करते हैं वही कार्य सुधार गृह छोटी अवस्था के बालकों के लिये करते हैं। प्रगतिशील विचार के राष्ट्रों में जेल का भी वही उद्देश्य है जो सामान्य राष्ट्रों में सुधार गृह का है, अर्थात् अपराधी का सुधार। पर अप्रगतिशील राष्ट्रों में न केवल जेलों का प्रधान कार्य कैदियों को त्रास देना होता है वरन् सुधार गृहों का भी कार्य छोटे बालकों को त्रास देकर उनकी बुरी आदतें छुड़ाना होता है। दोनों प्रकार की संस्थायें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अर्थात् समाज में अपराधों की अभिवृद्धि रोकने के लिये नकारात्मक उपायों को काम में लाती हैं। साधारणतः किसी बालक को सुधार गृह में दण्ड के रूप में भेजा जाता है। अतएव यदि सुधार गृह यातना गृह रहें तो उसके लिये यह अस्वाभाविक न होगा।

बालकों के पुराने सुधार गृह वास्तव में यातना गृह ही थे। जो बालक चोरी करने अथवा मारने-पीटने आदि अपराधों में पकड़े जाते थे उन्हें सुधार गृह में भेज दिया जाता था। सुधार के कठोर वातावरण

में रहने से उनकी दुराचरण की वृत्ति का दमन हो जाता था। पर यह दमन केवल सामयिक होता था। कभी-कभी सुधार गृह से लौटा हुआ बालक और पक्का चोर और डाकू बन जाता था। भारतवर्ष के वर्तमान काल के साधारण सुधार गृह ऐसे ही हैं जिनमें कुछ काल रहकर बालक भला न बनकर और भी पक्का दुराचारी हो जाता है।

अपराधी के सुधार का उचित उपाय

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों के परिणामस्वरूप बालकों के प्रति हमारा पुराना दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। अब हम भली प्रकार से पहचान गये हैं कि अपराध की मनोवृत्ति का निराकरण केवल अपराध द्योतक क्रियाओं के दमन मात्र से नहीं होता। कभी-कभी इस प्रकार के दमन से अपराध की मनोवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। अपराध की मनोवृत्ति के निराकरण के लिये मनुष्य की इच्छाशक्ति का बलवती होना आवश्यक है और यह इच्छाशक्ति तभी बलवती होती है जब मनुष्य जिस काम को उचित समझता है उसे दृढ़ता से करता है और जिसे अनुचित समझता है उसे करने से अपने-आपको रोकने की चेष्टा करता है। किसी कार्य को बाध्य होकर करने से तथा मनचाहा किसी वर्जित काम को करने से रुकने से मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान न होकर निर्बल हो जाती है। मनुष्य की इच्छाशक्ति विवेक के निर्बलता में रहने से ही बढ़ती है। आवेग चाहे वह कैसा ही क्यों न हो मनुष्य की इच्छाशक्ति को निर्बल बनाता है। अतएव दण्ड के द्वारा अपराधी का वास्तविक नैतिक सुधार नहीं होता। दण्ड से कुछ समय के लिये मनुष्य बुरे काम करने से भले ही रुक जाय, वह अपराधी को भले काम करने की योग्यता कभी भी प्रदान नहीं करता। दण्ड व्यक्ति की आत्म-स्फूर्ति को मार डालता है।

अपराध की मनोवृत्ति का वास्तविक निराकरण तभी होता है जब

पराधी को न केवल अपराध करने से रोका जाता है वरन् उसे
चनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। इसके लिये अपराधी की
पैदा करके उसका आत्मविश्वास बढ़ाना नितांत आवश्यक है। इस
कार अपराध की मनोवृत्ति के सुधार के दो अंग हैं—एक मानसिक
क्ति का विकृत मार्ग से प्रवाहित होना रोकना और दूसरे उसे सन्मार्ग
में लगाना। विकृत मार्ग हम उसे कहते हैं जिस पर शक्ति का प्रवाह
वनियंत्रण के प्रतिकूल होता है और भला मार्ग वह है जिसमें आत्म-
नेयंत्रण और विवेक की उपस्थिति रहती है।

बालकों के सुधार गृहों का आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक ढंग से
संचालन करने का प्रयत्न हो रहा है। अब सुधार गृहों को बालक के
चरित्र-निर्माण का वास्तविक साधन बनाया जा रहा है। आधुनिक
प्रगतिशील शिक्षा-विशेषज्ञों का कथन है कि कठोरता से बालक का
सुधार नहीं होता अपितु उससे कभी-कभी और भी नैतिक ह्रास होता
है। कठोरता से बालक के मन में अधिकारियों के प्रति घृणा का
भाव उत्पन्न होता है। यह भाव देर तक ठहरने पर मानसिक ग्रन्थि का
रूप धारण कर लेता है। इस ग्रन्थि के रहने पर बालक अनायास ही
ऐसे काम करता है जिससे अधिकारी जनों को दुःख हो। कभी-कभी
वह ऐसे कामों के करने की पूरी योजना बनाता है और कभी ये काम
अनायास ही हो जाते हैं। जब बालक योजना भी बनाता है तब
भी वह एक प्रकार से परवश होकर सोचता और आचरण
करता है। बालक का सच्चा सुधार उसके मन में प्रेम के भावों के
उद्दीपन करने से होता है। प्रेम के भाव बालक के मन को वह बल
देते हैं जिससे वह उचित कार्य करने में समर्थ होता है। इस कार्य के
करने के लिये बालक के अभिभावकों तथा अधिकारियों को बालक के
प्रति प्रेम प्रदर्शन करना होता। जब बालक को यह पूरा विश्वास हो
जाता है कि उसका अभिभावक, शिक्षक अथवा अधिकारी उसे हृदय

से प्यार करता है तो उसकी अपराध की मनोवृत्ति बहुत कुछ शान्त हो जाती है।

बालक के अपराध का कारण

बालक अपराध का कार्य दो कारणों से करता है—एक अपनी किसी प्रबल इच्छा की तृप्ति के लिये और दूसरे अधिकारी अथवा अभिभावक को कष्ट देने के लिये। प्रबल इच्छा की तृप्ति की रोक दण्ड से की जा सकती है। पर दण्ड के पश्चात् इस इच्छा की शक्ति का मार्गान्तरीकरण करना भी नितांत आवश्यक है। यदि केवल प्रबल इच्छा का दमन किया तो वह इच्छा जटिल बन जायगी। फिर वह बालक के मन में आत्महीनता की भावना भी उत्पन्न करती है जिसके परिणामस्वरूप आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि बन जाती है। जब दण्ड के संस्कार मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेते हैं तो बालक अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वर्जित कार्य करता है।

अपराध की क्रिया का दूसरा कारण अधिकारियों को दुःख देना होता है। ऐसी अवस्था में अपराधी आन्तरिक मन से दुःखी होता है और यह दुःख किसी प्रकार के तिरस्कार के सहने के कारण उत्पन्न होता है। जिस प्रकार पागल कुत्ते को किसी व्यक्ति को काटे बिना चैन नहीं मिलती उसी प्रकार तिरस्कृत बालक को किसी व्यक्ति को विशेषकर जो सुखी और अधिकारयुक्त है दुःखी बनाये बिना चैन नहीं मिलती। यहाँ अपराध की भावना एक प्रकार का मानसिक रोग बन जाती है। इस भावना की चिकित्सा उसी प्रकार की मानी जानी चाहिए जिस प्रकार अन्य प्रकार के मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है। रोगी मनुष्य को चिल्लाने से रोकने से उसका कोई लाभ नहीं होता, उससे केवल हानि होती है। जब तक रोग की उचित चिकित्सा नहीं हो जाती वह चिल्लाते ही रहेगा। इसी प्रकार दण्ड देने से दुःखी मानसिक वृत्ति के व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता, अपितु इससे उसकी हानि ही होती

है। उसका मानसिक रोग और भी जटिल हो जाता है। वह जिन कामों को अनायास करता था वह उन्हें जान-बूझ कर और सम्पूर्ण योजना बनाकर करने लगता है।

सभी प्रकार के अपराधी बालक एक तरह के नहीं होते, जिस प्रकार सभी प्रकार के अपराधी प्रौढ़ एक-से नहीं होते। कुछ बालक अपराध प्रलोभन वश करते हैं और कुछ दूसरों को सताने मात्र की दृष्टि से अपराध करते हैं। पहले प्रकार के बालकों को सुधारना उतना कठिन नहीं है जितना दूसरे प्रकार के बालकों को सुधारना कठिन होता है। पहले प्रकार के बालक का कुछ दूर तक दण्ड से सुधार होता है, पर दूसरे प्रकार के बालक का इस प्रकार सुधार नहीं होता। पहले प्रकार के बालक में उचित-अनुचित का विवेक रहता है। वह अपने आन्तरिक मन से उचित जानकर अनुचित को करता है। बाहरी प्रलोभन ही उसे किसी विशेष ओर बहा ले जाते हैं। दण्ड अनुचित कार्य के दुष्परिणाम से बालक को विज्ञ कराकर उसके विवेक को प्रबल करता है। यदि ऐसे बालक को किसी अनुचित कार्य के लिये दण्ड न दिया जाय तो उसके चरित्र का निर्माण होना संभव ही न हो। यहाँ अनुचित कार्य की निंदा करके और उचित कार्य में लगाकर हम बालक को चरित्रवान बनाने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। परन्तु जो औषधि सामान्य बालक के लिये स्वास्थ्यवर्धक है वही असाधारण बालक के लिये घातक हो जाती है। असाधारण बालक का मन समाज के प्रति घृणा से भरा रहता है और यह घृणा का भाव अधिकारियों द्वारा जब बालक दण्ड पाता है तो और भी प्रबल हो जाता है। इस तरह जटिल बालकों को दण्ड देने से वे और भी अपराधी और जटिल बन जाते हैं।

डाक्टर होमरलेन का प्रयोग

अपराध की मनोवृत्ति के इस तत्त्व को समझकर आधुनिक मनो-

विज्ञान के एक प्रमुख विशेषज्ञ डाक्टर होमरलेन ने अपराधी बालकों के सुधार का नया उपाय निकाला है। डाक्टर होमरलेन ने अपराधी बालक को दण्ड की विधि से न सुधार कर प्रेम की विधि से सुधारने की चेष्टा की है। डाक्टर होमरलेन का कथन है कि बालक के सुधारने के लिये उसे रचनात्मक कार्य में लगाना आवश्यक है न कि दण्ड देना। डाक्टर होमरलेन ने अपने सिद्धान्तों का प्रयोग अपने सुधार गृह में किया। इस सुधार गृह का नाम उन्होंने "नया प्रजातंत्र" (दी न्यू कामनवेल्थ) रखा था। नये प्रजातंत्र में बालक को दण्ड न देकर उसे भले काम में लगाकर सुधारा जाता था। इस प्रजातंत्र में बालक का प्रेम के द्वारा आत्मविश्वास बढ़ाया जाता था। इसकी कार्य-प्रणाली शिक्षा-विशेषज्ञों के लिये अध्ययन की वस्तु है।

नये प्रजातंत्र के बालक एक समाज के स्वतंत्र नागरिकों के समान अपना आचरण बनाते थे। इसका संगठन उसी प्रकार का था जिस प्रकार का संगठन एक प्रजातंत्र का होता है। इसके नियम अधिकारियों द्वारा आरोपित न होकर स्वयं बालकों द्वारा बनाये हुए होते थे। नियम बनाते समय प्रजातंत्र के प्रत्येक बालक को अपना मत देने का अधिकार रहता था। यदि कोई बालक किसी नियम को भंग करे तो उसे बालकों के द्वारा बनाये हुए न्यायालय से ही सजा मिलती थी। इसमें सुधार गृह का संचालक (सुपरिन्टेन्डेन्ट) किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। प्रत्येक बालक को अपनी आजीविका कमाने के लिये काम भी करना पड़ता था। अपनी योग्यता के अनुसार बालक अपना काम चुन लेते थे। यदि कोई बालक बिना काम किये भोजन चाहता तो उसे दूसरे लोगों से भीख माँगनी पड़ती थी। जब बालक में आत्म-सम्मान का भाव आ जाता तो वह इसे पसंद नहीं करता था।

इस सुधार गृह में हाथ के काम और पढ़ाई-लिखाई दोनों ही होते थे। बालकों के पढ़ाने के लिये मनोवैज्ञानिक ढंग को काम में लाया

लगा था। देखा गया है कि उद्दण्ड बालकों का मन पढ़ने में नहीं लगता। इसका कारण उनमें बुद्धि की कमी नहीं होती, वरन् पढ़ने के प्रति किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि बनना होता है। यदि इन बालकों की मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण कर दिया जाय, तो उनका मन पढ़ने में लगने लगे। फिर वे अपनी शक्ति को उद्दण्डता की ओर भी प्रवाहित न होने दें। उनके पास इतनी फजूल की शक्ति ही न रहेगी कि बालक किसी प्रकार के वर्जित काम में लगे। बालक को पढ़ाई में लगा देना भी उसके सुधार का एक उपाय है। अतएव डाक्टर होमरलेन के नये प्रजातंत्र में बालकों को पढ़ने के लिये भी खूब प्रोत्साहित किया जाता था।

बालकों की दूषित प्रवृत्ति का सुधार कैसे किया जाता था इसका एक उदाहरण उल्लेखनीय है। सुधार गृह के एक बालक को एक व्यवस्थापिका एक दिन डाक्टर होमरलेन के पास ले आई। इस बालक ने गुस्से में आकर सुधार गृह की एक तश्तरी तोड़ दी थी। बालक बड़ा हठीला था। वह असाधारण स्वभाव का था। उसके साथ साधारण बालक जैसा व्यवहार करना व्यर्थ था। अतएव बालक की शिकायत सुनने पर डाक्टर होमरलेन ने बालक से पूछा—"क्या तुम और तश्तरी भी फोड़ना चाहते हो?" बालक ने उत्तर दिया—"हाँ"। इस पर डाक्टर होमरलेन ने अपने सामने रखी हुई तश्तरी उस बालक के हाथ में दे दी और उससे कहा—"लो इसे भी फोड़ डालो"। बालक ने समझा कि उससे मजाक किया जाता है। वहाँ दूसरे बालक भी बैठे थे और वह उनके सामने अपने आपको सीधा सिद्ध किया जाना सह नहीं सकता था। उसने तुरत ही उस तश्तरी को जमीन पर दे मारी। डाक्टर होमरलेन ने फिर उसके हाथ एक और तश्तरी दे दी, और उससे कहा "लो इसे भी फोड़ दो"। तब उस बालक ने उसे भी फोड़ दिया। इस प्रकार डाक्टर होमरलेन अपने सामने रखी हुई

सभी तश्तरियों को एक एक करके देने गये और यह बालक उन्हें तोड़ता गया। जब सात आठ तश्तरियाँ जो वहाँ थीं सभी टूट गईं तब डाक्टर होमरलेन ने उस बालक से पूछा कि अब कुछ और भी तोड़ना चाहते हो। बालक ने जवाब दिया "हाँ"। इस पर डाक्टर होमरलेन ने अपने हाथ की घड़ी उसे दे दी और कहा कि इसे भी तोड़ दो। इस पर यह बालक अवाक् रह गया। वह रुक गया और उसने अपना मस्तिष्क नीचा कर लिया। उस दिन से वह एक नये प्रकार का व्यक्ति बन गया। वह एक सप्ताह तक अपने द्वारा तोड़ी तश्तरियों का दाम चुकाने के लिये और बालकों की अपेक्षा प्रतिदिन अधिक परिश्रम करने लगा। अब उसमें उचित-अनुचित का विचार आ गया। वह सामान्य बालकों के समान रचनात्मक कार्य में मन लगानेवाला बन गया और उसकी ध्वंसात्मक मनोवृत्ति का निराकरण सदा के लिये हो गया। जब बालक की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का एक ओर निराकरण हो जाता है तो उसका प्रभाव बालक के समस्त जीवन पर पड़ता है। वह दूसरी ओर भी अपने आपको ध्वंसात्मक कार्यों के करने से अपने आपको रोकने लगता है। इस प्रकार वह समाज का उपयोगी नागरिक बन जाता है।

डाक्टर होमरलेन का बालकों के प्रति अवर्णनीय प्रेम था। वे उनके लिये इतना त्याग करते थे कि कोई भी बालक उनके व्यवहार से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। अच्छे बालकों से और अच्छे लोगों से सभी लोग प्रेम कर सकते हैं, पर जटिल प्रकृति के लोगों से तथा जटिल बालकों से कोई विशेष व्यक्ति ही प्रेम कर सकता है। इसके की विशेष उदारता हुए बिना पतित समझे जानेवाले व्यक्तियों से प्रेम करना सम्भव नहीं। डाक्टर होमरलेन में जटिल बालकों को प्रेम करने का सामर्थ्य था अतएव वे एक बड़े महात्मा थे। वे जिस प्रकार मानसिक रोगों का उपचार प्रेम के द्वारा करते थे, उसी प्रकार वे जटिल बालकों का सुधार भी प्रेम के द्वारा करते थे। पूरा

और द्वेष मानसिक रोगों और अपराधों की वृद्धि करते हैं और प्रेम और सेवाभाव उनका निराकरण करते हैं। डाक्टर होमरलेन अपने प्रेम-प्रदर्शन से किस प्रकार जटिल बालक की मनोवृत्ति में परिवर्तन करते थे इसका एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है।

एक बार डाक्टर होमरलेन के सुपुर्द एक चौदह वर्षीय अपराधी बालक लाया गया। उसे न्यायालय से कुछ दिन तक सुधार गृह में रहने की सजा मिली थी। वह बालक पहले भी सुधार गृह में रखा जा चुका था। वह जानता था कि सुधार गृह एक प्रकार का जेलखाना है। अतएव उसने डाक्टर होमरलेन को घृणा की दृष्टि से देखा। डाक्टर होमरलेन उस बालक को लेकर सुधार गृह की ओर चले। डाक्टर होमरलेन ऐसे बालकों के हाथ में हथकड़ी नहीं डालते थे। बालक आगे आगे था और डाक्टर होमरलेन उसके पीछे चल रहे थे। सुधार गृह के कुछ पास पहुँचते ही वह बालक एकाएक दौड़ पड़ा। डाक्टर होमरलेन ने उसका पीछा किया। वह डाक्टर होमरलेन की सरलता और उदारता से लाभ उठाकर भाग जाना चाहता था। डाक्टर होमरलेन उसके पीछे पीछे चार पाँच फर्लांग दौड़े और उसे फिर से पा लिया। बालक थक गया था। उसने हाँफते हुए अपना हाथ डाक्टर होमरलेन के सामने कर दिया। जिससे कि वे उसके हाथ में हथकड़ी डाल दें। उसका पहले का अनुभव भी इसी प्रकार का था। पर डाक्टर साहब ने उसके हाथ में एक गिन्नी रख दी। वह बालक समझा कि उसके साथ मजाक किया जा रहा है। उसने पूछा—यह क्या है? डाक्टर होमरलेन ने धीरे से कहा—यह तुम्हारे खर्चे के लिये मैं पैसा दे रहा हूँ। तुम घर कब तक पैदल पहुँचोगे। जाओ इन पैसों का टिकट खरीद लो और रेल से घर चले जाओ। वह बालक उस गिन्नी को लेकर चल पड़ा और डाक्टर होमरलेन अपने सुधार गृह की ओर लौट आये।

डाक्टर होमरलेन के लिए यह भारी साहस का कार्य था। एक अपराधी को इस प्रकार छोड़ देना राज्य नियम के प्रतिकूल कार्य है पर डाक्टर होमरलेन का ध्येय अपराध की मनोवृत्ति को अन्त करना था। वे जानते थे कि दण्ड के द्वारा इसका अन्त होना संभव नहीं अतएव उन्होंने एक नया मार्ग पकड़ा। उन्हें विश्वास हो गया था कि वह बालक अब और अपराधी न रहेगा। राज्य कानून का भी ध्येय यही होता है। वास्तव में वह बालक संध्या को आठ बजे इधर उधर घूम कर उक्त सुधार गृह के दरवाजे पर आ गया और उसने डाक्टर होमरलेन से उन्हें कष्ट देने के लिये क्षमा-याचना की। फिर वह उस सुधार गृह का एक सुयोग्य नागरिक बन गया। पीछे वही बालक सरकार का अच्छा जिम्मेदार कर्मचारी बना। प्रेम के द्वारा किस प्रकार बालकों का हृदय परिवर्तित हो जाता है, इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

भारतवर्ष का एक प्रयोग

अपराधी बालकों के सुधार का एक सुन्दर प्रयोग मध्यप्रान्त की सरकार ने किया है। यह प्रयोग जबलपुर में हो रहा है।

मध्यप्रान्त की सरकार ने सुधार गृहों को सुयोग्य ट्रेनिंग पाये हुए शिक्षकों के संचालन में रखा है। वर्तमान काल में जबलपुर के सुधार गृह के सर्वोच्च अधिकारी यहाँ पर कुछ मनोवैज्ञानिक भी कार्य करते थे हैं। अधिकारियों का अपराधी बालकों के प्रति उदार दृष्टिकोण रहता है।

यहाँ के बालकों का जीवन उसी प्रकार का है जिस प्रकार का जीवन एक सुनियंत्रित विद्यालय का होता है। बालकों के चेहरे पर उदासी की जगह आप प्रसन्नता पावेंगे। वे अब कैदी की पोशाक में नहीं हैं, सभी को सफेद कुरता, हाफ पेन्ट और टोपी दे दी गई है। वे लोहे की तसली में न खाकर अब पीतल की थाली में भोजन करते

हैं। इनके पास पीतल का एक लोटा रहता है। सभी बर्तन अच्छी तरह रखे रहते हैं।

बालकों को अनेक प्रकार के हाथ के काम सिखाये जाते हैं—उदाहरणार्थ बागवानी, चटाई बुनना, कुरसी बुनना, लकड़ी के काम, कपड़े के काम, खेती, सूत कताई इत्यादि। फिर प्रत्येक बालक को बौद्धिक शिक्षा भी सामान्य विद्यालय के सामान्य बालकों के समान दी जाती है। यहाँ पर एक विद्यालय भी है जिसके शिक्षक बड़े ही कुशल व्यक्ति हैं। यहाँ पर साधारणतः पढ़ना-लिखना बड़ी अवस्था में बालक सीखते हैं। पर उनकी उन्नति बहुत ही अच्छी होती है। वे उतना ही दो वर्ष में सीख लेते हैं जितना दूसरे बालक चार वर्ष में सीखते हैं। लेखक ने बालकों का सुलेख बहुत ही अच्छा पाया। इन बालकों की गणित की योग्यता भी साधारण स्कूल के बालकों से अच्छी पाई। पुस्तक पढ़ने में, बातचीत करने में, गाना गाने में सभी बालक योग्य दिखाई पड़े। लेखक को तो यह भावना मन में आने लगी कि यदि हमारे देश की साधारण प्रारंभिक पाठशालाओं में इसी प्रकार जिम्मेदारी के साथ काम होने लगे जिस प्रकार जबलपुर के सुधार घर की पाठशाला में होता है तो हमारे देश की शिक्षा की प्रगति बहुत ही संतोषजनक हो जावे।

सुधार घर में बालक अपना समय व्यर्थ नहीं खोते। वे कुछ रोज़गार सीख जाते हैं। कितने ही बालक जिन रोजगारों को सुधार घर में सीखते हैं बाहर जाकर भी करते रहते हैं। जबलपुर शहर में भी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने सुधार घर में रोजगारों को सीख कर आर्थिक उपार्जन का मार्ग निश्चय किया और अब वे सम्मानित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सुधार घर उन व्यक्तियों के उदाहरण बताये रखता है जो कभी सुधार घर के बालक थे और जो अब अच्छे अच्छे

डाक्टर होमरलेन के लिए यह भारी साहस का कार्य था। अपराधी को इस प्रकार छोड़ देना राज्य नियम के प्रतिकूल है पर डाक्टर होमरलेन का ध्येय अपराध की मनोवृत्ति को ... करना था। वे जानते थे कि दण्ड के द्वारा इसका अन्त होना ... नहीं अतएव उन्होंने एक नया मार्ग पकड़ा। उन्हें विश्वास हो गया कि यह बालक अब और अपराधी न रहेगा। राज्य कानून का ध्येय यही होता है। वास्तव में यह बालक संध्या को आठ बजे ... उधर घूम कर उक्त सुधार गृह के दरवाजे पर आ गया और डाक्टर होमरलेन से उन्हें कष्ट देने के लिये क्षमा-याचना की। ... वह उस सुधार गृह का एक सुयोग्य नागरिक बन गया। ... बालक सरकार का अच्छा जिम्मेदार कर्मचारी बना। प्रेम ... किस प्रकार बालकों का हृदय परिवर्तित हो जाता है, इस ... स्पष्ट हो जाता है।

भारतवर्ष का एक प्रयोग

अपराधी बालकों के सुधार का एक सुन्दर प्रयोग ... सरकार ने किया है। यह प्रयोग जबलपुर में हो रहा है ...

मध्यप्रान्त की सरकार ने सुधार गृहों को सुयोग्य ... शिक्षकों के संचालन में रखा है। वर्तमान काल में ... के सर्वोच्च अधिकारी यहाँ पर कुछ मनोवैज्ञानिक ... हैं। अधिकारियों का अपराधी बालकों के प्रति उ...

यहाँ के बालकों का जीवन उसी प्रकार ... जीवन एक सुनियंत्रित विद्यालय का होता है ... उदासी की जगह आप प्रसन्नता पायेंगे। ... नहीं हैं, सभी को सफेद कुरता, हाफ पैन्ट ... वे लोहे की तसली में न खाकर

रा विश्वास है कि बिना भोजन किये किसी व्यक्ति से वास्तविक
सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। अतएव जो अधिकारी सुधार गृह के
विद्यालयों का सुधार करना चाहते हैं और उनके निवासियों से
नी आत्मीयता जनाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे इन सुधार
ों का पकाया हुआ और सुधार गृहों के बालकों का परोसा भोजन
ों के साथ भी करें।

चौबीसवाँ प्रकरण

बालकों की मानसिक बीमारियाँ

बालकों को अनेक प्रकार की बीमारियाँ होती है। इन बीमारिय
में बहुत सी बीमारियों का कारण शारीरिक होता है, पर बहुत स
बीमारियों का कारण मानसिक भी होता है। बालकों की मानसि
बीमारियाँ उतनी जटिल नहीं होतीं जितनी जटिल प्रौढ़ लोगों क
मानसिक बीमारियाँ होती हैं, पर उनकी शारीरिक बीमारियाँ प्राय
जटिल होती हैं। बालक के मनोविकार जितनी शीघ्रता से शारीरि
रोग में परिणत हो जाते हैं उतनी शीघ्रता से प्रौढ़ व्यक्तियों के मनो
विकार शारीरिक रोग में परिणत नहीं होते। यहाँ पर कुछ मानसि
और शारीरिक बीमारियों का उल्लेख करना आवश्यक है जो मात
पिता अथवा शिक्षकों की असावधानी से उत्पन्न होती हैं और जिन्हें
योग्य बाल-मनोविज्ञान के ज्ञान से रोका जा सकता है—

बालकों की मानसिक बीमारियाँ

बालकों की मानसिक बीमारियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) भयानक स्वप्नों को देखना।
(२) अकेले रहने से डरना।
(३) अन्धकार से डरना।
(४) पठित पाठ भूल जाना।
(५) स्वप्न में उठकर घूमना।
(६) सबसे चिढ़ना।
(७) हकलाना।

(८) घर से भाग जाना।

अब हम उपर्युक्त बीमारियों पर एक विचार करेंगे और देखेंगे कि उनका कारण क्या है और उनसे बालकों को मुक्त करने का क्या उपाय हो सकता है—

भयानक स्वप्नों को देखना

बहुत से बालकों को भयानक स्वप्न होते हैं। चार पाँच वर्ष की अवस्था से ही बालक को स्वप्न होने लगते हैं। बालक के स्वप्न प्रायः उसकी दिन की घटना के प्रतिरूप होते हैं। जिन बालकों को अधिक डाँटा-डपटा जाता है उन्हें स्वप्न में भी अप्रिय दृश्य दिखाई देते हैं। जो बालक रूठकर सोते हैं उन्हें भी अच्छे स्वप्न नहीं दिखाई देते। जिन बालकों के मन में दूसरे बालकों से बदला लेने की भावना रहती है वे भी सुन्दर स्वप्न नहीं देखते। वे स्वप्न में अपने-आपको दूसरे बालकों से पिटते हुए पाते हैं। बहुत सी मातायें बालकों को सोते समय डरावनी कहानियाँ कहती हैं, इससे बालकों के स्वप्न भयंकर हो जाते हैं। कहानियों में कहे गये दृश्य बालक स्वप्न में देखने लगते हैं। भयावने स्वप्न का सामान्य कारण बालकों की दलित इच्छायें हैं। इस प्रसंग में ग्रीनिक महाशय द्वारा उल्लेखित निम्नलिखित नौ वर्ष की बालिका का स्वप्न उल्लेखनीय है—

एक बालिका अपने स्वप्न में देखा करती थी कि उसके सभी घर के लोग उसे अकेली छोड़ कर भाग गये हैं। इस बालिका के मानसिक अध्ययन से पता चला कि उस बालिका पर घर के लोगों का प्यार कम हो गया था। पहले तो घर के सभी लोग उसे बहुत प्यार करते थे, पर जब से घर में एक दूसरा बालक पैदा हो गया तब से उस पर प्रेम कम हो गया था। इसके कारण वह घर के सभी लोगों से घृणा करने लगी थी और वह अप्रिय स्वप्न भी देखने लगी थी।

बालक को अच्छी नींद आवे और उसे अच्छे स्वप्न हों इसके लिये

गर्भवती स्त्री के अंधेरे में रह जाने से बालक को क्या क्या नुकसान हो सकते हैं, इसके विषय में अनेक भयानक बातें बालक की नानी उसकी माँ को सुनाती थी। इस प्रकार माँ के मन में अंधेरे के प्रति भय का वातावरण उत्पन्न किया गया। यही भय निर्देश के द्वारा बालक के अचेतन मन में चला गया। बालक की अचेतन अवस्था में जो भय बालक के मन में स्थान कर लेते हैं उनसे वह समझदार होने पर भी मुक्त नहीं होता। बालक की गर्भावस्था के समय के माता के भाव बालक के अचेतन मन में आ जाते हैं और वे उसके स्वभाव का अंग बन जाते हैं। जिस प्रकार अपने पुरुषार्थ की कहानियाँ सुभद्रा को सुनाकर अर्जुन ने अभिमन्यु को उसकी गर्भावस्था से ही वीर बालक बनाया, उसी प्रकार किसी भी बालक को वीर अथवा कायर माता के हृदय में उपयुक्त भाव उत्पन्न करके बनाया जा सकता है।

जिस प्रकार बालक के भावात्मक जीवन के लिये उसकी गर्भावस्था के संस्कार महत्त्व के हैं, उसी प्रकार उसकी तीन वर्ष तक की अवस्था के संस्कार भी बड़े महत्त्व के हैं। इन संस्कारों को पीछे विचार के द्वारा नहीं हटाया जा सकता। अतएव बालकों के व्यक्तित्व को दृढ़ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें इस काल में डरपोक दाइयों के जिम्मे न छोड़ा जाय और माताओं को योग्य शिक्षा दी जाय।

स्वप्न में उठकर घूमना

बहुत से बालकों को सोते सोते उठकर घूमने की बीमारी हो जाती है। लेखक के एक छात्र को इस प्रकार की बीमारी उसकी बाल्यावस्था में थी। इस प्रकार की बीमारी का कारण बालक की मानसिक कमज़ोरी होता है। इस मानसिक कमजोरी का भी एक प्रधान कारण माता-पिता के बीच प्रेम का अभाव होता है। जब स्त्री और पुरुष में वास्तविक प्रेम नहीं होता तो पुरुष सन्तान की उत्पत्ति नहीं चाहता।

ऐसी अवस्था में यदि सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो उसके प्रति पिता का सद्भाव नहीं रहता। वह पहले तो उसके अपनी सन्तान होने में सन्देह करने लगता है और उसके मरने की इच्छा करने लगता है। इस प्रकार के वातावरण में बालक को अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ हो जाती हैं। बालक का अपनी अचेतन अवस्था में उठकर इधर उधर घूमना उसकी घर से निकल भागने की इच्छा का प्रतीक है। बालक का चेतन मन चाहे पिता के अपने प्रति वास्तविक भावों को समझे अथवा नहीं उसका अचेतन मन शीघ्र ही उन भावों को समझ लेता है। अतएव वह पिता से बचने का प्रयत्न करता है। यदि बालक की आयु अधिक हो तो वह किसी न किसी बहाने घर से निकल भागता है। पर छोटा बालक यह नहीं कर सकता। अतएव वह अपनी अचेतन अवस्था अर्थात् स्वप्न में घर से भाग जाने का अभिनय करता है।

उक्त बालक की सोते समय घूमने की बीमारी माता-पिता के आपस में लड़ने के समय अधिक बढ़ जाती है। बहुत से बालक ऐसी अवस्था में मर जाते हैं। माता का प्यार तो सदा बालक पर रहता ही है, यदि किसी व्यक्ति के प्यार की कमी होती है तो वह पिता के प्यार की। अतएव छोटे बालकों की, सोते समय के इधर उधर घूमने की बीमारी का प्रधान कारण बालक के पिता के ही उनके प्रति दुर्भाव अथवा दुर्व्यवहार होता है। देखा गया है कि जिस बालक को यह बीमारी होती है उसे कभी भी पिता अपनी गोद में नहीं लेता और न उसे पुचकारता अथवा पुचकारता है।

कंजूस लोगों की सन्तान को भी इस बीमारी हो जाती है। इसका भी कारण कंजूस लोगों की सन्तान की वृद्धि की अनिच्छा होती है।

पठित पाठ भूल जाना

बहुत से बालक किसी विशेष विषय को याद नहीं कर सकते और

बहुत से याद करके भी उसे भूल जाते हैं। इसका कारण शिक्षक का बालक के प्रति रुख है। जो शिक्षक बालक को प्रेम से पाठ पढ़ाता है वह बालक में उस पाठ को याद कर डालने की रुचि तथा योग्यता भी उत्पन्न कर देता है। इसके प्रतिकूल जो शिक्षक किसी बालक को बाध्य होकर पाठ पढ़ाता वह न तो बालक में पाठ याद करने की रुचि उत्पन्न करता है और न उसके पढ़ाने से बालक की योग्यता में किसी प्रकार की वृद्धि होती है। इस प्रसंग में फ्लिंटर महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक बालक को उसकी माँ भाषा और हाथ का काम सिखाती थी और उसका पिता उसे गणित सिखाता था। बालक गणित में सदा पिछड़ा रहता था। उसका पिता जितना ही बालक को गणित सिखाने में प्रयत्न करता था, बालक उतना ही अधिक पिछड़ता जाता था। इसके प्रतिकूल बालक भाषा का पाठ खूब याद करता था और वह दस्तकारी में बड़ा प्रवीण हो गया था। इस समस्या के उपस्थित होने पर बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। पहले तो यह समझा गया कि बालक जन्म से ही मन्द बुद्धि का है, इसलिये ही उसे गणित नहीं आती। पर उसकी बुद्धि माप से पता चला कि वह मन्द बुद्धि नहीं है, वह बड़ा चतुर है और सूक्ष्म बातों को समझ सकता है। तब माता और पिता के प्रति उसके भावों को जानने की चेष्टा की गई। इन भावों के जानने से पता चला कि बालक माँ को बहुत ही प्यार करता था और पिता से सदा डरा करता था। वह डर के कारण पिता द्वारा पढ़ाये गये विषय को समझने और याद करने की कोशिश अवश्य करता था, पर वह जितना ही अधिक इस प्रकार का प्रयत्न करता था वह उतना ही उस विषय को भूलता था।

बहुत से पिता अपने बालक को स्वयं पढ़ाने लग जाते हैं। पर किसी भी पिता को अपने बच्चे को तब तक पढ़ाने की चेष्टा न करनी

चाहिये जब तक वह अपने आपका भली प्रकार से मनोवैज्ञानिक अध्ययन न कर ले। देखा गया है कि जिन पिताओं में बालकों को पढ़ाने की सबसे कम योग्यता होती है वे ही बालकों को पढ़ाने के लिये बड़े लालायित रहते हैं। पिता में अपने बच्चे के प्रति स्वभावतः आलोचना दृष्टि रहती है। जिस पिता में जितनी अधिक इस प्रकार की दृष्टि रहती है वह अपने बालक को पढ़ाने के लिये उतना ही अयोग्य है। इस संबंध में लेखक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

लेखक की एक छात्रा पढ़ाई में कुछ पिछड़ी रहती थी, उसकी छोटी बहिन सदा उससे आगे रहती था। जब बड़ी बहिन अकेली ही पढ़ती थी तो वह पढ़ाई में बहुत तेज थी। पर जब से उसकी छोटी बहिन ने पढ़ना आरंभ किया तब से बड़ी बहिन पढ़ाई में पिछड़ने लगी। वास्तव में छोटी बहिन उसकी प्रतियोगिता करने लगी थी। छोटी होने के कारण सभी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित रहता था। इस प्रकार बड़ी बहिन बिना प्रेम पाये रह जाती थी इसके कारण उसकी पढ़ने लिखने में रुचि भी जाती रही और वह पढ़ाई में पिछड़ने लगी। जब इस लड़की को ऐसा शिक्षक मिला जो उसकी मानसिक कठिनता को सुलझा सके तो उसकी पढ़ाई में उन्नति होने लगी।

सबसे चिढ़ना

बहुत से बालकों में घर के दूसरे बालकों से चिढ़ने की आदत होती है। जब कभी मौका मिल जाता है वे दूसरे बालकों को मार पीट भी देते हैं और जब उन्हें इसके लिये डाँटा-डपटा जाता है तो वे [illegible] हो जाते हैं। बालक का इस प्रकार चिढ़ना एक प्रकार की मानसिक बीमारी है जो उसे घर में अपना स्थान खो जाने के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की बीमारी घर के बड़े बच्चे से आरम्भ हो जाती है। बड़ा बच्चा यह अनुभव करता है कि घर के सभी

लोग उसे ही सबसे अधिक प्यार करेंगे। पर जब वह देखता है कि उससे छोटे बालक को घर के लोग अधिक प्यार करने लग गये हैं तो वह घर के लोगों से क्रुद्ध हो जाता है। अब वह एक ओर छोटे बालक को पीट देने का अवसर ढूँढ़ता रहता है और दूसरी ओर वह कोई न कोई ऐसा काम करता है जिससे कि घर के लोगों का मन दुःखी हो। जब बालक घर के लोगों को प्रेम पाने में असमर्थ रहता है तो वह उनके क्रोध का ही पात्र बनने की चेष्टा करता है।

हाल में ही लेखक की सबसे बड़ी बालिका (शान्ति) चिड़चिड़ी हो गई थी। वह खाँसी बुखार आदि से बीमार भी रहने लगी थी। पहले तो लेखक ने इन बीमारियों का कारण भौतिक समझा। पीछे उसके आचरण को देखकर अन्दाज लगाया गया कि इसका मानसिक कारण हो सकता है। खोज करने पर बीमारियों का वास्तव में मानसिक कारण पाया गया।

शान्ति की छोटी बहिन (सरस्वती) इस समय घर के लोगों में प्रथम स्थान पा रही थी। लेखक का एक भांजा इस समय घर में आया और उसने सरस्वती का स्थान सबसे ऊँचा कर दिया था। वह सरस्वती को अपने पास बुलाता और घुमाने ले जाता था। वह सदा सरस्वती की ही तारीफ़ करता था। उसे शान्ति सह नहीं सकती थी। इसलिये वह कभी-कभी सरस्वती को पीट देती थी। जब उसे इसके लिये डाँटा-डपटा जाने लगा तो वह बीमार होने लगी। शान्ति की उमर अब नौ साल की हो चुकी है, इसलिये उसे अलग सोने के लिये कहा जाता था। पर इसे शान्ति का मन सहन नहीं कर सकता था। वह देखती थी कि जो स्थान पहले उसका था उसे अब सरस्वती पा रही है। अतएव उसने अपने पुराने स्थान को प्राप्त करने के लिये एक विकृत मार्ग का अनुसरण किया। वह बीमार रहने लगी। बीमार रहने पर सभी लोग शान्ति के विषय में चिन्तित रहने लगे। अब वह

मूर्च्छी हो जाती तो फिर उसका स्थान दूसरा हो जाता था। इससे वह बार-बार बीमार होने लगी।

बालकों का हिकलाना

बालकों के बोलने में दो प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं—एक मानसिक और दूसरी शारीरिक। ये दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ या तो जन्मजात होती हैं अथवा अर्जित। जन्मजात शारीरिक कठिनाइयाँ माता-पिता से प्राप्त होती हैं और अर्जित शारीरिक कठिनाइयाँ अधिकतर बीमारियों के कारण उत्पन्न होती हैं। इसी तरह जन्मजात मानसिक कठिनाइयाँ प्रायः माता पिता से प्राप्त होती हैं और अर्जित मानसिक कठिनाइयाँ दूषित वातावरण से। यहाँ पर हम बालकों के हिकलाने के कारण पर विचार करेंगे।

लेखक के एक पुराने सहपाठी का बारह वर्ष का बालक हिकलाता है। ये मित्र गूँगों की शिक्षा का कार्य कर रहे हैं। बालक बुद्धि में तीक्ष्ण है। उसके पिता भी हिकलाते हैं। बालक गूँगों से बातचीत करने में बड़ा कुशल है। उसे गूँगों की भाषा अच्छी तरह आती है। पर इस योग्यता की बुराई भी यह है कि वह बोलने की जगह संकेतों का ही अधिक प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। यहाँ उसके हिकलाने के कारण पर विचार करने पर पता चला कि उसके पिता का दोष और प्रतिकूल वातावरण दोनों ही हिकलाने के कारण हैं। पिता की नकल करने की प्रवृत्ति प्रत्येक बालक में रहती है। यदि किसी बालक का पिता भाषा में प्रवीण है तो बालक भी उसी प्रकार की प्रवीणता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यदि पिता की भाषा दूषित है अथवा वह हिकलाता है तो वही प्रवृत्ति बालक में भी हो जाती है। इसका कारण इतना वंशानुक्रम का प्रभाव नहीं, जितना बालक की श्रेष्ठ पुरुष की नकल करने की प्रकृति होती है। फिर यदि जिन बालकों में बालक

पला हुआ है ये हिकलाते हों तो न हिकलानेवाला बालक भी हिकलाने लगता है।

हिकलाने का कारण बुद्धि की कमी भी होती है। जिस प्रकार हिकलाने के कारण मानसिक विकास में अड़चन उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार बुद्धि की कमी के कारण भी बालक में हिकलाने की आदत आ जाती है। जिस बालक के मन में विचार जल्दी-जल्दी नहीं आते उसके मन में विचारों के स्पष्ट करने के लिये भाषा भी जल्दी जल्दी नहीं आती। विचारों की अड़चन भाषा की अड़चन बन जाती है। जिस बालक के हिकलाने का कारण बुद्धि की कमी होती है, उसका हिकलाना स्थायी रोग बन जाता है।

बालकों का डाँटना-डपटना और उनके मन में उपस्थित मानसिक ग्रन्थि भी हिकलाने का कारण होती है। लेखक का नौ वर्ष का बालक कुछ दिन पूर्व हिकलाने लगा। उसकी माँ भी आज से पाँच सात वर्ष पूर्व हिकलाती थी। अतएव इस हिकलाने को जन्म से प्राप्त पैतृक गुण मानना स्वाभाविक था। पर लेखक की बड़ी लड़की उस बालक से छोटी लड़की नहीं हिकलाती। इससे लेखक को संदेह हुआ कि इस हिकलाने का कारण पैतृक नहीं, वरन् वातावरण की कोई घटना है। बालक के अनुभव को खोजने से पता चला कि उसका हिकलाना तब से प्रारम्भ हुआ जब से उसे उसके चचेरे भाई ने लेखक की अनुपस्थिति में डाँटा था। अपने भतीजे की जिम्मेवारी पर छोड़ कर लेखक एक बार कुछ दिन के लिये बाहर चला गया था। उसकी माँ भी उसके पास न थी। अतएव इस डाँट से बालक पबड़ा गया था। तभी से उसका हिकलाना शुरू हुआ। फिर इस समय उसका शिक्षक भी एक देहाती मास्टर था जिसे बालकों को डाँट-डपट कर अथवा मार-पीट कर पढ़ाने की आदत थी। लेखक ने इसमें भी हिकलाने का कारण पाया। अतएव इन कारणों में परिवर्त्तन किया और बालक को अपने कामों में

निक प्रकार से प्रोत्साहित किया गया। जब बालक में आत्मविश्वास
ड़ जाता है तो उसके हिकलाने की आदत भी छूट जाती है। इस
मय यह बालक बिलकुल नहीं हिकलाता। हिकलाना एक ऐसा दोष
जो अनजाने आ जाता है और कब चला जाता है इसका भी एका-
क ज्ञान नहीं होता।

लेखक के एक सात वर्ष का भतीजा किसी भी व्यक्ति को नाम ले-
र नहीं बुलाता। उसे धीरे धीरे बोलने की आदत है। वह किसी
क्ति को बुलाते समय 'काका', 'दादा', 'चाची', 'मौसी' आदि न कह
र "ये" कहता है। कभी-कभी वह हाथ पकड़ लेता है, तब वह
पनी इच्छा को प्रकाशित करता है। इस बालक की माँ बचपन में ही
र गई थी और उसे साधारण बालकों के समान स्वजनों का प्यार
हीं मिला। अतएव यह नाम याद न आने की कठिनाई वास्तव में
मानसिक कठिनाई ही है। जिस बालक को 'माँ' पुकारने का सौभाग्य
प्त नहीं हुआ, वह दूसरे व्यक्तियों के भी नाम नहीं सीखना चाहता।
माँ ही प्यार की दृष्टि से संसार के अन्य लोगों से भिन्न होती है। जिस
बालक को माँ नहीं, उसे संसार के सभी लोग एक से ही हैं। बालक
को नाम के सीखने में इसलिये कठिनाई होती है कि उसका अचेतन
मन नाम को सीखना ही नहीं चाहता।

किशोर बालकों के हिकलाने का कारण मानसिक अन्तर्द्वन्द्व होता
है। यदि बालक किसी ऐसे काम के लिये प्रेरित किया जाता है जो नैतिक
दृष्टि से अनुचित है अथवा जिसके कर जाने से उसे स्वयं अपना आत्म-
ग्लानि की अनुभूति होती है तो बालक को ऐसी स्थिति में हिकलाने का
रोग उत्पन्न हो जाता है। अपने मन की बात छुपाने की चेष्टा ह
मानसिक रूप से हिकलाने से परिलक्षित हो जाती है। जिस बालक के
मन में [illegible] हुलने की [illegible] रहती है वह उतना ह
अधिक हिकलाता है। जब बालक के मन के इस मानसिक कठिनाइयों

को हटा दिया जाता है तो उसका हिकलाना भी नष्ट हो जाता है। इस लिये बालक को कठोर नैतिक वातावरण से निकालकर उसके स्वभाव के अनुकूल वातावरण में रखना आवश्यक है। जिस बालक को मस्त बनाने के लिये जितना ही उतावलापन दिखाया जाता है उसके मन में उतनी ही मानसिक झंझटें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रेम और प्रोत्साहन के वातावरण में रखने से बालक में आत्म प्रकाशन की वृद्धि होती है उसमें रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है और जैसे ही इन प्रेरणाओं की प्रबलता होती है उसकी मानसिक ग्रन्थियों का विनाश होता है।

ऊपर हमने देखा कि बालक डाँट-डपटे जाने के कारण, दूसरों के अज्ञात अनुकरण के कारण तथा किसी नैतिक मानसिक ग्रन्थि के कारण हिकलाते हैं। इन सब प्रकार के हिकलाने का भिन्न भिन्न प्रकार का उपचार है। कारण को ठीक प्रकार से जान कर उपयुक्त विधि का प्रयोग किया जा सकता है।

हिकलाने को नष्ट करने की प्रधानतः चार विधियाँ हैं—

(१) हिकलानेवाले बालक के प्रति सहानुभूति दर्शाना। उसे बात बात पर न टोकना। उसकी बात को धैर्य के साथ सुनना।

(२) बालक को किसी रचनात्मक काम में लगाना और इसमें उसे प्रोत्साहन देना।

(३) मैत्री भावना का अभ्यास।

(४) शैथिलीकरण का अभ्यास।

(५) मानसिक ग्रन्थि का रेचन।

अब इन पाँचों प्रकार के उपचारों की विधियों का तथा उनकी उपयोगिता का एक-एक करके वर्णन करेंगे।

जब कोई बालक हिकला कर बोल रहा हो तो उसकी बात हमें धीरे से सुन लेनी चाहिये। हिकलानेवाला बालक कोई भी बात कहता है

जाता है। बुद्धि में प्रखर हिकलानेवाले बालक में उतावला-
न होता है। उसका आन्तरिक मन कहता है कि मेरी बात कोई देर
नहीं सुनेगा, अतएव अपनी बात को जल्दी से कह जाऊँ। इस
को जल्दी करने से वह लड़खड़ाने लगता है। यदि बालक को
के लिये पर्याप्त समय दिया जाय, अपने आप यदि हम इस
से उसकी बात सुनें कि मानो हमारे पास पर्याप्त समय है तो
हिकलाना बन्द हो जाय। धैर्य से ऐसे बालक की बातें सुनना
श्यक है। हिकलानेवाले बालक से उसके बोलने के बीच में प्रश्न
रना चाहिये। कभी कभी हिकलाने के मानसिक रोग का कारण
प्रकार की अनैतिक भावना का दमन होता है। यदि कोई
क अपनी जननेन्द्रिय छूते समय डाँट दिया गया है तो वह कभी
कुछ काल बाद हिकलाने लगता है। बारबार डाँटे जानेवाले
कों में भी हिकलाने का रोग उत्पन्न हो जाता है।

हिकलानेवाला बालक कभी-कभी किसी विशेष व्यक्ति के सामने ही
लाता है सभी लोगों के सामने नहीं। लेखक का एक छात्र पहले
त हिकलाता था, वह अब उतना नहीं हिकलाता। वह इस समय
क ट्रेनिंग कालेज का अध्यापक है। जब से उसने अध्यापक का कार्य
या उसका हिकलाना कम हो गया। पिछले वर्ष इसने [illegible] को
ढ़ाई के समय कालेज के अध्यापकों की ओर से विदाई का सन्देश भी
या था। उसे इस समय न हिकलाना पड़ा। पर अपने बड़े भाई
सामने बात करते समय वह अब भी हिकलाने लगता है। कितने ही
क अथवा युवक अपने [illegible] के सामने ही हिकलाते हैं। बालक
अथवा युवक का [illegible] जिन लोगों से भय होता है उनके
मने वह हिकलाने लगता है। [illegible] के भय से वह भय [illegible]
गता है और इसके कारण हिकलाना भी नष्ट हो जाता है

रचनात्मक काम में लगने से भी हिकलाना बन्द होता है। जो

बालक जितना ही अधिक जीवन में सफल होता है उसका हिकला उतना ही कम हो जाता है। हिकलाना स्वयं मानसिक विकार न यह मानसिक विकार का प्रतीक है। जब मानसिक विकार का रे अथवा क्षीण हो जाता है तो व्यक्ति का हिकलाना भी कम हो जाता हिकलाने के साथ साथ बालक के मन में अनेक प्रकार की व्याधि रहती हैं, जब ये नष्ट होने लगती हैं तो हिकलाना भी नष्ट हो जाता रचनात्मक काम से बालक के मन में रचनात्मक आनन्द की वृ होती है। इससे उसके आचरण में अनेक प्रकार का सुधार होता है यह आचरण का सुधार हिकलाना नष्ट होने की पूर्वावस्था है। य बालक के जीवन में किसी प्रकार का सुधार हो रहा है तो हमें समझन चाहिये कि उसका हिकलाने का रोग भी नष्ट हो जायेगा। हिकलानेवा बालक में चिड़चिड़ापन, दूसरों से मिलने से झिझक, थिकावट क आदत, काम में थकावट, चित्त की एकाग्रता की कमी आदि कमजोरिय होती हैं। उसमें शारीरिक दुर्बलता प्रायः रहती है। जब ये मानसि और शारीरिक व्याधियाँ कम होने लगें तो समझना चाहिये कि हिक लाना भी छूट जायगा। हिकलाना प्रायः इन व्याधियों के आखीर में ही छूटता है।

मैत्री भावना का अभ्यास भी हिकलाने के रोग को नष्ट करता है। बालक जिस व्यक्ति के समक्ष हिकलाता है उसके प्रति उसके अचेतन मन में शत्रु भावना रहती है। यह शत्रु भावना उसके चेतन मन में नहीं आती है। इस भावना के चेतन मन में आने से उसकी नैतिक बुद्धि रोकती है। अतएव इस भावना की आत्म स्वीकृति अथवा रेचन नहीं होता। जब बालक के द्वारा हिकलाना उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास किया जाता है तो पुरानी मानसिक ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और बालक का मन स्वस्थ हो जाता है। इसके लिये उस व्यक्ति को जिससे बोलने पर कोई बालक हिकलाता है बालक

के प्रति विशेष उदारता का भाव दिखलाना चाहिये। यदि द्वेष भावना के मूल कारण पर आघात पहुँच जाय और वह नष्ट हो जाय तो बालक अच्छा हो जाय। जिस व्यक्ति के व्यवहार के कारण बालक के मन में ग्रन्थि उत्पन्न हुई है वह उस ग्रन्थि के नष्ट करने में जितनी सहायता कर सकता है दूसरा व्यक्ति उतनी सहायता नहीं कर सकता। यदि वह भूल स्वीकार करके अपना आचरण बदल दे तो बालक का भारी कल्याण हो। उसके भीतर की अनेक ग्रन्थियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मानसिक चिकित्सा ने मानसिक रोगों के नष्ट करने में शैथिलीकरण की भारी महत्ता दर्शायी है। अपने अंगों को शिथिल करने से न केवल मानसिक स्वास्थ्य लाभ होता है, वरन् शारीरिक स्वास्थ्य का भी लाभ होता है। इससे मनुष्य का नैराश्य भाव नष्ट हो जाता है। बालकों से इसका प्रयोग कराने से बालकों की अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस विधि की प्रक्रिया को ठीक से करना आवश्यक है। शैथिलीकरण जितनी सरलता से छोटे बालक कर सकते हैं प्रौढ़ व्यक्ति नहीं कर पाते।

शैथिलीकरण के लिये पात्र को किसी आराम की जगह लेटा दिया जाता है, उसे सभी प्रकार से निश्चिंत कर दिया जाता है। फिर उससे अपने अंगों को ढीला करने को कहा जाता है। अंगों को एक एक करके ढीला किया जाता है। पहले एक हाथ को, फिर दूसरे हाथ को, फिर पैरों को और फिर सारे बदन को शिथिल करने का निर्देश दिया जाता है। इस प्रकार अपने आपको शिथिल करके पड़े रहने का आदेश देने से कभी-कभी पात्र सो जाता है। इस प्रकार की निद्रा से उसके अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं। शैथिलीकरण का अभ्यास कुशल मानसिक चिकित्सक के समक्ष ही किया जाना उचित है। इससे पात्र

कभी-कभी सम्मोहित अवस्था में हो जाता है। इसका भी उचित लाभ उठाना आवश्यक है।

हिकलाने के रोग का उपचार मानसिक ग्रन्थि का रेचन भी है। आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक रोगों की चिकित्सा मानसिक ग्रन्थि के निवारण के द्वारा करता है। इसके लिये मानसिक ग्रन्थि की खोज रोगी के मनोविश्लेषण से की जाती है। जब मानसिक ग्रन्थि के कारण को जान लिया जाता है तो दबी भावना को चेतना की सतह पर लाया जाता है। यह दबी भावना का रेचन कहलाता है। दबी भावना को चेतना की सतह पर लाने में मनोविश्लेषक को बड़ी कुशलता दिखलानी पड़ती है। एक बालक की दबी भावना किस प्रकार चेतना की सतह पर लाकर नष्ट की गई इसका एक सुन्दर उदाहरण डाक्टर होमरलेन के अपने प्रयोग में, जिसे उन्होंने "टॉक टु पेरेन्ट्स एण्ड टीचर्स" नामक पुस्तक में दिया है, उल्लेखनीय है।

डाक्टर होमरलेन के सामने गणित की अध्यापिका एक ऐसे बालक को लायी जो गणित के काम से जी चुराता था और जो साधारण गणित के सवालों में भूल कर देता था। वह किसी गणित के प्रश्न को देखते ही हिम्मत हार जाता था और किसी न किसी प्रकार काम से जी चुराता था। कभी-कभी उसे इसके कारण सिर दर्द आदि होने लगते थे, कभी पेशाब और पाखाना लग आता था। डाक्टर होमरलेन समझ गये कि बालक के मन में गणित के प्रति निराशा की मानसिक ग्रन्थि उपस्थित है। इस ग्रन्थि का कारण बालक को अकुशल शिक्षक के द्वारा किसी विषय का पढ़ाया जाना होता है। जब कोई बालक इस विषय के काम में थोड़ी भूल करने पर डाँटा-डपटा जाता है, और उससे बार-बार कहा जाता है कि तुम मूर्ख हो, तुम से कुछ नहीं बनेगा तो उसके आन्तरिक मन में कायरता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

के आत्मविश्वास को फिर से उत्पन्न करने के लिये मनोविश्लेषण के साथ इसी भावना को चेतना की सतह पर लाकर उसका रेचन करना पड़ता है।

अतएव, डाक्टर होमरलेन ने बालक का गणित का पढ़ाना अपने हाथ में लिया। इससे बालक बड़ा प्रसन्न हुआ। डाक्टर होमरलेन सभी बालकों के प्रिय थे। वे उनके साथ खूब मिलते-जुलते थे। जब बालक निश्चित समय पर दूसरे दिन डाक्टर होमरलेन के पास आया तो वह बड़े किलोल करते आया। डाक्टर होमरलेन को इस समय अपने सामान्य व्यक्तित्व से काम नहीं लेना था। यदि वे बालक से जैसे मिलते जुलते थे उसी प्रकार मिलते-जुलते तो बालक कुछ गणित के सवाल अवश्य हल कर सकता, पर उसकी मानसिक ग्रन्थि का रेचन न होता। अतएव उसके डर और निराशा के भाव को बालक की मानसिक सतह पर लाने के लिये डाक्टर होमरलेन ने पुराने गणित के शिक्षक का बाना धारण किया। वह बालक के प्रति उसी प्रकार कठोरता दिखाने लगा जिस प्रकार उसका पुराना शिक्षक दिखाता था।

बालक के आते ही उसने रुखाई से कहा—तुम कैसे सूअर हो, आकर बैठो; गणित सीखने आये हो न। फिर उसने हाथ दिखाने को कहा। उसके हाथ गन्दे थे। उससे कहा—जाओ हाथ धो आओ। अब तो इस बालक की पुरानी डर की भावना जाग्रत हो गई। उसे एक आसान सा सवाल दिया। बालक को कोई देर [illegible] करने दिया। बालक उसे न कर सका। तब बालक को अपने पास बुलाया और कहा—"तुम से सवाल नहीं बनेगा [illegible] है [illegible] हूँ। देखो, मैं कैसे हल करता हूँ।"

शिक्षक सवाल करने लगा और बालक उसे देखने लगा। बीच बीच में शिक्षक बालक से कुछ-कुछ पूछता जाता था [illegible] करते शिक्षक बीच बीच में थूक भी देता था। इसके पहले भी [illegible] कर

करते हुए बालक बताता था, फिर और हिम्मत के साथ बताने लगा। शिक्षक की भूलों की संख्या बढ़ती गई, बालक उन्हें सुधारता गया। इसी प्रकार घंटा बज गया। शिक्षक बोला—जाओ आज इसे नहीं करेंगे, कल लाना। बालक मन ही मन समझ गया कि शिक्षक प्रश्नों के कारण जी चुरा रहा है। उसके मन में बात बैठ गई कि शिक्षक भूल करता है। उसका खोया आत्मविश्वास फिर से जाग्रत हो गया। घर वापस जाकर उस दिन रात के समय दस बजे तक वह प्रश्नों के सभी प्रश्न करता रहा। उसकी गणित के प्रति निराशा की मानसिक ग्रन्थि सदा के लिये खुल गई। अब वह गणित में होशियार हो गया।

जिस प्रकार उक्त बालक की गणित की मानसिक ग्रन्थि का निराकरण हुआ, इसी प्रकार दूसरी तरह की मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण किया जा सकता है। बोलते समय डाँटने-डपटने से बोल में जो बालक को कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, वह मानसिक ग्रन्थि रेचन से नष्ट हो सकती है। इसके लिये बालक को डाँटनेवाला व्यक्ति बालक को उसकी भूल अथवा कमियाँ दिखाने का अवसर दे। जैसे जैसे बालक इन कमियों को दिखाने लगता है उसका खोया आत्मविश्वास फिर आ जाता है और उसका हिकलाना नष्ट हो जाता है।

है। जब यह शब्द वह उच्चारण करता है, इसके माने यह होता है कि वह कुछ करना चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह एक शब्द से ही एक सम्पूर्ण वाक्य का भाव प्रकट करता है। शिशु के प्रथम शब्द प्रायः संज्ञाबोधक होते हैं। शनैः शनैः वह क्रियाबोधक शब्दों का प्रयोग करने लगता है। जैसे माँ दो, माँ आ। शैशवावस्था में वह पुनरावृत्ति वाले शब्दों का अधिक प्रयोग करता है। जैसे पापा, दादा, मामा इत्यादि। क्रियाबोधक शब्दों के बाद वह विशेषणों का प्रयोग करने लगता है। पहले मिस मिर्चों के खाने पर रोने लगता था या मुँह टेढ़ा कर देता था उसके लिये 'तीता' शब्द का प्रयोग करता है।

शिक्षण क्रम

शिक्षक का कर्त्तव्य होता है कि विद्यार्थी जिन वस्तुओं का इच्छुक हो उन्हीं को उनके सम्मुख लाये। सर्वप्रथम विद्यार्थी अपने स्वभाव के अनुसार चित्रकला को अधिक पसन्द करता है। शिक्षक को विद्यार्थी के सम्मुख विभिन्न चित्रों को उपस्थित करना चाहिये। ये चित्र ऐसे हों जिन्हें शिशु भलीभाँति जानता हो। जब वह चित्रों को समझने लगे तो उससे उसके विषय में छोटे छोटे प्रश्न पूछे जायँ जिससे वह धीरे-धीरे बोलने की शक्ति प्राप्त करे। समयानुसार प्रकृति-निरीक्षण भी शिशु के लिये आनन्ददायक तथा शिक्षा का आधार होता है। घर के बाहर ले जाकर उसे बताया जा सकता है कि फूल कब खिलते हैं। बालक से जिन प्राकृतिक वस्तुओं को वह देखता है उनके विषय में छोटे-छोटे प्रश्न करने चाहिये। इस तरह से बालक को बहुत सी वस्तुओं के विषय में ज्ञान हो जाता है तथा इसके साथ साथ उसको बोलने की शक्ति भी प्राप्त होती है। जब बालक को कुछ शब्दों का ज्ञान हो जाय तो उन्हें छोटे बालकों तथा जानवरों के विषय की छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाई जानी चाहिये। बालकों से उन कहानियों के

विषय में बीच बीच में प्रश्न करना चाहिये। तथा कभी कभी यही कहानियाँ उनसे भी सुननी चाहिये। इस प्रकार बालक की मानसिक शक्ति की वृद्धि होगी। इस समय बालक को यह कभी अनुभव नहीं होना चाहिये कि उस पर कोई भार लादा जाता है। वे अपने प्रकृति से ही खेल को सर्वप्रिय समझते हैं और शिक्षक उसे खेल ही द्वारा इन बातों का ज्ञान करावे।

अब बालक इस अवस्था को प्राप्त कर चुका तब उसको अध्ययन तथा लिखने का अभ्यास कराया जाय। हमें इस अवस्था में हमेशा पहले पढ़ना उसके बाद लिखना सिखाना चाहिये। चित्रों द्वारा पढ़ने में सर्वदा सुविधा होती है। पढ़ने के पश्चात् लिखना भी प्रारम्भ हो जाता है।

वर्तमान युग में मनोवैज्ञानिक मनीषियों तथा शिक्षण कला के विशेषज्ञों ने शिक्षा की दो पद्धतियाँ निर्धारित की हैं। विश्लेषणात्मक या अवयवयुक्त तथा संयोजक्या संप्रति भारतवर्ष में संश्लेषणात्मक पद्धति ही लाभदायक समझी जाती है।

संयोजक विधि

संयोजक पद्धति में सर्वप्रथम अंग का ज्ञान तथा शनैः शनैः सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान कराया जाता है। हिन्दी भाषा के लगभग सभी वर्ण एक गोले (O) तथा डंडे (I) से मिलकर बने हैं। बालक को पहले गोले तथा डंडे को बनाना सिखाना चाहिये। उसके मदद से वह सभी अक्षरों को बना सकता है। जैसे यदि हम दो डंडे खींच कर एक गोला लगा दें तो 'ग' हो जायगा। यदि गोले से लेकर दूसरे डंडे को मिला दिया जाय तो 'म' हो जायगा तथा यदि ऊपर वाली रेखा के बीच का भाग मिटा दिया जाय तो 'थ' हो जायगा। इसमें और कटाव ही जाय तो 'भ' हो जायगा। फिर एक डंडा खींचकर उसके बीच से बाएँ हाथ गोला लगा दिया जाय तो 'क' हो जायगा। इसका

पेट फाड़ दिया जाय तो 'व' हो जायगा और उसमें बाँह लटका दिया जाय तो 'क' हो जायगा। एक डंडे पर दूसरा डंडा लगाकर अन्त में गोला लगा देने से 'न' बन जायगा। इसी प्रकार हम गोले तथा डंडे की मदद से हर एक अक्षर लिख सकते हैं।

हिन्दी भाषा के वर्णों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहला कर्णकटु जैसे क ख ग घ ङ ट ठ ड ढ ण आदि आदि। दूसरा कर्णप्रिय जैसे च छ ज झ ञ त थ द घ न आदि आदि। परन्तु जब हमें इस पद्धति के अनुसार बालकों को ज्ञान कराना होगा तो हम इन वर्णों को बनावट के सुविधानुसार रक्खेंगे क्योंकि बालकों को इस पद्धति से ज्यादा सफलता मिल सकती है।

जब बालकों को अक्षरों का पूरा ज्ञान हो जावेगा तो उन्हें मात्रा सिखाई जानी चाहिये। मात्रा सीखने के पश्चात् इस बात का हमेशा ध्यान रखना होगा कि बच्चों को सबसे पहले उन शब्दों को सिखाया जाय जिनसे वे भली भाँति परिचित हों तथा उनकी बनावट में बालक को कम से कम नई वस्तु सीखनी पड़े जैसे मा, मामा, राम, रमा, काका, दादा आदि आदि। इन शब्दों में एक डंडा लगाने से ही काम चल जावेगा। बालकों को अपना नाम लिखने की बड़ी प्रबल इच्छा होती है और यदि उन्हें उपरोक्त विधि के अनुसार नाम लिखना सिखा दिया जाय तो वे बहुत जल्द सीख जाँय तथा कभी भी न भूलें।

बालकों को शब्दों का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उनको छोटे छोटे वाक्य बनाना सीखना चाहिये। वाक्य बनाने में इस बात का हमें ध्यान रखना चाहिये कि जो वाक्य लड़के प्रायः प्रयोग करते हों या जिस वाक्य में कोई नई वस्तु न हो उसे पहले लिखना बताना चाहिये जैसे "राम एक लड़का है"।

इस पद्धति के अनुसार बालकों को पढ़ाने में पहले लिखना उसके बाद पढ़ना सिखाया जाता है। पहले अक्षरों के भाग फिर पूरे अक्षर,

फिर मात्रा इसके बाद शब्द तथा वाक्य बनाना बतलाना पड़ता है। बालकों को लिखने तथा पढ़ने में खूब अभ्यास कराना आवश्यक है।

विश्लेषणात्मक विधि

शिक्षा की दूसरी पद्धति जो कि विदेशों में तथा अँगरेजी पढ़ाने के लिये हमारे यहाँ भी प्रचलित है वह विश्लेषणात्मक या व्यवहित पद्धति कहलाती है। यह पद्धति पहले पद्धति के ठीक विपरीत है। इस पद्धति के अनुसार पहले सम्पूर्ण का ज्ञान कराया जाता है फिर इसके बाद उसके प्रत्येक भाग का ज्ञान कराया जाता है। पहले हम लोग उन वाक्यों को लेते हैं जो हमारे प्रत्येक दिन के व्यवहार में प्रयोग किये जाते हैं। फिर शब्दों का ज्ञान कराया जाता है। एक बार में एक शब्द से अधिक का ज्ञान कराने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। शब्दों का ज्ञान हो जाने के पश्चात् मात्राओं तथा अक्षरों का ज्ञान बालकों को कराना पड़ता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित वाक्य लिये जा सकते हैं।

(१) राम एक लड़का है।

तारा एक लड़की है।

इन दोनों वाक्यों में 'एक' और 'है' का प्रयोग हुआ है इससे बालक इन दो शब्दों को समझ जायेगा। परन्तु पहले वाक्य में 'राम' और 'लड़का' ऐसे शब्द हैं जिनकी पुनरावृत्ति दूसरे वाक्य में नहीं हुई है। दूसरे वाक्य में 'तारा' तथा 'लड़की' ऐसे शब्द हैं जो नये हैं।

२. राम का एक कुत्ता है।

तारा की एक बिल्ली है।

इन वाक्यों में 'का' और 'कुत्ता' पहले तथा 'की' और 'बिल्ली' दूसरे में ऐसे शब्द हैं जिनकी पुनरावृत्ति नहीं हुई है। बाकी शब्दों की पुनरावृत्ति हो चुकी है अतएव वे शब्द बालक पहचान कर बोल जायगा। प्रत्येक बार कुछ नये शब्द और कुछ पुराने रखे जाते हैं।

(३) राम का कुत्ता लाल है।
तारा की बिल्ली काली है।

इन वाक्यों में 'लाल' और 'काली' ये ही ऐसे शब्द हैं जो पहले नहीं बताये गये हैं। बाकी के शब्द बालक पहले पढ़ चुका है अतएव उन शब्दों के पढ़ने में उसे कठिनाई न होगी।

(४) राम का लाल कुत्ता बड़ा है।
तारा की काली बिल्ली छोटी है।

इन दोनों वाक्यों में 'बड़ा' और 'छोटी' शब्द ऐसे रह गये हैं जिनकी पुनरावृत्ति नहीं हुई। इस तरह से इस पद्धति के अनुसार बड़े से बड़े वाक्यों को भी शनैःशनैः बालकों को सिखाया जा सकता है। जिनमें बालकों को एक से अधिक नया शब्द सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ सकती।

इस प्रणाली के अनुसार हमें पहले बालकों को पढ़ाना सिखाना होगा। जब वे पढ़ने में अभ्यस्त हो जावेंगे तब उन्हें लिखने के ढंग में अभ्यस्त कराना होगा।

जो वाक्य पढ़ाये जाँय उनके सम्बन्ध में चित्र भी उपस्थित किये जाँय। इससे वाक्य का पढ़ना सरल हो जाता है। जैसे पहले उदाहरण के दोनों वाक्यों को समझाने के लिये एक लड़के तथा एक लड़की का चित्र होना चाहिये। दूसरे उदाहरण के लिये एक लड़का कुत्ते के साथ होना चाहिये तथा एक लड़की बिल्ली के साथ होनी चाहिये। इस प्रकार जो वाक्य पढ़ाना हो उसके लिये मनोहर तथा पूरा चित्र होना चाहिये, जिससे बालक को चित्र दिखाने से वह सरलतापूर्वक समझ सके तथा उन चित्रों के बारे में प्रश्न करने पर उनका उत्तर दे सके।

जिन शब्दों को बालक जानता है उन्हीं शब्दों को लेकर बालकों से वाक्यों में प्रयोग कराना चाहिये। इसके बाद शब्दों का ज्ञान कराना चाहिये।

यह प्रणाली यदि ठीक तरह से काम में लाई जाय तो बालकों को अत्यन्त सुविधा हो जायेगी। वास्तव में यह प्रणाली युवकों को साक्षर बनाने में सबसे उत्तम हुई है। हमारे यहाँ आजकल किताबों में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें बालक सरलतापूर्वक नहीं समझ सकते। ऐसे शब्द एक ही पाठ में प्रायः बहुत से आ जाते हैं। इससे बालक के लिये पाठ अरुचिकर हो जाता है। यह विधि मध्यप्रान्त में सफलता के साथ काम में लाई जा रही है।

संयोजक विधि द्वारा भाषा शिक्षा

भाषा शिक्षण को दूसरी विधि संयोजक विधि है

बाल कक्षा में पढ़नेवाले बालकों की अवस्था प्रायः पाँच वर्ष से लेकर सात वर्ष तक की होती है। बालक की यह अवस्था अत्यत सुकुमार, कोमल तथा क्रीडायुक्त होती है। वह कोई ऐसी वस्तु लिखना नहीं पसंद करता जो उसको रुचिकर तथा आनन्ददायक न हो। वह केवल ऐसी ही वस्तुओं में अपना मन रमाता है जो अति सुगम तथा प्रत्यक्ष हों। उसको वही वस्तुएँ बताना हितकर है जो अपनी ओर उसके मन को आकर्षित करें और उसके मस्तिष्क में सुगमता से बैठ जायँ। वह कदापि अपना मन उस ओर नहीं ले जायगा जो वस्तुएँ उसकी बुद्धि तथा क्षमता के प्रतिकूल होंगी। इस अवस्था में उसे लिखना तथा पढ़ना तो एक अत्यन्त विकट समस्या है। इसकी कोई सुगम दवा नहीं दिखलाई पड़ रही है। शिक्षा सुधारक व्यक्ति इस बात के लिये अत्यन्त चिन्तित तथा विचारवान हैं कि छोटे बालकों की शिक्षा के लिये कौन-सा ऐसा उपचार ढूँढ निकाला जाय जिसके सहारे वे सुगमता से लिखना-पढ़ना सीख जायँ, उस उपचार में उनका मन रमे तथा उनके मस्तिष्क में उससे कोई आघात न पहुँचे। संसार के विद्वान गण इसी बालकक्षा की शिक्षा पद्धति के ढूँढ निकालने में व्यस्त हैं। वे एक ऐसा सरल एवं सुबोध नियम निकालना चाहते हैं जो सुकुमार वय के

शिशुओं की शिक्षा पद्धति के अनुकूल हो और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र लिखना, पढ़ना तथा हिसाब लगाना सिखाया जा सके।

बहुधा शिशु कक्षा के छात्रों को प्रारम्भ में अध्यापक वर्णमाला का ज्ञान कराते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे अ अक्षर को सिखाते हैं तब उस अक्षर से प्रारम्भ होनेवाले दो चार शब्द ऐसे उनके सामने रखते हैं जिसके सम्बन्ध में वे पहले ही से जानकारी रखते हैं जैसे:—अजगर, अनार, अमरूद इत्यादि शब्द। इन्हीं शब्दों को वे बारबार लड़कों को रटाते हैं और ये शब्द जब बालकों को अभ्यस्त हो जाते हैं तब उन्हें 'अ' शब्द का बोध हो जाता है। इसी प्रकार अन्य स्वराक्षरों का ज्ञान कराया जाता है। यही उपर्युक्त नियम व्यंजन अक्षरों के सिखाने में कारगर होता है। जैसे 'क' सिखाना हुआ तो बालकों को 'क' के माने कबूतर बताया जाता है और उसी शब्द का बार-बार उन्हें कण्ठस्थ कराया जाता है। इसी प्रकार 'ख' माने खरगोश तथा 'ग' माने गधा शब्द बताकर बालकों को वर्णमाला का ज्ञान कराया जाता है। नीचे स्वर तथा व्यञ्जन अक्षरों का क्रम दिया जाता है:—

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यञ्जन— क, ख, ग, घ, ङ
च, छ, ज, झ, ञ
ट, ठ, ड, ढ, ण
त, थ, द, ध, न
प, फ, ब, भ, म
य, र, ल, व,
श, ष, स, ह,
क्ष, त्र, ज्ञ

उपर्युक्त स्वर तथा व्यञ्जन अक्षरों का क्रम वैज्ञानिक आधार पर संस्कृत भाषा के जाननेवालों का बनाया हुआ है। यह वर्णमाला का

बालकों के मुँह से निकल आते हैं। अतएव ग, म, प अक्षर पा
बालकों को सिखाये जायँ तो अत्युत्तम हो।

मनोवैज्ञानिक विधि से काम लेने से बालकों के मन में नये
संस्कार में विशेष कठिनाइयों के पड़ने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती
बहुत से नियम ऐसे निकाले जा चुके हैं जो छोटे बच्चों की स्वाभावि
प्रगति के अनुकूल हैं। कोई ऐसा नियम का अनुसरण करना पड़े
जिससे शिशु कक्षा के छात्र शनैः-शनैः सीखें और उनके सीखने
उनकी कोमल भावनाओं तथा कल्पना पर कोई ठेस भी न पहुँचे
जिस प्रकार से छोटे बालक लड़कपन में लुढ़कते, गिरते तथा उठते
धीरे-धीरे खड़ा होना सीख लेते हैं उसी प्रकार वे धीरे-धीरे अपने आप
अक्षरों के उच्चारण तथा लिखने का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। बालक
अपने आप पहले माता के शब्द सुनकर तुतली भाषा में बोलने का
प्रयत्न करता है, और प्रयत्न करते-करते कुछ सयाना होकर उन्हीं
शब्दों को शुद्ध शुद्ध बोलने लगता है। वह अपनी स्वाभाविक बुद्धि से
हाथ पैर हिलाना तथा कार्य करना भी सीख लेता है। इन वस्तुओं के
सीखने में किसी विशेष शिक्षाविधि का उपयोग नहीं किया जाता। कुछ
तो अपने आप आ जाती हैं और कुछ उनकी मातायें हाथ के इशारे
से सिखा देती हैं। इस प्रकार से बालकों की कोमल वृत्तियाँ दबायी
नहीं जातीं। यही उपचार शिशु-कक्षा के छात्रों के अक्षर ज्ञान के विषय
में किया जाना चाहिये।

इन अध्यापकों को चाहिये कि वे छोटे बच्चों की प्रारंभिक
बोलियों के शब्दों की एक सूची बनावें। ये शब्द बालकों के खेलने,
खाने तथा पहनने की वस्तुओं से सम्बन्ध रखें। इन्हीं शब्दों को यदि
अध्यापक कक्षा में बालकों को सिखायेगा तो बालक इनको बहुत सीख
लेंगे। इन शब्दों के सीखने में उनकी रुचि होगी। क्योंकि उनके
जीवन में इन शब्दों का सम्बन्ध रहा है। उन्हीं पक्षियों तथा पशुओं

के नाम उन्हें लिखने-पढ़ने सिखाये जायँ जिनको बालक प्रतिदिन देखते तथा सुनते हैं। अध्यापक को चाहिये जब कोई शब्द आरम्भ में बालकों को सिखावें तो वह सरल शब्दों तथा अक्षरों का प्रयोग करे।

जब हमारा ध्यान अक्षरों की ओर जाता है तो सबसे सरल अक्षर बोलने तथा लिखने में हमें 'प' प्रतीत होता है। इसकी सहायता से हम 'म' अक्षर भी सुगमता से बोल तथा लिख सकते हैं। फिर सरल अक्षर 'ग' है। अतः जब अध्यापक श्यामपट पर पग शब्द लिख देता है और कक्षा के सामने इसका उच्चारण करता है तो यह शब्द छात्रों की समझ में आसानी से आ जाता है क्योंकि इस प्रकार के शब्द से वे परिचित हैं। अध्यापक को चाहिये कि वह प और ग को अलग-अलग लिखकर छात्रों से उसका उच्चारण कई बार करावे फिर उन दोनों अक्षरों को साथ लिखकर पुनः उनका संयुक्त उच्चारण सब बालकों से साथ साथ करावे। फिर एक बालक से उसका उच्चारण करावे। इस प्रकार से जो पुराने तथा तीव्र बुद्धि के बालक होंगे इस शब्द को शीघ्र सीख लेंगे और वे फिर कमज़ोर बालकों को जो साथ बैठे हैं सिखा देंगे। इतना कार्य्य समाप्त करने के पश्चात् बालकों को दस-पन्द्रह मिनट खेलने-कूदने की छुट्टी दे दी जाय जिससे उनका मन बहल जाय और उनकी थकावट भी दूर हो जाय। दूसरे दिन यही शब्द अध्यापक फिर श्यामपट पर लिखकर बालकों से उच्चारण करावे, और जब वे ठीक ठीक उसका उच्चारण कर लें तो अध्यापक उनका हाथ पकड़ कर इस शब्द को उनकी पट्टी पर लिखा दे। इस प्रकार का अभ्यास कराने से उनको लिखने का भी ढंग आ जायगा। फिर उनको दूसरे दिन नया अक्षर सिखाया जाय जिससे उनकी रुचि बढ़ती जाय। इसे नये अक्षर के अभ्यास से पुराना अक्षर भी अभ्यस्त हो जायगा।

दूसरा सुगम अक्षर म है। इसको बालक शीघ्र सीख लेंगे क्योंकि इसकी आकृति ग से मिलती जुलती है। ग की दोनों खड़ी लकीरों को बीच में मिला देने से म की आकृति बन जायगी। अब अध्यापक को चाहिए कि वह दूसरे दिन के शिक्षण में श्यामपट पर म ग शब्द लिख दे, फिर दोनों अक्षरों को अलग-अलग पाइन्टर द्वारा बालकों कहलावे। दोनों अक्षरों को अलग-अलग कहने के पश्चात् वह दोनों अक्षरों को एक साथ मिलाकर छात्रों से कहलावे और इन शब्दों अपनी-अपनी पटरी पर लिखवा दे। फिर गग और मग दोनों शब्दों साथ लिखकर अलग-अलग बालकों से कहलावे जिससे पिछले और नवीन पाठों की आवृत्ति तथा अभ्यास ठीक ठीक पुनः हो जाय। इसके बाद म और न मिलाकर श्यामपट पर दूसरा शब्द 'मन' लिख देना चाहिये क्योंकि न अक्षर की आकृति म अक्षर से बिल्कुल मिलती जुलती है। अतः न अक्षर बालकों के लिये एक नया चिन्ह न होकर म का ही कुछ आकार प्रदर्शन करनेवाला अक्षर होगा। अब म और न को बारी-बारी से दिखाकर बालकों से इनका उच्चारण कराना चाहिये। जब वे ठीक-ठीक उच्चारण कर लें तब इस नये शब्द को बालकों की पटरी पर लिखा देना चाहिये। जब बालक न अक्षर को ठीक-ठीक लिखना सीख लें और शुद्ध शुद्ध उनका उच्चारण करने लगें तब अध्यापक को चाहिये कि वह अब श्यामपट पर तीनों अक्षरों, म, ग और न को अलग-अलग लिख दे और उनका उच्चारण बालकों से अलग-अलग ठीक प्रकार से करा ले। फिर इन तीनों अक्षरों को एक में मिलाकर श्यामपट पर लिखकर अध्यापक बालकों से प्रश्न करे कि अब ये तीनों अक्षर मिलकर क्या कहलायेंगे। जब लड़के इस शब्द का ठीक ठीक उच्चारण कर लें तब इस शब्द को उनकी पटरी पर लिखा देना चाहिये। अध्यापक प्रत्येक बालक की पटरी देख ले कि वह ठीक से लिखा है कि नहीं। शिक्षक को कभी निरर्थक शब्द नहीं पढ़ाना

चाहिये। वह उसी शब्द को पढ़ावे जिसका कुछ अर्थ निकलता हो और वह अर्थ छोटे बच्चों की समझ में सुगमता से आ जाय।

अब दूसरे दिन अध्यापक को चाहिये कि वह श्यामपट पर पुनः पग, मग तथा मन शब्द को लिखकर प्रत्येक बालक से पूछे। जब बालक ठीक-ठीक बता दें तब अध्यापक को चाहिये कि मन शब्द को श्यामपट पर लिखकर अलग-अलग म और न को पूछे फिर दोनों को एक साथ मिलाकर पूछे। लड़के शीघ्र मन शब्द को बता देंगे। इसके बाद अध्यापक इन शब्दों का बालकों से श्रुतलेख लिखवावे और प्रत्येक बालक के पास जाकर वह देखे कि ठीक से लिख लिया है कि नहीं। यदि इस कार्य्य के करने में शिक्षक को अधिक समय लगे तो वह उसकी चिन्ता न करे क्योंकि जो कुछ बालकों को पढ़ाया तथा सिखाया जाय वह सुचारु रूप से पढ़ाया जाय। इस प्रकार की शिक्षा से बालक शीघ्र पढ़ना लिखना जान लेते हैं और उनके मस्तिष्क पर भारी बोझा भी नहीं पड़ता।

अब म, प, न, ग इत्यादि अक्षर का ज्ञान कराने के पश्चात् अध्यापक को चाहिये कि वह श्यामपट पर अक्षरों के नीचे अ अक्षर को लिख दे। और फिर आ को लिखे। अ की आकृति ग से मिलती जुलती है। अब अध्यापक उन अक्षरों के साथ आग, आप, आन तथा आम शब्द लिख दे। इस प्रकार अ अक्षर की पूरी आकृति बालकों के हृदय में जम जायगी। अब बारी-बारी से टिएक इन शब्दों पर अलग-अलग पाइन्टर रखकर बालकों से पूछे और उनको उनकी पटरियों पर लिखवावे। इस तरह से बालकों को अ तथा आ का पूरा ज्ञान हो जायगा। इस स्थान पर पहुँचते पहुँचते बालकों से खूब लिखवाना तथा पढ़ाना चाहिये और कभी कभी कम पढ़ने वाले छात्र को बुलाकर उससे इन्हीं शब्दों को श्यामपट पर लिखवाना चाहिये। यह क्रम कई दिन तक चलना चाहिये। और दिन-प्रतिदिन इन्हीं शब्दों के आधार पर

नये-नये अर्थ लिखवाये तथा पढ़ाये जाना चाहिये जिससे बालकों को बहुत से शब्दसमूहों का ज्ञान हो जाय।

इस प्रकार से बालक दो मास के भीतर-भीतर सब अक्षरों को अच्छी तरह सीख लेंगे। प्रत्येक पाठ में नीचे लिखे ढंग से कार्यक्रम बनाना चाहिये:—

(१) *श्यामपट पर लिखकर बालकों से अक्षर पढ़वाना।*

(२) श्रुतलेख द्वारा प्रत्येक अक्षर का अभ्यास कराना।

(३) शब्दों का श्यामपट पर लिखना और बालकों से पढ़वाना।

(४) श्रुतलेख द्वारा शब्दों को लिखवाना।

इस प्रकार लड़के थोड़े दिनों में सादे मिलावट के शब्दों का लिखना-पढ़ना सीख लेंगे और आगे चलकर तीसरे चौथे सप्ताह में वे छोटे-मोटे सरल वाक्य भी पढ़ने लगेंगे। अब दूसरे महीने के अंत तक लड़के इस प्रकार के वाक्य अच्छी तरह लिख-पढ़ लेंगे।

कमल पर रख।
आग मत पकड़।
टमटम पर चढ़।
इधर मत आ।
गड़बड़ मत कर।
सच सच कह।
मान न कर।
झूठ मत बोल।

मात्रा का सिखाना

मात्रा सिखाने से पहले अध्यापक को सर्वप्रथम इस बात का ध्यान कर लेना चाहिये कि पुस्तक में स्वर तथा व्यञ्जन अक्षरों का क्रम कैसा है।

स्वर तथा व्यञ्जन का ज्ञान करा देने के बाद मात्रा ज्ञान का समय

जाता है। मात्रा सिखाने के लिये अध्यापक को चाहिये कि वह सर्व-प्रथम आ अक्षर को श्यामपट पर लिख दे और उसके साथ ही ग अक्षर को भी लिख दे। अब आ अक्षर को अध्यापक बालकों से बारी-बारी कहलावे। फिर वह श्यामपट पर। इस प्रकार की एक पाई खींच दे और उसका उच्चारण उच्च स्वर से कहलावे। फिर आ अक्षर के सामने (।) इस खड़ी पाई को रखकर दोनों अक्षरों को साथ उच्च स्वर से कहलावे। तब बालकों को यह ज्ञान हो जायगा कि आ का यह नवीन उच्चारण इस खड़ी पाई के आगे रखने के कारण बदल गया। इस बात की पुष्टि के लिये अध्यापक को चाहिये कि वह दो-चार अन्य अक्षरों के सामने इस खड़ी पाई को रखकर उसका उच्चारण जोर से करावे जैसे गा, मा, पा, का, खा इत्यादि। तब बालक को ज्ञात हो जायगा कि यह खड़ी पाई जिस अक्षर के सामने रख दी जायगी उसका उच्चारण आ की तरह उच्च स्वर से किया जायगा। अब अध्यापक को चाहिये कि वह आ की मात्रा के अभ्यास के लिये दो चार मिले हुए शब्द जैसे—आम खा, पान ला, बाट पर जा इत्यादि शब्द श्याम-पट पर लिख दे और उसको बारी-बारी से एक-एक लड़के से पढ़वा ले। फिर उन्हीं शब्दों को बालकों को पटरियों पर लिखवा दे। दो-चार दिन इसी प्रकार के शब्द वह भुतखेल के रूप में कक्षा में बोले। इस प्रकार बालकों को आ के मात्रा का पूरा-पूरा ज्ञान हो जायगा।

इसी प्रकार इ, ई, उ, ऊ, इत्यादि मात्राओं का ज्ञान सुगमता से बालकों को कराया जा सकता है और थोड़े ही समय में बालक 'किताब' के शब्दों को पढ़ना आरम्भ कर सकता है।

जो अध्यापक बाल कक्षा के बालकों को पढ़ावे वह निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दे:—

(१) अध्यापक जो कुछ कहे अथवा लिखे वह साफ-साफ बोले तथा लिखे।

(३) शब्दों को लिखते हुए अध्यापक इस बात का विशेष ध्यान रक्खे कि दो शब्दों के बीच काफी स्थान छूट रहा है कि नहीं। प्रत्येक शब्द के बीच में पाव इंच की जगह छूटी रहे।

(३) पहले पहल बालकों को उनकी इच्छानुसार किस ढंग का अक्षर लिखना चाहें लिखने देना चाहिये।

(४) इस अवस्था में जितने शब्द बोले तथा लिखाये जायँ वे बिल्कुल सरल और सुबोध हों और साथ ही साथ बालकों के परिचित शब्द हों जिससे बालक इन शब्दों को सरलता से समझ जायँ। जिन वस्तुओं का कक्षा में नाम लिया जाय वे बालक के जीवन तथा घर से सम्बन्ध रखनेवाली हों। यदि हम भारतवर्ष के बालकों के सामने नीलगाय, कंगारू तथा शुतुरमुर्ग का नाम लें तो वे इन शब्दों को बिलकुल नहीं समझेंगे क्योंकि वे शब्द उनके लिये बिल्कुल नये हैं। अतः ऐसे नाम को उन्हें न बताना चाहिये। उनके सामने गाय, बैल, कुत्ता, बिल्ली, बकरी, पेड़, मटर, चना इत्यादि शब्दों को नामावली रखनी चाहिये जिससे वे पूर्ण परिचित हैं।

(५) जिस नये शब्द को अध्यापक बालकों को बताना चाहे उसके विषय में प्रारम्भ में ही बातचीत कक्षा में हो जानी चाहिये।

(६) अध्यापक को वर्ण विन्यास पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उसको चाहिये कि वह स, श और ष का अन्तर बालकों को ठीक-ठीक समझा दे। ह्रस्व तथा दीर्घ शब्दों को बालक भली भाँति परख लें ताकि उनके पढ़ने तथा लिखने में अशुद्धि न करें।

(७) प्रारम्भ में बालकों को ऐसे शब्द सिखाये जायँ जिनका मिश्रण दो अथवा तीन अक्षरों से अधिक न हो। यह क्रम प्रथम वर्ष के अन्त तक चलना चाहिये।

(८) बड़े मिश्रित शब्द दूसरी कक्षा में पढ़ाये जायँ।

(६) प्रथम पाँच-छः महीने तक बालकों को किताब से न पढ़ाना चाहिये। इसके बाद उनको बाल-कथा की पहली पुस्तक पढ़ने को दी जाय।

आदर्श विधि

आदर्श विधि वह कही जा सकती है जिसमें सबसे अधिक स्वाभाविकता पाई जाती है। इसमें उपयुक्त दोनों विधियों का उचित सम्मिश्रण रहता है। विश्लेषणात्मक विधि से बालक कुछ वाक्यों को पढ़ना सीख जाते हैं पर जब उन्हें नये शब्दों को पढ़ना पड़ता है तो वे अर्थ पर ही ध्यान रखते हैं, अतएव लिखित शब्द को ठीक-ठीक नहीं पढ़ते। संश्लेषण विधि से देरी में बालक सीखता है और कभी-कभी उसकी रुचि भी मन्द हो जाती है, पर निरंतर लगे रहने पर बालक पढ़ना ठीक से सीख जाता है। अतएव दोनों विधियों से आवश्यकता के अनुसार काम लेना चाहिये। नीचे लेखक की चार वर्ष की बालिका के पढ़ने का एक प्रयोग दिया गया है जिसमें लेखक ने दोनों विधियों से काम लिया था।

अल्पवयस्क बालकों की शिक्षा का प्रयोग

शान्ति चार वर्ष की अवस्था से ही पढ़ने के लिये बड़ी उत्सुक रहती थी। जब कभी उसके पिता पढ़ने बैठते तो वह उनके पास पुस्तक ले आती और उसे पढ़ने के लिये आग्रह करती। कभी-कभी वह किसी पुस्तक को उठाकर कुछ पढ़ने का ढोंग करने लगती। कभी किसी का पत्र उठाकर वह देखने लग जाती और [illegible] लगती। इस तरह शान्ति की [illegible] होने लगी।

एक दिन शान्ति [illegible]

[illegible]

[illegible]

लिखा और कहा "मामा को म"। ये दोनों अक्षर ही कई बार दुहराये गये। दूसरे दिन शान्ति फिर आ गई और आगे पढ़ाने के लिये बाध्य करने लगी। इस पर "ग" लिखा गया और कहा "गय्या को ग"। ग, म का पहले दिन के समान अभ्यास कराया गया। म के बाद झ (झाड़ू को झ) बताया गया। इन अक्षरों का ज्ञान यह जानकर नहीं कराया गया था कि वे बच्चे को याद रहेंगे। एक दिन एक पुस्तक के ऊपर बड़े-बड़े टाइप में "ग" अक्षर शान्ति को दिखाई पड़ गया। उसने तुरन्त कहा "गय्या को ग"। इससे उसके पिता को एक नई दृष्टि प्राप्त हुई। बालिका "ग, म, भ, झ" अक्षरों को लिख नहीं सकती थी, अतएव वे बालकों को इन अक्षरों का पढ़वाना व्यर्थ समझते थे। साधारणतः जब बालक पाठशाला में जाता है तो उसे अक्षर लिखने के लिये अभ्यास कराया जाता है। जब बालक को पर्याप्त अक्षर ज्ञान हो जाता है तो उसे दो या तीन अक्षरों से मिलकर बने शब्दों का ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् हमारी साधारण शिक्षा-पद्धति में "लिखना" पढ़ना सीखने का आधार बनता है। इसी धारणा से प्रभावित होने के कारण शान्ति का पिता बालक के अक्षर उच्चारण को निरर्थक समझता था। किन्तु जब इस प्रकार के संस्कारों का महत्त्व बालक की स्मृति पर प्रत्यक्ष देखा गया तो उसे विचार आया कि बालक को लिखने के द्वारा नहीं वरन् अक्षर ज्ञान सीधे ही कराया जा सकता है।

शान्ति से उसे पहले सिखाये सभी अक्षर लिखकर पूछे गये। वे उसे सभी याद थे। इसके उपरान्त, "ब", "प", "क", "र", "ल", "छ", "ड" अक्षर एक ही दिन बता दिये गये। इन्हें उनसे सम्बन्धित वस्तुओं के साथ उन्हें बताया गया। "बऊ" को "ब", "पपा को प", "कका को क", "रामू को र", "लाल को ल", "छुरी को छ", "डाक्टर को ड" इस तरह भिन्न भिन्न अक्षरों को बताया गया। पीछे घ, फ, ध, झ, को सिखाया गया। इसके पश्चात् "ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़"

चर बताये गये। इन सभी अक्षरों को शान्ति ने पाँच-छः दिन में पहचानना सीख लिया।

इतना करने पर दूसरे अक्षर नहीं सिखाये गये। पर शब्दों को चिन्हा बताया गया। "बा", "का", "पा" का ज्ञान कराया गया। जैसे बाबा, काका, पापा, "दादा", "मामा" आदि दीर्घ "आ" की मात्रा का ज्ञान कराया गया। "आ" की मात्रा सिखाने के लिये कहा गया कि जब किसी अक्षर को एक डंडा मारते हैं "तो वह चिल्ला उठता है" "क", चिल्लाकर कहता है "का", "ब" कहता है "बा"। पीछे "ई" की मात्रा का ज्ञान कराने के लिये कहा कि जब काका को घूँघट लगा दिया जाता है तो "काकी" हो जाता है। इसी तरह बाबा "बाबी" बन जाता; "दादा", "दादी" बन जाता; "मामा", "मामी" बन जाता है। इसी तरह उ और ऊ की मात्रा का भी अभ्यास कराया गया। इस अभ्यास के साथ ही साथ बाकी सब अक्षर भी सिखा दिये गये।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस समय तक बालिका को लिखने का कुछ भी अभ्यास नहीं था। उसने १५ दिन में ही शब्दों का पढ़ना सीख लिया। यदि उसके लिखने के लिये उसका पढ़ना रोक दिया जाता तो शान्ति के पढ़ना सीखने में एक साल की देरी होती, क्योंकि इस समय बालिका में लिखने की शक्ति का प्रादुर्भाव होना सम्भव ही न था। बालक की लिखने की शक्ति उसके हाथ की पेशियों और नाड़ियों के नियन्त्रण की शक्ति के विकास पर निर्भर करती है। यह नियंत्रण पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व इतना नहीं होता कि बालक अक्षर लिख सके। शब्दों और शब्दों के पढ़ने के लिये इस प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती। अतएव जिन अक्षरों और शब्दों को बालक लिख नहीं सकता है उन्हें वह पढ़ सकता है।

जब शान्ति ने कुछ शब्दों का पढ़ना सीख लिया तो उसे "खेल

समाधा" नामक एक पुस्तक ला दी गई। पुस्तक में सुन्दर कवि थीं। पुस्तक की भाषा सरल थी। उसमें बालकों के मनोरंजन के लि चित्र थे और उनके उपयुक्त वार्तायें थीं। बालिका को एक-एक उसमें लिखी सभी कवितायें रटा दी गई। रटाते समय उसे अक्ष पहचानने का अभ्यास कराया गया। इस प्रकार शान्ति पुस्तक पढ़ना सीख गई। जब शान्ति कविता पढ़ना सीखती थी उसी सम उसे "आ" और "ई" के अतिरिक्त सभी मात्राओं का ज्ञान अपने आप हो गया।

जब शान्ति उस पुस्तक के पढ़ने में पूरी अभ्यस्त हो गई तब उसे एक-एक मात्रा के स्वरूप का ज्ञान कराया गया और उनके विशेष उच्चारण को समझाया गया।

इसके बाद "हँसो और हँसाओ" नामक पुस्तक को पढ़ने का अभ्यास कराया गया और "बालनीति कथा" की कुछ कहानियों को पढ़ाया गया। अब शान्ति धीरे-धीरे अपने-आप पढ़ने लगी। पर अभी भी वह अपने-आप सब अक्षर नहीं लिख सकती थी। शान्ति स्कूल में भी जाती थी। उसकी अध्यापिका यह देखकर आश्चर्य करती थी कि इस बालिका को अक्षर लिखने की योग्यता तो कुछ भी नहीं है पर वह पहली पोथी भी पढ़ लेती है। जब बालिका को पुस्तक पढ़ने की योग्यता प्राप्त हो गई तो अक्षर का लिखना भी शीघ्रता से आने लगा। थोड़े ही दिनों में वह अक्षरों का लिखना तो दूर रहा शब्दों और वाक्यों को लिखने लगी।

पर यह योग्यता एक साल में आई। वह अब किसी भी वाक्य की नकल कर लेती है। शान्ति को नई पुस्तक पाने और उसे पढ़ने में भारी रुचि है। वह दीवालों पर लिखे विज्ञापन के पढ़ने की भी चेष्टा करती है। इस तरह उसकी पढ़ने की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है।

यहाँ शिशु के पढ़ना सीखने के क्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। उपर्युक्त बालक की भाषा-शिक्षा का क्रम निम्नलिखित है:—

(१) अक्षर की पहचान।
(२) शब्दों की पहचान।
(३) कविताओं का पढ़ना सिखाना।
(४) कविता याद कराना।
(५) सार्थक वाक्य पढ़ना।
(६) छोटी-छोटी कहानियाँ पढ़ना।

लिखने की शिक्षा—
(१) अक्षर लिखना सिखाना।
(२) पद लिखना सिखाना।
(३) वाक्यों की नकल करना सिखाना।

हमारी साधारण शिक्षा पद्धति में हम इस क्रम को उलट देते हैं; अतएव बालकों को भाषा पढ़ाना इतना कठिन और अरोचक बन जाता है कि बहुत से बालक पहले साल में ही पढ़ना-लिखना छोड़ देते हैं। शिक्षकगण बालकों को मार पीट कर अक्षर सिखाते हैं। इस प्रकार का कार्य बालकों को पूर्णतः अर्थहीन जान पड़ता है। बेचारे परवश होकर ही अर्थहीन अक्षरों को लिखते हैं। बालक को कुछ भी पढ़ना-लिखना सिखाने के पूर्व उससे बातचीत करने में अभ्यस्त करना चाहिये। इससे पढ़ने लिखने का कार्य सरल और सुबोध हो जाता है।

बालकों के भाषा शिक्षण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा भाव की होती है, अतएव जितने शीघ्र हो सके उतने शीघ्र बालकों को अर्थ की सहायता से लिखना और पढ़ना सिखाना चाहिए। पूरे अक्षरों का ज्ञान होने के पूर्व ही बालकों को सार्थक शब्द पढ़ना सिखाया जाना चाहिये। इसी तरह उन्हें जितनी जल्दी हो सके सार्थक शब्द ही लिखने का अभ्यास कराना चाहिये। इससे बालक लिखने पढ़ने का

महत्त्व समझ जायँगे और वे स्वयं मन से भाषा सीखने लगेंगे। बालक कविता और चित्र के प्रेमी होते हैं अतएव बालकों को बहुत सी सार्थक सरल कवितायें रटा दी जानी चाहिये। फिर इन्हीं कविताओं को पढ़ाना भी सिखा देना चाहिये। इसी प्रकार के चित्र के सहारे वाक्य पढ़ाना सिखाना चाहिये।

जब बालक सरल वाक्य पढ़ने लग जायँ तो उन्हें सरल कहानियाँ पढ़ने को दी जायँ। कहानियाँ पाँच-सात लकीर की ही हों। गुप-चुप कहानियाँ भी इसके लिये बहुत उपयुक्त होती हैं। गुप-चुप कहानियों के ऊपर तीन-चार शब्द लिखे रहें जिससे बालक को चित्र समझने में सहायता मिले। इन शब्दों के द्वारा बालक अपनी भाषा का भंडार बढ़ा लेगा और पढ़ना भी धीरे-धीरे सीख जायगा।

छब्बीसवाँ प्रकरण

सामाजिकता के लिये शिक्षण

सामाजिकता की मौलिकता

मनुष्य-समाज का आधार उसकी सामाजिक भावनायें हैं। जिस समाज के लोगों में सामाजिक भावनायें जितनी ही प्रबल होती हैं वह समाज उतना ही सुदृढ़ होता है। जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता आत्मचिन्तन और अकेले रहने में ही देखता है वह समाज शिथिल और निर्बल हो जाता है। हिन्दू समाज के निर्बल होने का एक प्रधान कारण यह है कि हमारे समाज के लोगों में सामाजिकता के भाव उतने प्रबल नहीं हैं जितने कि अन्य सभ्य समाजों के लोगों में हैं। हम उठने बैठने, खाने पीने, पूजा पाठ में अकेले ही रहना पसन्द करते हैं। फिर व्यापार करने और सामाजिक तथा राजनैतिक नियम बनाने में तो एकता और भी कठिन हो जाती है। हमारी पुरानी शिक्षा पद्धति भी सामाजिक भावनाओं को प्रबल न कर वैयक्तिक भावनाओं को ही प्रबल करती है। पुराने समय में ऐसा शिक्षा पद्धति का अभाव था। इन अवस्थाओं में सामाजिक भावनायें ऐसी शिथिल नहीं होती थीं जैसी [illegible] के द्वारा होती है।

कितने ही लोगों का [illegible] है कि बालक की घोर शिक्षा [illegible] होती है जब कि [illegible] प्रत्येक बालक की [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]

प्रतिभाशाली बालक की हानि होती है क्योंकि उसे सामान्य बालकों के लिये रुकना पड़ता है और दूसरी ओर मंद-बुद्धि के बालकों की भी हानि होती है। ये बालक सामान्य बालकों के बराबर न चल सकने के कारण जबर्दस्ती आगे घसीटे जाते हैं और इससे उनका आत्म-विश्वास और भी जाता रहता है।

कक्षा-पद्धति के दोषों पर विचार करनेवाले लोग प्रायः उस पद्धति के गुणों को अपनी दृष्टि से ओझल कर जाते हैं। बालक को मानव-समाज में रहना है और उसे इस योग्य बनाना है कि जिससे वह दूसरों को सुखी बनाता हुआ अपने-आप को सुखी बना सके। दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दुःख में अपना दुःख देखनेवाला व्यक्ति ही योग्य नागरिक है। पर इस प्रकार का मनोभाव एकाएक नहीं आ जाता। चरित्र का प्रत्येक गुण अभ्यास द्वारा दृढ़ होता है। जो व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था से ही समाज में रहना सीखता है और सामाजिकता में ही अपनी पूर्णता देखता है वही प्रौढ़ावस्था में समाज-सेवा में जीवन की मौलिकता मानता है। बालक कक्षा में बैठकर अपने आपको उस कक्षा का एक अंग बना लेता है। जो बालक अपने-आपको बाल-समाज का अंग मात्र मानता है वह समाज की पूर्णता में ही अपनी पूर्णता देखता है। वह समाज की वृद्धि चाहता है, उसके नियमों को मानता है और उसके कल्याण के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है।

समाज में आकर व्यक्ति एक नया व्यक्ति बन जाता है। जैसा व्यवहार व्यक्ति का अकेले रहने पर रहता है वैसा व्यवहार उसका समाज में आने पर नहीं रहता। समाज में आने पर मनुष्य का सामाजिक मन काम करने लगता है। जिस काम को वह अकेले ही सोचने पर अनुचित समझता है उसीको वह समाज का अंग बन जाने पर ठीक समझने लगता है। समाज में आने पर साधारण व्यक्ति अपने-

आप में विशेष शक्ति की अनुभूति करने लगता है। जिस प्रकार समाज कभी-कभी व्यक्ति को अपने आदर्श से नीचे गिरा देता है उसी प्रकार वह व्यक्ति को अपने वैयक्तिक जीवन से ऊँचा भी उठा देता है। समाज की आलोचना का डर कितने ही मनुष्यों के व्यवहारों को नैतिक बनाये रहता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने-आप को लोक-प्रिय बनाना चाहता है उसे अपना आचरण उतना ही अधिक पवित्र रखना पड़ता है। इस दृष्टि से बालक का समाज में आना उसके लिये लाभकर है और कक्षा में बैठना और पढ़ना भी उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है।

सामाजिकता के विकास के उपकरण

सामाजिक भावनाओं के विकास के निम्नलिखित सात उपकरण हैं—

(१) व्यक्तियों का देर तक एकत्र रहना,
(२) उनका बार बार मिलना,
(३) व्यक्तियों का समाज के बारे में सोचना,
(४) साथ मिलकर काम करना,
(५) नियम और नेता को मानना,
(६) समाज-संघर्ष, और
(७) सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं का निर्माण।

बालकों में सामाजिकता के विकास में सहायता देने के लिये उपर्युक्त उपकरणों की मौलिकता समझना आवश्यक है।

व्यक्तियों का एकत्र रहना

जब बहुत से व्यक्ति एक जगह एकत्र होते हैं और वे देर तक एक जगह रहते हैं तो उनमें सामाजिक भावों की उत्पत्ति हो जाती है। देर तक एक साथ रहने से व्यक्तियों में आपस में अनेक प्रकार की बातचीत तथा भावों का आदान प्रदान होने लगता है। फिर यदि

कोई घटना ऐसी घटित हो जाती है जिसमें सभी का एक-सा ही स्वार्थ है तो उनमें आपस में भावों का मेल और ऐक्य हो जाता है। जब कई लोग एक ही प्रकार के कार्य के लिये एक साथ मिलते हैं तो उनका आपस में मेल हो जाना और भी सरल होता है। कक्षा में सभी बालक पढ़ने के लिये आते हैं। उन सभी के स्वार्थ एक से होते हैं। *अतएव उनमें सामाजिक भावों का विकसित होना सरल होता है।*

बार-बार मिलना

सामाजिक भावनायें बार-बार मिलने से दृढ़ होती हैं। नियमित रूप से जब किसी समाज के लोग मिला करते हैं तो उनमें एक-दूसरे के *प्रति स्थायी सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। इससे प्रत्येक व्यक्ति में* आत्मविश्वास भी बढ़ जाता है। बालक के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वह अकेला प्राणी नहीं है, उसकी सहायता के लिये दूसरे लोग हैं। समाज का अंग हो जाने के कारण उसकी आत्म-त्याग *की शक्ति बढ़ जाती है। बार-बार सामाजिक संस्थाओं में उपस्थित* रहने से सामाजिकता का अभ्यास मनुष्य को हो जाता है। फिर उसे अकेला रहना पसन्द नहीं होता। बार-बार मिलने से सामाजिक प्रथायें और संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। जिस पाठशाला में बालकों के कक्षा के बाद जितने ही अधिक आपस में मिलने के अवसर होते हैं, उस पाठशाला के बालकों में उतने ही अधिक सामाजिक भाव होते हैं।

समाज के बारे में विचार

सामाजिकता का आधार मनुष्य की सामाजिक भावनायें हैं। जब ये भावनायें जाग्रत हो जाती हैं तो मनुष्य सदा समाज के बारे में ही सोचता है। प्रत्येक सामाजिक भावना वाला व्यक्ति अपने समाज के

-को उतना दृढ़ नहीं बनाती जितना कि बालकों की सहकारिता से उत्पन्न होती है। जिस शिक्षा-प्रणाली में बालकों की शिक्षा सामूहिक खेलों के द्वारा होती है उसमें बालकों में आपस के अवलम्बन का भाव बढ़ता है, इससे बालकों में अपनी महत्ता की पहचान भी होती है। हॉकी फुटबाल, ड्रामा, स्काउटिंग आदि से बालकों में साथ-साथ काम करने की योग्यता आती है। इससे सच्ची सामाजिकता बालकों में विकसित होती है। इनमें एक भी व्यक्ति की अनुपस्थिति काम को बिगाड़ देती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति एक ओर अपना समाज के प्रति कर्तव्य पहचानता है और दूसरी ओर वह अपनी कीमत को भी समझने लगता है।

नियम और नेता को मानना

सामाजिकता के लिए नियमों को मानना परमावश्यक है। नियम ही समाज को सुदृढ़ बनाता है। जहाँ कोई भी व्यक्ति सामाजिक नियम को सरलता से भंग कर देता है वहाँ समाज नहीं ठहर सकता। पर सामाजिक नियम अपने-आप काम नहीं करते। इन्हें काम में लाने के लिये एक संस्था और नेता की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार साधारण मानव-समाज में मुखिया, नेता और नियम होते हैं, उसी प्रकार बालकों के समाज में भी मुखिया, नेता और नियम होते हैं। स्कूल के खेलों में हम बाल-समाज के नेताओं का काम प्रत्यक्ष देखते हैं। जो बालक खेलने में तथा सामान्य व्यवहार में चतुर होते हैं, वे बालकों के नेता बन जाते हैं। कक्षा में साधारणतः बुद्धि में प्रवीण बालक ही नेता का काम करते हैं। पर कभी-कभी दूसरे बालक भी कक्षा की नेतागिरी करते हैं। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालकों के नेताओं की खोज करें और उनकी सहायता से कक्षा की शिक्षा का ... जिस प्रकार सुयोग्य शासन-पद्धति में राजा अथवा राज्य- ... नेता लोगों का दमन न कर उनको राज्य का भार

ह आर उनकी सहायता से देश के लोगों पर राज्य करता है, ी तरह सुयोग्य शिक्षक कक्षा के नेता को मानीटर बना देता है और उसकी सहायता से कक्षा में अनुशासन रखता है। इस प्रकार एक र शिक्षक बालकों में अपने नेता की बात मानने की आदत डालता और दूसरी ओर समाज के नेताओं को तैयार करता है। समाज नेता को दूसरे लोगों से बुद्धि में अधिक प्रवीण होना मात्र पर्याप्त ीं है, उसमें अधिक त्यागबुद्धि होना भी आवश्यक है। इसका भ्यास जब बालक अपनी बाल्यावस्था से ही करता है तभी वह ागे चलकर समाज का योग्य नेता बनता है।

समाज-संघर्ष

सामाजिक भावनाओं के विकास के लिये एक ही प्रकार के समाजों सहयोग के काम होना अथवा संघर्ष होना आवश्यक है। सहयोग र संघर्ष समाज विकास के दो अनिवार्य साधन हैं। इससे समाज लोगों में एकता के भाव दृढ़ होते हैं। विभिन्न स्कूलों की खिलाड़ ियों में प्रतियोगिता उस स्कूल के बालकों में सामाजिक भावों को बनाती है। इसी प्रकार कक्षा कक्षाओं में प्रतियोगिता बालकों में नी कक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है और उनके अन्दर माजिकता लाती है। स्काउटिंग के मेलों में भी अनेक प्रकार की योगितायें होती हैं। इनकी भी सामाजिक भावनाओं को विकसित ने में बड़ी उपयोगिता है।

सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं का निर्माण

समाज की आत्मा मनुष्य की सामाजिक भावनायें हैं और उसका . अर्थात् शरीर सामाजिक संस्थायें और प्रथायें है। इनके बालकों के मन में आदर के भाव उत्पन्न करने से समाज स्थायी है। बालकों के मन में एक ओर बाल समाज की संस्थाओं के

प्रति आदर के भावों का उत्पन्न करना आवश्यक है; और दूसरी ओर समाज की सामान्य संस्थाओं के प्रति भी आदर का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। बालक ही आगे चलकर समाज के नागरिक और नेता होते हैं। अतएव इनके जैसे विचार और भावनायें सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं की ओर होते हैं वैसा ही समाज सुदृढ़ अथवा शिथिल होता है।